प्रकाश-भाषा-टीका सहिता

टीकाकार :
श्रीगणेशदत्त पाठक

प्रकाशक :
श्री ठाकुर प्रसाद पुस्तक भण्डार
कचौड़ीगली, वाराणसी-२२१००१

॥ श्रीः ॥

मनुस्मृतिः

प्रकाश-भाषा-टीका-सहिता

•

टीकाकार :

श्रीगणेशदत्त पाठक

•

प्रकाशक :

श्री ठाकुर प्रसाद पुस्तक भण्डार

कचौड़ीगली, वाराणसी-२२१००१

सन् : २००२ ई.] [मूल्य : १५०/-

भूमिका

धार्मिक जगत् में प्रायः सभी प्राणी इस निर्णय को मानते हैं, कि पूर्व जन्मार्जित पुण्य के प्रभाव से ही यह जीव अनेक योनियों को भोगता हुआ दुर्लभ मनुष्य योनि में जन्म लेता है, किन्तु इस मनुष्य योनि में जन्म लेकर भी अधिकतर जीव जन्मान्तरीय अन्य योनियों के जन्मोत्पन्न दुःखों का अनुभव करता है–ऐसा ऋषियों ने कहा है। इसका कारण पूर्वजन्मार्जित पुण्य और पाप को ही माना है। किन्तु इस पुण्यादि कर्मों को बताने वाला वेद ही है और वेद सभी प्राणियों को दुर्ज्ञेय होने के कारण तद्रीत्यानुसार स्मृति को ही प्राधान्य है ऐसा वेदज्ञ लोगों का निर्णय है। स्मृतियों में भी मनूक्त स्मृति की ही प्रधानता है।

सम्प्रति धार्मिक जनता मनूक्त स्मृति के अनुसार अपने-अपने धर्मानुष्ठानों को करती है यह निर्विवाद है। यद्यपि इस ग्रन्थ की अनेक टीकायें हैं तथापि संस्कृत में कुल्लूक भट्टजी की ही टीका की प्रधानता है। सर्व साधारण के ज्ञान के लिये यह आवश्यक प्रतीत होता था कि एक सरल भाषा टीका भी इस ग्रन्थ की हो, यह ध्यान में रखते हुए मैंने सरल भाषा में इस ग्रन्थ के मूल का अनुवाद किया है। धर्मशास्त्र का विषय गहन होते हुए भी मैंने इस ग्रन्थ का अनुवाद करने का प्रयत्न किया है। यदि कहीं मेरी अल्पबुद्धि से कोई त्रुटि रह गई हो तो उसे विचारशील पुरुष क्षमा करेंगे।

माघ कृष्ण ८, सोमवार
सम्वत् २००४

ज्यौतिषाचार्य
श्रीगणेशदत्त पाठक

मनुसंहितास्थ विषयानुक्रमणिका

तृतीयोऽध्यायः

चतुर्थोऽध्यायः

श्लोकाः	प्रकरणम्	पृष्ठाङ्काः
१५२	पूर्वाह्णे स्नान-पूजादि	१५०
१५३	पर्वसु देवादिदर्शनम्	१५१
१५४	आगत-वृद्धादि सत्कारे	१५१
१५५	श्रुतिस्मृत्युदिताचारः कार्यः	१५१
१५६	आचार-फलम्	१५१
१५७	दुराचार-निन्दा	१५१
१५८	आचार-प्रशंसा	१५१
१५९	पारवश कर्म-त्यागदौ	१५१
१६१	चित्तपारतोषिकं कार्यम्	१५२
१६२	आर्चार्यादिहिंसानिषेधः	१५२
१६३	नास्तिक्यादि-निषेधः	१५२
१६४	परताडनादि-निषेधः	१५२
१६५	ब्राह्मण-ताडनेद्योगे	१५२
१६६	ब्राह्मणताडने	१५२
१६७	ब्राह्मणस्य शोणितोत्पादे	१५३
१७०	अधार्मिकादीनां न सुखम्	१५३
१७१	अधर्मे मनो न निदध्यात्	१५३
१७२	शनैरधर्मफलोत्पत्तिः	१५३
१७५	शिष्यादि शासने	१५४
१७६	अर्थकाम-त्यागे	१५४
१७७	पाणिपादचापल्यनिषेधः	१५४
१७८	कुलमार्ग-गमनम्	१५४
१७९	ऋत्विगादिभिर्वादं न कुर्यात्	१५४
१८०	एतैर्विवादोपेक्षायां फलमाह	१५४
१८६	प्रतिग्रहनिन्दा	१५५
१८७	विधिमज्ञात्वाप्रतिग्रहो न कार्यः	१५६
१८८	मूर्खस्वर्णादिप्रतिग्रहे	१५६
१९२	वैडालव्रतिकादौ दाननिषेधः	१५६
१९५	वैडालव्रतिक-लक्षणम्	१५७
१९६	बकव्रतिक-लक्षणम्	१५७
१९७	तयोर्निन्दा	१५७
१९८	प्रायश्चित्ते वञ्चना न कार्या	१५७
१९९	छलेन व्रताचरणे	१५७
२००	छलेन कमण्डल्वादि धारणे	१५७
२०१	परकृत-पुष्करिण्यादि स्नान-निषेधः	१५८
२०२	अदत्तयानादिभोगनिषेधः	१५८
२०३	नद्यादिषु स्नानं कर्तव्यम्	१५८
२०४	यमनियमौ	१५८
२०५	अश्रोत्रिययज्ञादिभोजननिषेधः	१५८
२०७	श्राद्धाद्यन्नं केशादिसंसृष्टं न भुञ्जीत	१५९
२०९	रजस्वलास्पृष्टाद्यन्ननिषेधगवाघ्रात गणिकाद्यन्नं च निषेधः	१५९
२१०	अभोज्यानिस्तेनाद्यान्नानि	१५९
२१८	राजाद्यन्नभोजने मन्द फलम्	१६१
२२२	तेषामन्नभोजने प्रायश्चित्तम्	१६१
२२३	शूद्रपक्वान्ननिषेधः	१६१
२२४	कदर्यश्रोत्रिवार्धुषिकान्ने	१६१
२२५	श्रद्धादत्तवदान्यवार्धुषिकान्ने	१६२
२२६	श्रद्धयायागादिकं कुर्यात्	१६२
२२७	श्रद्धादान-फलम्	१६२
२२९	जलभूमिदानादिफलम्	१६२
२३३	वेददान-प्रशंसा	१६३
२३४	काम्यदाने	१६३
२३६	द्विजनिन्दादानकीर्तना-दिनिषेधः	१६३
२३७	अनृतादिफलम्	१६३
२३८	शनैर्धर्ममनुतिष्ठेत्	१६४

इति ।

।।श्रीः।।

मनुस्मृतिः

भाषा-टीका सहिता

प्रथमोऽध्यायः (१)

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन्॥१॥

सुख से एकाग्रचित्त बैठे हुए मनुजी के सन्मुख उपस्थित होकर यथाक्रम से पूजन करके मुनिगण बोले—

भगवन्सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः।
अन्तरप्रभावाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि॥२॥

हे भगवन् ! सभी वर्णों तथा संकीर्ण जातियों के पूर्व के अनुसार जैसी-जैसी धर्म-व्यवस्था हैं, उसे आप ही हम लोगों से कह सकते हैं।

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयम्भुवः।
अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो॥३॥

हे प्रभो! इस स्वयं उत्पन्न होने वाले अचिन्त्य, अप्रमेय सम्पूर्ण ब्रह्म के कार्य के तत्त्वार्थ को जानने वाले आप ही हैं।

स तैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः।
प्रत्युवाचार्च्य तान्सर्वान्महर्षीञ्छ्रूयतामिति॥४॥

महर्षियों से इस प्रकार पूछे जाने पर अत्यन्त तेजस्वी मनुजी ने मुनियों का पूजन करके कहा-सुनिये।

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥५॥

पहले यह संसार तम (अंधकाररूप) प्रकृति से घिरा था, इससे प्रत्यक्ष ज्ञात नहीं होता था, अनुमान करने के योग्य कोई रूप नहीं था जिससे तर्क द्वारा लक्षण स्थिर कर सकें, सर्वत्र सोते हुए के अनुसार अज्ञात स्थिति में था।

ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥६॥

इसके बाद प्रलयावस्था के नाश करने वाले लक्षण सृष्टि के सामर्थ्य से युक्त अव्यक्त स्वयंभू भगवान् महाभूतादि (पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु) पंचतत्त्वों को प्रकाश करते हुये व्यक्त हुये।

योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एवं स्वयंमुद्बभौ ॥७॥

जो वाह्य इन्द्रियों के ज्ञान से परे, सूक्ष्म, अव्यक्त, सनातन, सभी प्राणियों में व्यापक और अचिन्त्य रूप भगवान् स्वयं उत्पन्न हुये।

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जाऽऽदौ तासु बीजमवासृजत् ॥८॥

वह (परमात्मा) अनेक प्राणियों के उत्पन्न करने की इच्छा से ध्यान कर अपने शरीर से जल उत्पन्न कर उसमें बीज उत्पन्न किया।

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥९॥

वह बीज सूर्य के समान तेजस्वी सुवर्ण का अंडा हो गया। उसमें से सभी लोकों के उत्पन्न करने वाले स्वयं ब्रह्माजी उत्पन्न हुये।

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥१०॥

नर (भगवान्) से जल की उत्पत्ति हुई है इसलिये जल को (नार) कहते हैं। वह (नार) जिसका पहले अयन (स्थान) हुआ है। इसीलिये उसका नाम नारायण हुआ।

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कथ्यते ॥११॥

सम्पूर्ण सृष्टि के कारण, अव्यक्त, नित्य, सत्-असत् स्वरूप जो पुरुष उससे उत्पन्न हुआ उसे संसार में (ब्रह्मा) नाम से कहते हैं।

तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् ।
स्वयमेवाऽऽत्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद् द्विधा ॥१२॥

अपने (दिनादि[1] के मान से) वर्ष पर्यन्त ब्रह्मा उस अंडे में रहकर, स्वयं अपने ही ध्यान से उस अंडे का दो खंड कर दिया।

---

१. ब्रह्मा के दिनादि मान मनुष्य के मान से भिन्न हैं।

ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे ।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानञ्च शाश्वतम् ॥ १३ ॥

ब्रह्माजी ने दोनों खंडों से क्रमशः आकाश, पृथ्वी और मध्य में स्वर्ग, आठों दिशायें और आठ समुद्र जल के स्थान बनाये।

उद्वबर्हाऽऽत्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम् ।
मनसश्चाप्यहङ्कारमभिमन्तारमीश्वरम् ॥ १४ ॥

फिर सत् असत् स्वरूप आत्मा से मन और ईश्वर से भी अभिमान करने वाले अहंकार तत्त्व को उत्पन्न किये।

महान्तमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च ।
विषयाणां ग्रहीतॄणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च ॥ १५ ॥

फिर आत्म स्वरूप के ज्ञानार्थ बुद्धि, तीनों गुण (सत्त्व, रज, तम) और विषयग्राही पञ्चेन्द्रियों को बनाया।

तेषां त्ववयवान्सूक्ष्मान् षण्णामप्यमितौजसाम् ।
सन्निवेश्याऽऽत्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे ॥ १६ ॥

फिर अत्यन्त तेजस्वी इन छहों तत्त्वों के सूक्ष्म अवयवों को उन्हीं के सूक्ष्म विकारों में न्यास करके सभी प्राणियों की रचना किये।

यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट् ।
तस्माच्छरीरत्मियाहुस्तस्य मूर्तिं मनीषिणः ॥ १७ ॥

इस (ब्रह्मा) मूर्ति को ये छहों सूक्ष्म अवयव आश्रय करते हैं इसी कारण से महात्मा लोग इस ब्रह्ममूर्ति को शरीर कहते हैं।

तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः ।
मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्ययम् ॥ १८ ॥

ब्रह्म में आकाशादि महाभूत अपने-अपने कर्मों के साथ उत्पन्न होते हैं। उस अहंकार रूप ब्रह्म में सभी प्राणियों का निमित्त और अनैश्वर मन अपने सूक्ष्म रूपों के साथ उत्पन्न होता है।

तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम् ।
सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः सम्भवत्यव्यायद्व्ययम् ॥ १९ ॥

इन परम तेजस्वी (महत्तत्त्व, अहंकार और पंचतन्मात्रा) सात तत्त्वों के शरीर बनने वाले भागों से यह नश्वर संसार अव्यय से उत्पन्न होता है।

आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः ।
यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद् गुणः स्मृतः ॥ २० ॥

इन पंच महाभूतों (आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी) के पाँचों गुण क्रमशः उत्तरोत्तर एकाधिक होता है (अर्थात् आकाश में एक शब्द गुण, वायु में शब्द और स्पर्श, इसी प्रकार रूप, रस, गन्ध, उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं)। इस प्रकार पंचभूतों के संख्यानुसार ही उनमें गुण की संख्या भी उतनी ही अधिक होती है।

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् -पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवाऽऽदौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥ २१ ॥

सृष्टि के आदि में ही ईश्वर ने उन सबके नाम और कर्म वेद के अनुसार ही नियत कर उनकी अलग-अलग संख्यायें बना दीं।

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः ।
साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम् ॥ २२ ॥

उस ब्रह्मा ने देवताओं और सभी जीवों की यथा सूक्ष्म साध्यगणों की सृष्टि की और (ज्योतिष्टोमादि) सनातन यज्ञों को भी बनाये।

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम् ॥ २३ ॥

ब्रह्मा ने यज्ञादि करने के लिये अग्नि, वायु और सूर्य से सनातन (नित्य) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद को दोहन कर प्रकट किया।

कालं कालविभक्तींश्च नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा ।
सरितः सागराच्छैलान्समानि विषमाणि च ॥ २४ ॥

इसके बाद समय के विभाग (दिन मासादि) नक्षत्र, ग्रह, नदी, समुद्र, पर्वत, समतल भूमि और विषम भूमि की रचना की।

तपो वाचं रतिं चैव कामं च क्रोधमेव च ।
सृष्टिं ससर्ज चैवेमां स्त्रष्टुमिच्छन्निमाः प्रजाः ॥ २५ ॥

पूर्वोक्त देवादिकों को बनाने की इच्छा से तप (पूजा इत्यादि), वाणी, चित्त का परितोष इच्छा, चित्त का विकार (क्रोध) को उत्पन्न करके सृष्टि की रचना की।

कर्मणां च विवेकार्थं धर्माधर्मौ व्यवेचयत् ।
द्वन्द्वैरयोजयच्चेमाः सुखदुःखादिभिः प्रजाः ॥ २६ ॥

धर्म (यज्ञादि), अधर्म (ब्रह्महत्यादि) इनके कर्त्तव्याकर्तव्य के विचार के लिए धर्म और अधर्म को और दोनों के फल क्रम से सुख, दुःख को पूजा के साथ ही जोड़ दिया।

अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः ।
ताभिः सार्धमिदं सर्वं सम्भवत्यनुपूर्वशः ॥ २७॥

पंच महाभूत की नष्ट होने वाली पंच तन्मात्राओं (रूप, रस, गंध, घ्राण, स्पर्श) के साथ ही यह सारा संसार (सूक्ष्म से स्थूल, स्थूल से स्थूलतर) उत्पन्न होता है।

यं तु कर्मणि यस्मिन् स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः ।
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः ॥ २८॥

पहले ब्रह्मा ने जिस जीव की जिस कार्य में नियुक्ति किया, वह बारम्बार उत्पन्न होकर भी अपने पूर्व ही कर्म को करने लगा।

हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते ।
यद्यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत् ॥ २९॥

हिंसा और अहिंसा, कोमल और क्रूर, धर्म और अधर्म, सत्य और असत्य इसमें से जिसको जिस कार्य में नियुक्त किया वह उसमें प्रवेश करने लगा।

यथर्तुलिङ्गान्यृतवः स्वयमेवर्तुपर्यये ।
स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ॥ ३०॥

जिस प्रकार ऋतु के अवसान में दूसरी ऋतु अपने विशेष चिह्न को धारण करती है उसी प्रकार जीव स्वयं अपने-अपने कर्मों को जन्म से ही प्राप्त करते हैं।

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः ।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्त्तयत् ॥ ३१॥

संसार के वृद्धि के लिए मुख, बाहू, जंघा और चरण से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को उत्पन्न किया।

द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥ ३२॥

ब्रह्मा ने अपने शरीर के दो भाग करके आधे से पुरुष और आधे से स्त्री बनाकर उसमें विराट् पुरुष की (मैथुन कर्म से) सृष्टि की।

तपस्तप्त्वाऽसृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट् ।
तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्त्रष्टारं द्विजसत्तमाः ॥ ३३ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ! उस विराट् पुरुष ने स्वयं तपस्या करके जिसे (इस सम्पूर्ण संसार का बनाने वाला) उत्पन्न किया वह मैं ही हूँ।

अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् ।
पतीन् प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश ॥ ३४ ॥

मैंने सृष्टि की इच्छा से अत्यन्त कठिन तपस्या करके प्रजाओं के पति दश-महर्षि को उत्पन्न किया।

मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥ ३५ ॥

मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वशिष्ठ, भृगु और नारद ये दश महर्षियों के नाम हैं।

एते मनूंस्तु सप्तान्यानसृजन्भूरितेजसः ।
देवान्देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः ॥ ३६ ॥

ये (पूर्वोक्त) अत्यन्त तेजस्वी ऋषियों ने अन्य सात मनुओं को, देवताओं को और उनके रहने के स्थानों और महातेजस्वी ऋषियों को बनाया।

यक्षरक्षः - पिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान् ।
नागान्सर्पान्सुपर्णांश्च पितॄणां च पृथग्गणान् ॥ ३७ ॥

यक्ष, राक्षस, पिशाच, गंधर्व, अप्सरा, असुर, नाग-सर्प, सुपर्ण और पितरों के अलग-अलग गणों को बनाया।

विद्युतोऽशनिमेघांश्च रोहितेन्द्रधनूंषि च ।
उल्कानिर्घातकेतूंश्च ज्योतींष्युच्चावचानि च ॥ ३८ ॥

विद्युत् (बिजली), वज्र, मेघ, रोहित, इन्द्र धनुष, उल्का, निर्घात (बादलों की घरघराहट), केतु (तारा) और बड़े-छोटे नक्षत्रों को उत्पन्न किया।

किन्नरान्वानरान्मत्स्यान्विविधांश्च विहङ्गमान् ।
पशून्मृगान्मनुष्यांश्च व्यालांश्चोभयतोदतः ॥ ३९ ॥

किन्नरों, बानरों, और अनेक प्रकार के मत्स्य तथा पक्षियाँ, पशु, मृगों को, मनुष्य और दोनों (ऊपर-नीचे) दाँतवाले सिंहादिकों को।

कृमिकीट - पतङ्गाश्च यूकामक्षिक - मत्कुणम् ।
सर्वं च दंशमशकं स्थावरं च पृथग्विधम् ॥ ४० ॥

कृमि (कीड़े), कीट (मकोड़े), पतंग, जोंक, मक्खी, मच्छर और अनेक प्रकार के स्थावर जीवों को उत्पन्न किया।

एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान्महात्मभिः ।
यथाकर्म तपोयोगात्सृष्टं स्थावरजङ्गमम् ॥४१॥

मेरी आज्ञा से महर्षियों ने अपने तपोबल से कर्मानुसार स्थावर और जङ्गम प्राणियों की सृष्टि की।

येषां तु यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्तितम् ।
तत्तथा वोऽभिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि ॥४२॥

सृष्टि में जिस प्राणी का जैसा कर्म कहा गया है और जन्म के क्रम योग को आपसे कहूँगा।

पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः ।
रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः ॥४३॥

ऊपर-नीचे दाँतवाले पशु, मृग और हिंसा करने वाले जीव, राक्षस, पिशाच और मनुष्य ये जरायुज (गर्भ से उत्पन्न होने वाले) हैं।

अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः ।
यानि चैवं प्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च ॥४४॥

पक्षी, सर्प, मगर, मछली, कछुआ, इस प्रकार से जितने स्थल और जल के जीव हैं वे सभी अंडज (अंड से) उत्पन्न होने वाले हैं।

स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम् ।
ऊष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत्किञ्चिदीदृशम् ॥४५॥

डंस, मच्छर, जोक, मक्खी, खटमल (उडुस) और अन्य जो इस प्रकार के जीव जिनकी उत्पत्ति गर्मी से होती है, उन सभी को स्वेदज कहते हैं।

उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः ।
ओषध्यः फलपाकान्ताः बहुपुष्पफलोपगाः ॥४६॥

जो जीव और शाखा से उत्पन्न होने वाले पृथ्वी पर के बीज हैं, वे सभी उद्भिज कहे जाते हैं और जो फल पकने पर सूख जाते हैं। और जो बहुत फूल और फल वाले वृक्ष हैं उन्हें औषधि कहते हैं।

अपुष्पा फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः ।
पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः ॥४७॥

जो बिना फूल के ही फलते हैं वे वनस्पति कहलाते हैं और जो फूलते और फलते हैं उन्हें वृक्ष कहते हैं।

गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः ।
बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्य एव च ॥४८॥

अनेक प्रकार के गुच्छे, गुल्म और तृण तथा फैलने वाली लतायें बीज और शाखा से उत्पन्न होते हैं।

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना ।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःख - समन्विताः ॥४९॥

अनेक प्रकार के पूर्वजन्म के कर्मों के कारण ये तमोगुण से घिरे रहते हैं, इनके अन्दर चेतना शक्ति है और सुख-दुःख का ज्ञान भी रहता है।

एतदन्तास्तु गतयो ब्रह्माद्याः समुदाहृताः ।
घोरेऽस्मिन्भूतसंसारे नित्यं सततयायिनि ॥५०॥

इस घोर अचिन्त्य चराचर संसार में ब्रह्मा से लेकर यहाँ तक के चरादि पदार्थों की उत्पत्ति कहा गया।

एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं मां चाचिन्त्यपराक्रमः ।
आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन् ॥५१॥

वह अचिन्त्य पराक्रम (सर्वशक्तिमान्) इस सारे जगत् और मुझको उत्पन्न कर इस सृष्टिकाल को प्रलय काल से नष्ट करता हुआ अपने ही रूप में अन्तर्ध्यान हो जाता है।

यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत् ।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदासर्वं निमीलति ॥५२॥

जब वह देव जागता है तब यह संसार जागता है और जब शान्त चित्त से होता है तब सबका लय होता है।

तस्मिन्स्वपिति सुस्थे तु कर्मात्मानः शरीरिणः ।
स्वकर्मभ्यो निवर्तन्ते मनश्च ग्लानिमृच्छति ॥५३॥

उसके स्वस्थ होकर सोने पर कर्मानुसार शरीर धारण करने वाले जीव अपने कर्मों से निवृत्त होते हैं और उनका मन भी वृत्ति रहित हो जाता है।

युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन्महात्मनि ।
तदायं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृतः ॥५४॥

जब उस परमात्मा में एक ही साथ सभी जीवों का लय हो जाता है तब यह सभी जीवों की आत्मा निवृत्त होकर सुख से सोती है।

तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः ।
न च स्वं कुरुते कर्म तदोत्क्रमति मूर्तितः ॥५५॥

यह जीव तम (ज्ञान की निवृत्ति) का आश्रय लेकर इन्द्रियों के साथ रहता है, जब अपने कर्म को नहीं करता है तब शरीर (पूर्व शरीर) निकल जाता है।

यदाऽणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थास्नु चरिष्णु च ।
समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्तिं विमुञ्चति ॥५६॥

जब यह अणुमात्रिक होकर स्थावर जंगम के बीज में प्रवेश करता है तब स्थूल रूप से शरीर को धारण करता है।

एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम् ।
सञ्जीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः ॥५७॥

इस प्रकार वह अविनाशी इस संपूर्ण चराचर संसार को जाग्रत और स्वप्न दोनों अवस्थाओं द्वारा बार-बार उत्पन्न और नाश करता है।

इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ मामेव स्वयमादितः ।
विधिवद् ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ॥५८॥

इस शास्त्र को बनाकर ब्रह्मा ने पहले मुझे विधि पूर्वक बताया। इसके बाद मैंने ही मरीचि आदि महर्षियों को बताया।

एतद् वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः ।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ॥५९॥

इस शास्त्र को यह भृगुऋषि संपूर्ण आपसे कहेंगे, क्योंकि इन्होंने संपूर्ण इस शास्त्र को मुझसे सीखा है।

ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः ।
तानब्रवीदृषीन्सर्वान्प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥६०॥

मनु जी से इस प्रकार कहे जाने पर महर्षि भृगुजी प्रसन्न चित्त होकर ऋषियों से बोले—सुनिये।

स्वायम्भूवस्यास्य मनोः षड् वंश्या मनवोऽपरे ।
सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वा महात्मानो महौजसः ॥६१॥

इस स्वायंभुव मनु के वंश में छः मनु हुये वे महातेजस्वी महात्माओं ने अपनी-अपनी प्रजा को उत्पन्न किया।

स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा ।
चाक्षुषश्च महातेजा विविस्वत्सुत एवं च ॥ ६ २ ॥

स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष और महातेजस्वी सूर्य के पुत्र वैवस्त छठें मनु हुए।

स्वायम्भुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरितेजसः ।
स्वे स्वेऽन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्याऽऽपुश्चराचरम् ॥ ६ ३ ॥

ये महातेजस्वी स्वायंभुवादि सात मनुओं ने अपने-अपने समय में इन सब चराचर जगत् को उत्पन्न किया।

निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कला ।
त्रिंशत्कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः ॥ ६ ४ ॥

अठारह निमेष (पलक गिरने के समय को निमेष कहते हैं) एक काष्ठा, तीस काष्ठा का एक कला, तीस कला का एक मुहूर्त और तीस मुहूर्त का एक अहोरात्र होता है।

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके ।
रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः ॥ ६ ५ ॥

सूर्य-मनुष्य और देवताओं के अहोरात्र (दिन-रात) का विभाग करता है। प्राणियों के सोने के लिये रात और काम करने के लिये दिन है।

पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः ।
कर्म चेष्टास्त्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी ॥ ६ ६ ॥

मनुष्यों के मास के बराबर पितरों का एक रात-दिन (अहोरात्र) होता है, मास में दो पक्ष होते हैं, मनुष्यों का कृष्णपक्ष, पितरों के कर्म का दिन और शुक्लपक्ष पितरों के सोने के लिये रात होती है।

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः ।
अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम् ॥ ६ ७ ॥

मनुष्यों के एक वर्ष के तुल्य देवताओं का अहोरात्र होता है उत्तरायण (मकर से ६ राशि पर्यन्त अर्थात् मिथुन तक सूर्य के रहते) दिन और दक्षिणायन (कर्क से मकर तक सूर्य के रहते) में देवताओं की रात्रि होती है।

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः ।
एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥ ६ ८ ॥

ब्रह्मा के रात-दिन का एक-एक युग का जो प्रमाण है वह क्रमशः इस प्रकार है।

[१]चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम्।
तस्य तावच्छती सन्ध्या संध्यांशश्च तथाविधः ॥६९॥

चार हजार वर्षों का सत्युग होता है, युगारंभ और युगान्त में क्रम से चार- चार सौ वर्ष की संध्या और संध्यांश होते हैं।

इतरेषु ससंध्येषु ससंध्यांशेषु च त्रिषु।
एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥७०॥

अन्य तीनों युगों का मान क्रमशः एक से दूसरे के वर्ष संख्या में एक-एक घटाने से होता है और उतने ही (युग के वर्ष के संख्या के प्रमाण) सौ वर्ष उनके संध्या और संध्यांश होते हैं। जैसे तीन हजार वर्ष का त्रेता और तीन सौ वर्ष का संध्या-संध्याश दो हजार वर्ष का द्वापर और सौ वर्ष का संध्या-संध्यांश और एक हजार वर्ष का कलियुग और एक वर्ष का संध्या-संध्यांश होता है।

यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्।
एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥७१॥

पहले जो चारों युगों का प्रमाण कहा गया है इन सबको मिलने से संध्या-संध्यांश के सहित बारह हजार वर्ष हुए इसी को महायुग कहते हैं और यही देवताओं का युग है।

दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया।
[२]ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च ॥७२॥

देवताओं के एक हजार युगों का ब्रह्मा का एक दिन और एक हजार युगों की रात होती है। और इतने ही देवताओं का एक दिन या दिव्य दिन होता है।

दोनों संध्याओं सहित	दिव्यवर्षों में	सौरवर्षों में
सत्युग का मान	४८००	१७२८०००
त्रेतायुग का	३६००	१२९६०००
द्वापरयुग का मान	२४००	८६४०००
कलियुग का मान	१२००	४३२०००
कृत+त्रेता+द्वापर+कलि=महायुग=	१२०००	= ४३२००००

१. एक संक्रांति से दूसरी सूर्य के संक्रांति तक के समय को सौरमास कहते हैं। १२ सौर मासों का एक सौर वर्ष होता है।

२. १००० महायुग = १२००००० दिव्यवर्ष अथवा ४३२००००००० सौर वर्ष का ब्रह्मा का एक अहोरात्र होता है।

तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः ।
रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥७३॥

जो एक हजार युग प्रमाण ब्रह्मा के पवित्र दिन और उतने ही युग प्रमाण रात्रिमान को जानता है वही वास्तव में रात-दिन को जानता है।

तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते ।
प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम् ॥७४॥

वह सोये हुए ब्रह्माजी अपने अहोरात्र के अन्त में जागकर सत्, असत् स्वरूप को मन को सृष्टि के रचना में लगाते हैं।

मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया ।
आकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः ॥७५॥

सृष्टि करने की इच्छा से मन सृष्टि को करता है और उससे आकाश उत्पन्न होता है और उसको गुण शब्द कहा जाता है।

आकाशात्तु विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुचिः ।
बलवाञ्जायते वायुः स वै स्पर्शगुणो मतः ॥७६॥

विकार युक्त आकाश से सब प्रकार के गन्ध को बहन करने वाले पवित्र वायु की उत्पत्ति होती है जिसका गुण स्पर्श होता है।

वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णु तमोनुदम् ।
ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते ॥७७॥

विकारवान् वायु से अन्धकार को नाश करने वाला प्रकाश से युक्त तेज उत्पन्न होता है जिसका गुण रूप है।

ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः ।
अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः ॥७८॥

विकारवान् तेज से जल उत्पन्न होता है। जिसका गुण रस है, जल से गंध गुणवाली पृथ्वी उत्पन्न होती है। इसी प्रकार आदि से सृष्टि का क्रम होता है।

यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम् ।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥७९॥

पहले जो १२ हजार वर्ष का देवताओं का युग बताया गया है। उसके इकहत्तर गुने (८५२०००) वर्ष का एक मन्वन्तर कहा गया है। एक मन्वन्तर तक एक ही मनु के हाथ में सृष्टिसञ्चालन का भार रहता है।

मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च।
क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥८०॥

मन्वन्तर और उत्पत्ति-प्रलय असंख्य है। (परमधाम में रहने वाला) परमेष्ठी (परमात्मा) वह सब खेल की तरह बार-बार करता रहता है।

चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे।
नाधर्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यान् प्रति वर्तते ॥८१॥

सतयुग में धर्म चारों चरणों से (अर्थात् सर्वाङ्गपूर्ण) रहता है। सत्य रहता है, कोई मनुष्य किसी के साथ अधर्म का व्यवहार नहीं करता।

इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः।
चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः ॥८२॥

अन्य युगों में अधर्म से धन-विद्यादि के अर्जन द्वारा धर्म का बल घटता है। चोरी, मिथ्या और कपट से क्रमशः धर्म के एक चरण का ह्रास होता है। (अभिप्राय यह कि त्रेता में धर्म के तीन चरण, द्वापर में दो चरण और कलियुग में धर्म का एक ही चरण बचा रहता है।)

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः।
कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः ॥८३॥

सतयुग में लोग धर्माचण से सब मनोरथ सिद्ध करते हुए निरोग होकर चार सौ वर्ष तक जीते हैं। त्रेता, द्वापर और कलियुग में धर्म का ह्रास होने से क्रमशः एक-एक सौ वर्ष आयु घटती है।

वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिषश्चैव कर्मणाम्।
फलन्त्यनुयुगं लोके प्रभावाश्च शरीरिणाम् ॥८४॥

वेदोक्त मनुष्यों की आयु (शतायुर्वे पुरुषः) कर्मों के फल और (ब्राह्मणादिकों के) शाप-अनुग्रह आदि के प्रभाव संसार में प्राणियों को युगधर्मानुकूल ही प्राप्त होते हैं।

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः ॥८५॥

सतयुग में अन्य धर्म, त्रेता में अन्य धर्म, द्वापर में अन्य धर्म और कलियुग में अन्य धर्म होता है, अर्थात् युगों के ह्रास क्रम से उनके युग धर्म में भी ह्रास होता जाता है।

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥८६॥

सतयुग में तपस्या, त्रेता में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ और कलियुग में दान प्रधान धर्म माना गया है।

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः ।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत् ॥८७॥

महातेजस्वी ब्रह्माजी ने इस सम्पूर्ण विश्व के रक्षार्थ मुख, बाहू, जंघा और पाँव से उत्पन्न होने वाले जीवों के अलग-अलग कर्मों की कल्पना की है।

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥८८॥

ब्राह्मणों के लिये पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना, दान लेना, ये छः कर्म निश्चित किये हैं।

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥८९॥

क्षत्रियों के लिए संक्षेप से प्रजाओं की रक्षा, दान, यज्ञ करना, पढ़ना, विषयों (गीत-नृत्यादि) में आसक्त न होना ये पाँच कर्म निश्चित किए हैं।

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥९०॥

पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, रोजगार, सूद पर रुपया देना और कृषि करना, ये वैश्यों के कर्म हैं।

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥९१॥

ब्रह्मा ने उपर्युक्त तीनों वर्णों का गुणानुवाद करते हुए सेवा करना यह एक ही कर्म शूद्रों के लिए निश्चित किया है।

उर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः ।
तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयंमुवा ॥९२॥

नाभि से ऊपर पुरुष अत्यन्त पवित्र माना गया है, उससे भी (सभी अंगों से) पवित्र ब्रह्माजी ने मुख को ही माना है।

उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद् ब्राह्मणश्चैव धारणात् ।
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः ॥९३॥

उत्तमाङ्ग (मुख) से उत्पन्न होनें और वेद को धारण करने के कारण इस सम्पूर्ण संसार का स्वामी धर्म से ब्राह्मण ही हैं।

तं हि स्वयंभूः स्वादास्यात्तपस्तप्त्वादितोऽसृजत् ।
हव्यकव्याभिवाह्याय सर्वस्यास्य च गुप्तये ॥९४॥

ब्रह्मा ने तपस्या करके सबसे पहले देवता और पितरों को हव्य-कव्य पहुँचाने के लिये और सम्पूर्ण संसार की रक्षा करने के हेतु अपने मुख से ब्राह्मण को उत्पन्न किया।

यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः ।
कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं ततः ॥९५॥

जिस ब्राह्मण के मुख से देवगण हव्य और पितृगण कव्य खाते हैं उससे कौन प्राणी श्रेष्ठ हो सकता है ?

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥९६॥

भूतों (स्थावर, जंगम रूप पदार्थों) में (कीटादि) श्रेष्ठ हैं, प्राणियों में बुद्धि से व्यवहार करने वाले पशु आदि श्रेष्ठ हैं, बुद्धि रखने वाले जीवों में मनुष्य श्रेष्ठ हैं और मनुष्यों में ब्राह्मण (यज्ञ-यागादि कर्मों से श्रेष्ठ होते हैं।)

ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥९७॥

ब्राह्मणों में विद्वान्, विद्वानों में कृत बुद्धि (शास्त्रोक्त अनुष्ठानों में उत्पन्न कर्त्तव्य बुद्धि वाले) इनसे कर्म करने वाले और इनसे ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ होते हैं।

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शास्वती ।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥९८॥

ब्राह्मण की उत्पत्ति धर्म की शास्वत मूर्ति है, वह (ब्राह्मण) धर्म के ही लिये उत्पन्न होता है। इसलिए यह मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होता है।

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते ।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥९९॥

इस पृथ्वी पर ब्राह्मण ही सबसे श्रेष्ठ और उन्नत होता है, वह सभी प्राणियों के धर्मकोश के रक्षा में समर्थ है।

सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिज्जगतीगतम् ।
श्रेष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥१००॥

इस संसार में जो कुछ है वह सब धर्म ब्राह्मणों का है क्योंकि सबसे श्रेष्ठ उत्पत्ति होने के कारण वह (ब्राह्मण) ही इसका अधिकारी है।

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च ।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ॥१०१॥

ब्राह्मण अपना ही खाता है, अपना ही पहिनता है और अपना ही दान देता है (अर्थात् दूसरे का अन्न, वस्त्रादि सब ब्राह्मण ही का होता है), ब्राह्मण ही की कृपा से अन्य लोग पदार्थों को भोगते हैं।

तस्य कर्मविवेकार्थं शेषाणामनुपूर्वशः ।
स्वायंभुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत् ॥१०२॥

उसके (ब्राह्मण) और अन्य वर्णों के कर्मों के जानने के लिए ही बुद्धिमान् स्वायंभुव मनु ने इस शास्त्र की रचना की है।

विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः ।
शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यङ् नान्येन केनचित् ॥१०३॥

विद्वान् ब्राह्मण इस शास्त्र को अच्छी तरह पढ़े और यत्न पूर्वक शिष्यों को भी पढ़ावे, कोई दूसरे को न पढ़ावे।

इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः शंसितव्रतः ।
मनोवाग् देहजैर्नित्यं कर्मदोषैर्न लिप्यते ॥१०४॥

इस शास्त्र के अध्ययन करने वाले और इसके अनुसार अनुष्ठान करने वाले ब्राह्मण मन, वचन और शरीर से होने वाले नित्य कर्मों के दोषों से रहित होता है।

पुनाति पंक्तिं वंश्यांश्च सप्त सप्त परावरान् ।
पृथिवीमपि चैवेमां कृत्स्नामेकोऽपि सोऽर्हति ॥१०५॥

इस शास्त्र को अध्ययन करने वाले व्यक्ति को (अपवित्र लोगों को) पवित्र करता है और सात पुस्त (पीढ़ी) पीछे के लोगों को और सात आगे होने वाले लोगों का उद्धार करता है और अकेला ही इस सम्पूर्ण पृथ्वी का उद्धार करने के योग्य होता है।

इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमिदं बुद्धिविवर्धनम् ।
इदं यशस्यमायुष्यमिदं निःश्रेयसं परम् ॥१०६॥

यह श्रेष्ठ शास्त्र कल्याण को देने वाला, बुद्धि को बढ़ाने वाला, यश को देने वाला, आयुष्य को देने वाला और मुक्ति को देने वाला है।

अस्मिन् धर्मोऽखिलेनोक्तो गुणदोषौ च कर्मणाम्।
चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः ॥१०७॥

इस शास्त्र में सम्पूर्ण धर्म, कर्मों के गुण-दोष कहे गये हैं और चारों वर्णों के धर्म (आचार) भी कहा गया है।

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः ॥१०८॥

श्रुति (वेद) और स्मृति में कहा हुआ आचार ही परम धर्म है, इसलिये अपनी आत्मोन्नति चाहने वाले ब्राह्मण को हमेशा आचार से युक्त रहना चाहिये।

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत् ॥१०९॥

अपने आचार से हीन ब्राह्मण को वेद का फल नहीं होता है और आचार से युक्त ब्राह्मण वेद के सम्पूर्ण फल को पाता है।

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥११०॥

मुनियों ने आचार से ही सब धर्मों की गति देखकर आचार को ही सभी तपस्याओं का मूल माना है।

जगतश्च समुत्पत्तिं संस्कारविधिमेव च।
व्रतचर्योपचारं च स्नानस्य च परं विधिम् ॥१११॥

संसार की उत्पत्ति, संस्कार की विधि, व्रतचर्या (ब्रह्मचर्य व्रत) और स्नान (ब्रह्मचर्य व्रत के बाद) की विधि एक से दो अध्यायों तक में वर्णन है। इसके बाद–

दाराधिगमनं चैव विवाहानां च लक्षणम्।
महायज्ञविधानं च श्राद्धकल्पं च शाश्वतम् ॥११२॥

विवाह, विवाह के लक्षण, महायज्ञ का विधान और नित्य श्राद्ध की विधि। इसके बाद–

वृत्तीनां लक्षणं चैव स्नातकस्य व्रतानि च।
भक्ष्याभक्ष्यं च शौचं च द्रव्याणां शुद्धिमेव च ॥११३॥

जीविका के लक्षण, स्नातक (गृहस्थी में प्रवेश करने वालों) के व्रतों के नियम, भक्ष्य, अभक्ष्य, शौच और द्रव्यों की शुद्धि। इसके बाद–

स्त्रीधर्मयोगं तापस्यं मोक्षं संन्यासमेव च।
राज्ञश्च धर्ममखिलं कार्याणां च विनिर्णयम् ॥११४॥

इसके बाद क्रम से स्त्रियों के धर्म, तपस्या, मोक्ष, संन्यास, राजाओं के सम्पूर्ण धर्म और राजकार्यों का विशेष निर्णयादि कहे हैं।

साक्षिप्रश्नविधानं च धर्मं स्त्रीपुंसयोरपि ।
विभागधर्मं द्यूतं च कण्टकानां च शोधनम् ॥ ११५ ॥

साक्षियों से पूछने की विधि, स्त्री-पुरुष के धर्म, विभाग (उत्तराधिकार), धर्म, जूआ और मार्ग के कंटक (काँटों) के शोधन का वर्णन है।

वैश्यशूद्रोपचारं च संकीर्णानां च सम्भवम् ।
आपद्धर्मं च वर्णानां प्रायश्चित्तविधिं तथा ॥ ११६ ॥

वैश्य-शूद्रों, के कर्म, संकीर्ण (वर्ण-संकर) जातियों की उत्पत्ति, आपद् (आपत्ति काल में) धर्म और वर्णों (चारों वर्णों) की प्रायश्चित्त की विधि।

संसारगमनं चैव त्रिविधं कर्मसंभवम् ।
निःश्रेयसं कर्मणां च गुणदोषपरीक्षणम् ॥ ११७ ॥

कर्मों के द्वारा उत्पन्न तीन श्रेणी (उत्तम, मध्यम, निकृष्ट) की शरीर प्राप्ति, मुक्ति साधन और कर्मों के गुण दोष की परीक्षा।

देशधर्माज्जातिधर्मान्कुलधर्मांश्च शाश्वतान् ।
पाषण्डगणधर्मांश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान्मनुः ॥ ११८ ॥

देश, धर्म, जातियों के धर्म, कुल धर्म, पाखंडियों के धर्म इस शास्त्र में मनुजी ने कहा है।

यथेदमुक्तवांच्छास्त्रं पुरा पृष्टो मनुर्मया ।
तथेदं यूयमप्यद्य मत्सकाशान्निबोधत ॥ ११९ ॥

पूर्व काल में जिस प्रकार मेरे पूछने पर मनुजी ने इस शास्त्र को कहा था, आज आप लोग भी उसी प्रकार मुझसे सुनिये।

इति प्रथम अध्याय समाप्त ।

द्वितीयोऽध्यायः (२)

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥१॥

निन्द्य राग, द्वेष से रहित श्रेष्ठ धार्मिक विद्वानों द्वारा सेवन किया हुआ, हृदय से अच्छी तरह से ज्ञात जो धर्म है उसे सुनिये।

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥२॥

इस संसार में (किसी वस्तु की) कामना करना श्रेष्ठ नहीं है, फिर भी कामना नहीं है ऐसा नहीं है। वेदों का अध्ययन करना और वेद-विहीन कर्मानुसार करना भी काम्य है।

सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्प सम्भवाः ।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे सङ्कल्पजाः स्मृताः ॥३॥

कामना का मूल संकल्प ही होता है और यज्ञ संकल्प से ही होते हैं। व्रत, यज्ञादि सभी धर्म का आधार संकल्प ही कहा है।

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥४॥

इस संसार में कामना (इच्छा) के बिना कोई कर्म होता नहीं दिखाई देता। कोई भी जो कुछ करता है वह इच्छा से ही करता है।

तेषु सम्यग्वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम् ।
यथा सङ्कल्पितांश्चैव सर्वान्कामान्समश्नुते ॥५॥

उन शास्त्रोक्त कर्मों में सम्यक् प्रकार से लगा हुआ मनुष्य देवलोक को प्राप्त करता है। जैसे–इस संसार में उसके संकल्प पूरे होते हैं।

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥६॥

सम्पूर्ण वेद और वेदों के जानने वालों (मनु आदि को) स्मृति-शील और आचार तथा धार्मिकों की मनस्तुष्टि, यह सभी धर्म के मूल (धर्म में प्रमाण) है।

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥७॥

जो कुछ किसी के धर्म को मनुजी ने जैसे कहा है वह सब वेद में कहा हुआ है क्योंकि वह सर्वज्ञ हैं।

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत वै ॥८॥

दिव्य दृष्टि से इन सब को अच्छी तरह देखकर (विचार कर) वेद को प्रमाण मानते हुए विद्वान् अपने धर्म में निरत रहें।

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः ।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥९॥

क्योंकि श्रुति (वेद), स्मृति (धर्म शास्त्र) में विहित धर्मादि को करने वाला मनुष्य इस लोक में कीर्ति को पाकर परलोक में सुख पाता है।

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥१०॥

श्रुति को वेद और स्मृति को धर्म शास्त्र जानना चाहिए दोनों सभी विषयों में अतर्क्य हैं और इन्हीं दोनों से सभी धर्म प्रकट हुये हैं।

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥११॥

जो द्विजातक शास्त्र द्वारा धर्म के मूल दोनों (वेद, स्मृति) का अपमान करता है उसे सज्जनों को तिरष्कृत करना चाहिये क्योंकि वह वेद निन्दक होने से नास्तिक है।

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥१२॥

वेद, स्मृति, सदाचार और अपने-अपने आत्मा को प्रिय, सन्तोष ये चार साक्षात् धर्म के लक्षण हैं।

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥१३॥

अर्थ और काम में आसक्त पुरुषों के लिये ही धर्म ज्ञान का उपदेश है। धर्म का ज्ञान प्राप्त करने वालों को वेद ही श्रेष्ठ प्रमाण है।

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥१४॥

जहाँ पर श्रुतियों में ही विरोध है। वहाँ पर मनु ने दोनों ही अर्थों को धर्म माना है। महर्षियों ने भी दोनों के कहे हुये धर्मों को धर्म माना है।

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा ।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥१५॥

सूर्योदय होने पर, सूर्योदय के पूर्व अरुणोदय समय में यज्ञ (हवन) करना चाहिये, ये तीनों ही श्रुति वचन हैं (इसलिये तीनों ही ग्राह्य हैं)।

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित् ॥१६॥

जिनको मंत्रों द्वारा गर्भाधान से श्मशान तक सब संस्कार की विधि कही गयी है उन्हीं लोगों को इस शास्त्र के अध्ययन का अधिकार है। अन्य किसी को नहीं।

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥१७॥

सरस्वती और दृषद्वती इन दो देव नदियों का जो अन्तर है उसे देवताओं का बनाया हुआ ब्रह्मावर्त देश कहते हैं।

तस्मिन्देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः ।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥१८॥

उस देश में चारो वर्णों और उनके अन्तराल (संकीर्ण) जातियों के परम्परा से जो आचार है उसी को सदाचार कहते हैं।

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः ।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ॥१९॥

कुरुक्षेत्र और मत्स्यदेश, पञ्चाल (कान्य कुब्ज) और शूरसेन (मथुरा) ये ब्रह्मर्षि देश हैं जो कि ब्रह्मावर्त से कुछ न्यून हैं।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥२०॥

इस देश (उपरोक्त कुरुक्षेत्रादि) में उत्पन्न ब्राह्मणों से सम्पूर्ण पृथ्वी के मनुष्यों को अपने-अपने चरित्र (अचार) को सीखना चाहिये।

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥२१॥

सरस्वती नदी से पूर्व और प्रयाग से पश्चिम हिमालय और विन्ध्य पर्वत के मध्य के देश को मध्य देश कहते हैं।

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥२२॥

पूर्वी समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र पर्यन्त दोनों पर्वतों (हिमालय और विन्ध्याचल) के बीच के देश को पंडितों ने आर्यावर्त कहा है।

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥२३॥

जहाँ पर स्वभाव से ही काले रंग के मृग रहते हों वह यज्ञ करने के योग्य देश है, इससे भिन्न म्लेक्ष देश होता है।

एतान्द्विजातयो देशान्संश्रयेरन्प्रयत्नतः ।
शूद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन्वा निवसेद् वृत्तिकर्शितः ॥२४॥

ये द्विजों के देश हैं इसमें द्विजातियों को प्रयत्न करके रहना चाहिये, जीविका के न रहने से दुःखी शूद्र चाहे जिस देश में निवास करें।

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता ।
संभवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत ॥२५॥

यहाँ तक धर्म की उत्पत्ति और जगत् के उत्पत्ति का वर्णन संक्षेप से हुआ अब वर्ण धर्मादि सुनिये।

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥२६॥

द्विजातियों को वैदिक कर्मों द्वारा गर्भाधानादि शरीर के संस्कार करना चाहिये, जो कि इस लोक और परलोक दोनों में पाप को क्षय करने वाले होते हैं।

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौलमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥२७॥

गार्भिक (गर्भ के शुद्धि के लिये जो हवनादि होते हैं) जातकर्म, चूड़ा (मुण्डन) और उपनयन संस्कारों के करने से द्विजातियों के बीज और गर्भ के दोष दूर हो जाते हैं।

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥२८॥

वेदाध्ययन, व्रत, होम, त्रैविध देवर्षि-पितृ-तर्पण, पुत्रोत्पादन (पाँच) ब्रह्मयोगादि और ज्योतिष्टोमादि यज्ञों द्वारा यह शरीर ब्रह्मप्राप्ति के योग्य बनाई जाती है।

प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते ।
मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥२९॥

नालच्छेदन के पहले पुरुष का जातकर्म संस्कार किया जाता है, इसके बाद ही उस बालक को सुवर्ण, मधु और घी को वैदिक मन्त्रों द्वारा चटाना चाहिये।

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत्।
पुण्ये तिथौ मुहूर्त्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥ ३० ॥

उस बालक का दशवें या बारहवें दिन नाम करण संस्कार शुभ पुण्य तिथि मुहूर्त्त और नक्षत्र में करना चाहिये।

माङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम्।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥ ३१ ॥

ब्राह्मण का मङ्गलवाचक, क्षत्रिय का बलवाचक, वैश्य का धन से युक्त और शूद्र का निन्दा से युक्त नाम रखना चाहिये।

शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम्।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ॥ ३२ ॥

शर्मान्त ब्राह्मण का (जैसे गोपीनाथ शर्मा) क्षत्रियों का रक्षा से युक्त (रघुवीर सिंह या रामनाथ वर्मा) वैश्य का पुष्टि से युक्त (जैसे घनश्याम गुप्त) और शूद्र का दास से युक्त (बलराम दास) नाम रखना चाहिये।

स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम्।
माङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत् ॥ ३३ ॥

मुख से उच्चारण करने के योग्य, सुन्दर अर्थ का द्योतक, स्पष्ट, चित्त को प्रसन्नता प्राप्त कराने वाला, मङ्गलसूचक, अन्तिम अक्षर दीर्घवर्णात्मक, आशीर्वादात्मक शब्द से युक्त स्त्रियों का नाम रखना चाहिये। (जैसे यशोदा देवी)।

चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले ॥ ३४ ॥

जन्म से चौथे मास मे बालक को घर से बाहर निकालना चाहिये। (इसको निष्क्रमण कहते हैं) और छठें मास में अन्नप्राशन (चटावन) करना चाहिये अथवा कुल के रीति के अनुसार जो मङ्गल हो उसे ही करें।

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥ ३५ ॥

सभी द्विजातियों का धर्म के लिये पहले या तीसरे वर्ष में मुण्डन करना चाहिये ऐसा वेद में कहा है।

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥ ३६ ॥

गर्भ से आठवें वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन संस्कार करना चाहिये, गर्भ से ११वें वर्ष में क्षत्रियों का और गर्भ से १२वें वर्ष में वैश्यों का उपनयन करना चाहिये।

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥३७॥

ब्रह्मतेजाभिलाषी ब्राह्मण का गर्भ से ५वें वर्ष में, बलाभिलाषी क्षत्रिय का ६ वर्ष में और धनाभिलाषी वैश्य का ८वें वर्ष में उपनयन करना चाहिये।

आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते ।
आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ॥३८॥

१६वें वर्ष तक ब्राह्मण का, २२वें वर्ष तक क्षत्रिय का और २४वें वर्ष तक वैश्य की सावित्री का अतिक्रमण नहीं होता है। (अर्थात् उक्त समय तक उपनयन हो सकता है।)

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः ।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥३९॥

उक्त समयों के बाद यथा समय संस्कार न होने से वे तीनों (विप्र, क्षत्रिय, वैश्य) सावित्री से पतित होकर समाज से बहिष्कृत और व्रात्य होते हैं।

नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित् ।
ब्राह्मान्यौनांश्च सम्बन्धानाचरेद् ब्राह्मणः सह ॥४०॥

इन अपवित्रों (व्रात्यों) के साथ इनके विधिवत् प्रायश्चित्तादि करने पर भी कोई भी ब्राह्मण आपत्तिकाल में भी उनसे किसी प्रकार का सम्बन्धादि न करे।

कार्ष्णरौरवबास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः ।
वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च ॥४१॥

ब्रह्मचारियों को कृष्णमृग, रुरुमृग, बकरे का चमड़ा उत्तरीय के जगह धारण करना चाहिये। और वर्ण क्रम से सन (टाट), तीसी के सूत का कपड़ा और ऊन का वस्त्र धारण करना चाहिये।

मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला ।
क्षत्रिस्य तु मौर्वी ज्या वैशस्य शणतान्तवी ॥४२॥

तीन फेरेवाली चिकनी मूंज की मेखला ब्राह्मण ब्रह्मचारी की, क्षत्रिय ब्रह्मचारी की मूर्वा की प्रत्यंचा और वैश्य ब्रह्मचारी की सन की बनी मेखला होनी चाहिये।

मुञ्जालाभे तु कर्तव्याः कुशाश्मन्तकबल्वजैः ।
त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा ॥४३॥

यदि मूंज न मिले तो कुश अथवा पत्थर से उत्पन्न होने वाली घास (डाभी) की तीन फेरेवाली मेखला बनाकर उसमें तीन या पाँच गाँठ देनी चाहिये।

कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्येर्ध्ववृतं त्रिवृत् ।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविजसौत्रिकम् ॥४४॥

ब्राह्मण का कपास के सूत का, क्षत्रिय का सन के सूत का और वैश्य का भेड़ के सूत का यज्ञोपवीत होना चाहिये और यह तेहरा और दाहिने से बटा हुआ होना चाहिये।

ब्राह्मणो वैल्वपालाशो क्षत्रियो वाटखादिरौ ।
पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ॥४५॥

ब्राह्मण बेल या पलास का, क्षत्रिय बड़ (वर) या खैर का और वैश्य पीलू या गूलर का दण्ड धर्म के लिये धारण करे।

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः ।
ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासन्तिको विशः ॥४६॥

ब्राह्मण का दण्ड उसको खड़ाकर उसके पैर से शिखा के अग्र भाग तक का लम्बा, क्षत्रिय का कपाल तक और वैश्य का नाक तक का लम्बा होना चाहिये।

ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः ।
अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचोऽनग्निदूषिताः ॥४७॥

ये सभी दण्ड सीधे, छिद्ररहित, देखने में सुन्दर और चित्त को प्रसन्न करने वाले, त्वचा से गौर और जले न हों।

प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम् ।
प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद् भैक्षं यथाविधि ॥४८॥

अपने-अपने अभीष्ट दण्ड को धारण कर और सूर्य का उपस्थान करके अग्नि की परिक्रमा करके नियम के अनुसार भिक्षा माँगे।

भवत्पूर्वं चरेद् भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः ।
भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम् ॥४९॥

(भिक्षा माँगने के नियम) उपनीत ब्राह्मण भिक्षा माँगते समय माँगने वाले से पहले भवत् शब्द का प्रयोग करे (जैसे–भवति भिक्षां मे देहि) क्षत्रिय मध्य में (जैसे–भिक्षां भवति मे देहि) और वैश्य आखीर में भवत् शब्द का प्रयोग करे (जैसे-भिक्षां देहि मे भवति)

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम् ।
भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत् ॥५०॥

अपनी माता, या मौसी या बहिन से अथवा किसी अन्य से जो कि अपमान न करे उससे पहले भिक्षा माँगनी चाहिये।

समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदन्नममायया ।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः ॥५१॥

उस भिक्षा को लाकर निष्कपट होकर गुरु को निवेदन कर पूर्वाभिमुख पवित्र होकर आचमन करके भोजन करे।

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः ।
श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्तेह्युदङ् मुखः ॥५२॥

पूर्व मुख होकर भोजन करने से आयु, दक्षिण मुख से यश, पश्चिम मुख से लक्ष्मी और उत्तर मुँह से भोजन करने से सत्य का फल होता है।

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः ।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत् सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत् ॥५३॥

द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) नित्य आचमन कर भोजन करें और भोजन के बाद अच्छी तरह आचमन करके छिद्रों (आँख, कान, नाक) को जल से स्पर्श करे।

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन् ।
दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ॥५४॥

भोजन को नित्य पूज्य दृष्टि से देखे, और बिना निंदा किये हुये भोजन करे और देखकर संतुष्ट और प्रसन्न होवे तथा हमेशा अन्न का अभिनन्दन करे।

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति ।
अपूजितं तु तद् भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ॥५५॥

नित्य आदर के दृष्टि से किया हुआ भोजन बल और तेज का दाता है, और अनादर के दृष्टि से किया हुआ भोजन दोनों का (बल और तेज) नाश करता है।

नोच्छिष्टं कस्यचिद् दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा ।
न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत् ॥५६॥

किसी को जूठा न दे और न किसी का जूठा अपने ही खावे, अर्थात् भोजन न करे और अधिक भोजन न करे तथा जूठे रहकर कहीं न जावे।

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥५७॥

अत्यन्त भोजन रोग कारक, आयुष्य में क्षीणता और स्वर्ग प्राप्ति में बाधक और पुण्य को नाश करने वाला तथा लोक में निंदा करने वाला होता है, इसलिये अत्यन्त भोजन न करे।

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत् ।
कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन ॥५८॥

ब्राह्मण को हमेशा ब्राह्मतीर्थ या प्रजापति या देवतीर्थ से आचमन करना चाहिये, किंतु पितृतीर्थ से कभी भी आचमन नहीं करना चाहिये।

अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते ।
कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः ॥५९॥

अंगूठे के मूल के नीचे ब्राह्मतीर्थ, कनिष्ठा (सबसे छोटी अंगुली) के मूल में प्रजापतितीर्थ, अँगुलीयों के अग्रभाग में देवतीर्थ और अंगुष्ठ और प्रदेशिनी (पहली अंगुली) के बीच को पितृतीर्थ कहते हैं।

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् ।
खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च ॥६०॥

पहले जल से तीन बार आचमन करके इसके बाद आँख, कान, नाक और अपने मस्तक का स्पर्श करे।

अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित् ।
शौचेप्सुः सर्वदाचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः ॥६१॥

पवित्रता के इच्छुक धार्मिक पुरुष को हमेशा एकान्त में पूर्व अथवा उत्तर मुँह होकर शीतल और फेन (गाज) से रहित जल से कहे हुए तीर्थों द्वारा आचमन करना चाहिये।

हृद्गाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः ।
वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः ॥६२॥

आचमन का जल ब्राह्मण के हृदय तक और क्षत्रिय के कण्ठ तक पहुँचने से ये शुद्ध होते हैं और वैश्य के मुँह में पड़ने ही से तथा शूद्र होठों में लगाने से ही शुद्ध होता है।

उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः ।
सव्ये प्राचीन आवीती निवीती कण्ठसज्जने ॥६३॥

दाहिने हाथ के नीचे (और बायें कन्धे के ऊपर)यज्ञोपवीत के रहने से द्विज उपवीती (सव्य कहलाता है और इससे विलोम रहने को प्राचीनावीती (अपसव्य) कहते हैं और कण्ठ (गले) में जनेऊ धारण करने को निवीती कहते हैं।

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् ।
अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत् ॥६४॥

मेखला, मृगछाला, दण्ड, यज्ञोपवीत और कमण्डलु इनमें से कोई चीज छिन्न-भिन्न हो जाय तो जल में विसर्जन करके मंत्रोचारण पूर्वक दूसरा धारण करना चाहिये।

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैशस्य द्व्याधिके ततः ॥६५॥

ब्राह्मण का २६वें वर्ष में, क्षत्रियों का २२वें वर्ष में, और वैश्य का २४वें वर्ष में केशान्त संस्कार करना चाहिये।

अमन्त्रिका तू कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः ।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥६६॥

यथा समय यथा क्रम शरीर के शुध्यर्थ बिना मन्त्र के स्त्रियों के पूर्वोक्त सभी संस्कार करना चाहिये।

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥६७॥

स्त्रियों का वैदिक संस्कार (विवाह विधि) ही है। स्त्रियों के लिये पति की सेवा ही गुरुकुल का वास है और घर का काम धंधा ही नित्य का हवन होता है।

एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः ।
उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः कर्मयोगं निबोधत ॥६८॥

यह सब द्विजातियों के उपनयन की विधि कही गयी है। जो कि उनके पूर्व के पुण्य को प्रकट करती है, अब उनके कर्मयोग को सुनिये।

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः ।
आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च ॥६९॥

गुरु शिष्य का उपनयन करके पहले शौच, आचार अग्निहोत्र और सन्ध्योपासन की शिक्षा देवे।

अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्रमुदङ्मुखः ।
ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः ॥७०॥

गुरु से पढ़ने की इच्छा वाला शिष्य शुद्ध वस्त्र पहन कर शास्त्र के विधि से आचमन करके उत्तर मुँह जितेन्द्रिय होकर ब्रह्माञ्जलि करके गुरु के समीप बैठे और ऐसे शिष्य को गुरु पढ़ावे।

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥७१॥

नित्य वेदारम्भ करने के पहले और बाद में गुरु के चरणों को छूना चाहिये। हाथों को जोड़े हुए ही पढ़े इसी को ब्रह्माञ्जलि कहते हैं।

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥७२॥

उलटे हाथों से गुरु के बायें हाथ से बायाँ और दाहिना हाथ से दाहिना पैर छूना चाहिये।

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः।
अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत् ॥७३॥

आलस्य को छोड़कर गुरु पढ़ने वाले शिष्य को नित्य पढ़ाने के समय हे शिष्य पढ़ो, ऐसा कहे और पढ़ाना बन्द करते के समय 'बस करो' ऐसा कहकर पढ़ाना बन्द करे।

ब्राह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।
स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं पुरस्ताच्च विशीर्यति ॥७४॥

नित्य वेदाध्ययन के समय आदि और अन्त में प्रणव (ॐ) का उच्चारण करना चाहिये। ॐ कार का उच्चारण न करने से पहले का पढ़ा हुआ भूल जाता है और आगे याद नहीं होता है।

प्राक्कूलान् पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः।
प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओङ्कारमर्हति ॥७५॥

पूर्व दिशा में कुशा का अग्र करके उस पर बैठकर और पवित्र को पहिन कर तीन बार प्राणायाम कर पवित्र होकर तब ॐकार का उच्चारण करना चाहिये।

अकारं चाप्युकारं मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवःस्वरितीति च ॥७६॥

ब्रह्मा ने अकार, उकार, और मकार तथा भूर्भुवः स्वः इन तीन व्याहृतियों को तीनों वेदों से निकाला है।

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत्।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥७७॥

परमेष्ठी ब्रह्मा ने तीनों वेदों से क्रमशः सावित्री के एक-एक पाद करके तीन पाद को निकाला।

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम् ।
संध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥७८॥

ॐकार पूर्वक तीन पादों वाली व्याहृति पूर्वक सावित्री का जप दोनों सन्ध्याकाल में करने वाला वेदज्ञ ब्राह्मण सम्पूर्ण वेद पाठ किये हुये, पुण्य से युक्त होता है।

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः ।
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥७९॥

द्विज इन तीनों (प्रणव, व्याहृत और सावित्री) को बाहर (एकांत में) एकाग्र चित्त से एक मास पर्यत नित्य एक हजार जप करे तो बड़े भारी पाप से मुक्त हो जाता है, जैसे साँप केंचुल से मुक्त होता है।

एतचर्याविसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया ।
ब्रह्मक्षत्रियविट्योनिर्गर्हणां याति साधुषु ॥८०॥

सन्ध्या से भिन्न समय पर इस सावित्री के जप को और हवनादि करने वाला द्विज ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैष्णवों के साधु-मंडली (सज्जनों) में निन्दित होता है।

ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥८१॥

ॐकार पूर्वक तीनों महा व्याहृति (भूर्भुवः स्वः) और त्रिपद् सावित्री अव्यय और वेद का मुख है।

योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः ।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान् ॥८२॥

जो आलस्य को छोड़कर तीन वर्ष लगातार इनका प्रतिदिन (ॐकार व्याहृति पूर्वक सावित्री का) जप करता है, वह वायु की तरह शीघ्रगामी होकर आकाश के स्वरूप को धारण कर परब्रह्म में मिल जाता है।

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामाः परं तपः ।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते ॥८३॥

एकाक्षर (ॐ) परब्रह्म है और प्राणायाम परम तप है तथा सावित्री से बढ़कर कोई मंत्र नहीं है और मौन से सत्य बोलना श्रेष्ठ है।

क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोतियजतिक्रियाः ।
अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः ॥८४॥

वेद विहित सभी हवन यज्ञादि कर्मों के फल नष्ट हो जाते हैं, किंतु प्रजापति ब्रह्मस्वरूप ॐकार का कभी नाश नहीं होता है।

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥८५॥

विधियज्ञ (दर्श-पौर्णमास यज्ञ) से जप यज्ञ (प्रणवादि जप) दशगुना अधिक फल देने वाला होता है और उपांशु जप (ओठ और जीभ चलते हों किन्तु सुनाई न पड़े) सौगुना और उपांशु से मानस जप हजार गुना बड़ा होता है।

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः ।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥८६॥

जो चार पाकयज्ञ (पितृकर्म, हवन, बलि-वैश्वदेव) विधियज्ञ के बराबर हैं, वे सभी जप यज्ञ के १६वें भाग के बराबर भी नहीं हैं।

जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥८७॥

ब्राह्मण जप मात्र करने से ही सिद्ध होता है इसमें सन्देह नहीं है। अन्य यज्ञादि को करे या न करे उतने ही से (जप मात्र से) ब्राह्मण मंत्र कहलाता है।

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम् ॥८८॥

विद्वान् की बुद्धि को हरण करने वाली अन्य विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों का संयम करने में प्रयत्नशील होना चाहिये, जैसे सारथी घोड़ा के रोकने में प्रयत्न शील होता है।

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः ।
तानि सम्यक्प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥८९॥

प्राचीन ऋषियों ने जिन ग्यारह इन्द्रियों को कहा है, क्रम से सम्पूर्ण उन इन्द्रियों को और उनके कर्मों को यथावत् कहता हूँ।

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषो जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता ॥९०॥

कान, त्वचा (चर्म), नेत्र, जिह्वा, नाक, गुदा, लिंग, हाथ, पैर और १०वीं वाणी।

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ।।९१।।

इसमें कान आदि पाँच बुद्धीन्द्रिय और गुदा आदि पाँच कर्मेन्द्रिय हैं।

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।
यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गुणौ ॥९२॥

उभयात्मक (ज्ञान और कर्म दोनों इन्द्रियों में रहने वाला) ११वाँ मन है, जिसको जीतने से ये दोनों इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं।

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥९३॥

इन्द्रियों के प्रसङ्ग से ही निःसन्देह मनुष्य दोष को (अधर्म को) प्राप्त होता है और उनको जीत लेने से सिद्धि को पाता है।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥९४॥

इच्छाओं के अनुकूल भोग को भोगने से इच्छा की पूर्ति नहीं होती है। किन्तु जैसे आग में घी डालने से अग्नि भड़क उठती है उसी प्रकार इच्छा में भी वृद्धि हो जाती है।

यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान् यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत् ।
प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥९५॥

जो इन सबको प्राप्त करता है, जो इन सबको केवल त्याग देता है, (दोनों में त्यागने वाला ही श्रेष्ठ रहता है) क्योंकि सभी कामों को प्राप्त करने की अपेक्षा उनका त्यागना ही श्रेष्ठ होता है।

न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया ।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥९६॥

जैसे विषयों में प्रशक्त इन्द्रिय ज्ञान के वश से हमेशा रोकी जा सकती है। वैसे ही उनको सेवन न करने से वे नियंत्रण में आ सकती हैं।

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमांश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥९७॥

भोगादि विषयों में लगे हुए मनुष्यों के वेदाध्ययन, यज्ञ नियम और तपस्या ये कभी भी सिद्धि को नहीं देते हैं।

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥९८॥

जो मनुष्य सुनकर, स्पर्शकर, खाकर और गंध को पाकर प्रसन्न और उदास नहीं होता है वही जितेन्द्रिय कहलाता है।

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥९९॥

सभी इन्द्रियों में से एक भी इन्द्रिय का ह्रास हो जावे तो मनुष्य की बुद्धि का ह्रास हो जाता है, जैसे छिद्रयुक्त पात्र (चर्म से बने हुए) से जल का ह्रास हो जाता है।

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥१००॥

इन्द्रिय समूह को वश में करके मन को रोक कर योग मार्ग द्वारा शरीर को सुखी रखते हुये सभी पुरुषार्थों का साधन करे।

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात् ।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥१०१॥

प्रातः सन्ध्या में पूर्व मुँह खड़े होकर सूर्यदर्शन पर्यन्त सावित्री का जप करे। सायंकालीन सन्ध्या में पश्चिम मुँह बैठ कर जब तक तारा (नक्षत्र) न दिखाई पड़े तब तक गायत्री का जप करे।

पूर्वां सन्ध्यां जपन्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति ।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥१०२॥

प्रातः सन्ध्या में खड़े होकर (गायत्री) जप करने वाला रात के पाप को नाश करता है और सायं-सन्ध्या के समय बैठ कर जप करने वाला दिन के पाप को नाश करता है।

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥१०३॥

जो प्रातः और सायं सन्ध्याओं को नहीं करता है उसे सभी द्विज कर्मों से शूद्र की तरह बहिष्कृत कर देना चाहिये।

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः ।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वाऽरण्यं समाहितः ॥१०४॥

निर्जन स्थान में जल के समीप जाकर अपने नित्य क्रियाओं को कर स्थिरचित्त होकर गायत्री का जप करना चाहिये।

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके ।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥१०५॥

वेद के उपकरण (व्याकरणादि) नित्य का स्वाध्याय (वेदपाठादि), हवन, मंत्रों का जप ये सभी कार्य अनध्याय में भी करना चाहिये।

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम् ।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥१०६॥

नित्य कर्म में अनध्याय नहीं होता है, क्योंकि उसे ब्रह्मयज्ञ कहते हैं, ब्रह्मयज्ञ में वेदाध्याय ही आहुति है और अनध्याय में भी होने वाला वेद घोष (वषट्कार) ही पुण्य है।

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः ।
तस्य नित्यं क्षरत्येषु पयो दधि घृतं मधु ॥१०७॥

जो स्थिर चित्त से पवित्र होकर विधि पूर्वक एक वर्ष तक वेदाध्ययन करता है उसको नित्य ही दूध, दही, घी और मधु पूर्वोक्त अनध्याय से प्राप्त होता है (देवता पितरों को तृप्त करता है)।

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधःशय्यां गुरोर्हितम् ।
आसमावर्तनात् कुर्यात् कृतोपनयनो द्विजः ॥१०८॥

उपवीत द्विज को समिधाओं से हवन, भिक्षा माँगना, पृथ्वी पर सोना, गुरु की सेवा (वेदाध्यन) पर्यन्त करना चाहिये।

आचार्यपुत्रः शुश्रुषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः ।
आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दशधर्मतः ॥१०९॥

गुरु का लड़का, सेवा करने वाला, (अन्य ज्ञानों को देने वाला) धार्मिक, पवित्र, बन्धु, शक्तिशाली, धन देंने वाला, साधु (हित करने वाला और आत्मीय) ये दश वेद पढ़ाने योग्य हैं।

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोकमाचरेत् ॥११०॥

बुद्धिमान् जानते हुए भी बिना पूछे किसी से कुछ न कहे और अन्याय से पूछने वाले को भी न बतावे, दोनों के साथ जड़ पदार्थ का सा व्यवहार करें।

अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति ।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाऽधिगच्छति ॥१११॥

जो अधर्म से बोलता है और जो अधर्म से पूछता है दोनों में मर्यादा को अतिक्रमण करने वाला मरता है या द्वेष को प्राप्त करता है।

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा ।
तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥ ११२॥

जहाँ धर्म और धन न हो और न तो वैसी सेवा ही हो तो वहाँ पर विद्या का उपदेश नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसे जगह उपदेश की हुई विद्या सुन्दर बीज को ऊसर भूमि में बोने के तरह निष्फल होती है।

विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना ।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥ ११३॥

वेदाध्यापक को अपनी विद्या के साथ मर जाना श्रेष्ठ है, किन्तु घोर आपत्ति में भी विद्या को ऊसर में बोना (अर्थात् अपात्र को देना) नहीं चाहिये।

विद्याब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम् ।
असूयकाय मां मातास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥ ११४॥

विद्या के अधिष्ठातृ देवता ने ब्राह्मण (अध्यापक) से कहा 'मैं तुम्हारी निधि हूँ' मेरी रक्षा करो, वेद निन्दक को मत देना इससे मैं बलवती हूँगा।

यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम् ।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥ ११५॥

जिसको संयतेन्द्रिय और ब्रह्मचारी समझो उसी प्रमाद रहित विद्यारूपी निधि के रक्षक ब्राह्मण शिष्य को मुझे दो।

ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात् ।
स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥ ११६॥

जो किसी को गुरु से वेद पढ़ते हुए गुरु के आज्ञा के बिना ही वेदार्थ को सुन लेता है वह वेदों के चुराने वाला पाप से युक्त होकर नरक को पाता है।

लौकिकं वैदिकं वाऽपि तथाऽध्यात्मिकमेव च ।
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥ ११७॥

जिससे लौकिक, वैदिक और आध्यात्मिक ज्ञान को सीखे उसे पहले प्रणाम करना चाहिये।

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः ।
नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥ ११८॥

अपने इन्द्रियों को वश में रखने वाला केवल गायत्री को जानने वाला ब्राह्मण श्रेष्ठ है किन्तु जो कि विजितेन्द्रिय, सभी कुछ खाने वाला और सभी कुछ बेचने वाला है वह ब्राह्मण यदि तीनों वेदों को जानता भी हो तो श्रेष्ठ नहीं है।

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत्।
शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥११९॥

जिस शय्या और आसन पर गुरु बैठते हों उस पर न बैठे और शय्या और आसन पर से उठकर गुरु को प्रणाम करना चाहिये।

उर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥१२०॥

बड़ों के आने पर छोटों के प्राण ऊपर को उच्छ्वसित होते हैं, इसलिये खड़े होकर प्रणाम करने से वे प्राण फिर अपने स्थान पर आ जाते हैं।

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥१२१॥

नित्य बड़ों की सेवा और प्रणाम करने वाले पुरुष का आयु, विद्या, यश और बल ये चार पदार्थ बढ़ते हैं।

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन्।
असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ॥१२२॥

ब्राह्मण को, गुरुजनों को अभिवादन (प्रणाम) करने के बाद अपना नाम भी बता देना चाहिये (जैसे अभिवादये अमुक शर्माहमस्मिभो)।

नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते।
तं प्राज्ञोऽहमिति ब्रूयात्स्त्रियः सर्वास्तथैव च ॥१२३॥

अभिवादन करने में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ को यदि कोई वृद्ध न जानते हों तो उन्हें (मैं प्रणाम करता हूँ) ऐसा कह कर अभिवादन करे स्त्रियाँ भी ऐसा करें।

भोःशब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने।
नाम्नां स्वरूपभावो हि भोर्भाव ऋषिभिः स्मृतः ॥१२४॥

अभिवादन करने में अपने नाम के अंत में (भोः) शब्द कहना चाहिये (जैसे १२२ वें श्लोक में कह आये हैं)। प्रणाम किये जाने वाले के नाम के स्वरूप का द्योतक (भोः) शब्द है ऐसा ऋषियों ने कहा है।

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने।
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षःप्लुतः ॥१२५॥

ब्राह्मण प्रणाम किये जाने पर आयुष्मान्भव सौम्य (तुम दीर्घजीवी हो) ऐसा कहें, यदि प्रणाम करने वाले के नाम के आदि में अकार हो तो उसे प्लुत उच्चारण करना चाहिये।

यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम् ।
नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ॥१२६॥

जो विप्र अभिवादन करने का प्रत्यभिवादन करना नहीं जानता हो उसे पण्डितों को अभिवादन नहीं करना चाहिये, क्योंकि जैसे शूद्र है वैसे ही वह भी है।

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम् ।
वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥१२७॥

ब्राह्मण से कुशल, क्षत्रिय से निरामय, वैश्य से क्षेम और शूद्र से आरोग्यता साक्षात्कार होने पर पूछे।

अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत् ।
भोभवत्पूर्वकं त्वेनमभिभाषेत धर्मवित् ॥१२८॥

दीक्षा प्राप्त यदि अपने से छोटा हो तो भी उसका नाम नहीं लेना चाहिये, धर्मात्मा पुरुष भोः अथवा भवन् शब्द कहकर उसके साथ बात-चीत करे।

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसम्बन्धा च योनितः ।
तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च ॥१२९॥

जो दूसरे की स्त्री हो, और जिससे किसी प्रकार का सम्बन्ध (रिश्ता) न हो उसे भवती (आप) सुभगे अथवा भगिनी कह कर बातचीत करना चाहिये।

मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरून् ।
असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय यवीयसः ॥१३०॥

मामा, चाचा, श्वसुर, पुरोहित और गुरुजन (वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध) यदि अपने से छोटे हों तब भी उठकर इतना कहे कि (यह मैं हूँ)।

मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा ।
संपूज्या गुरुपत्नीवत्समस्ता गुरुभार्यया ॥१३१॥

मौसी, मामी, सास और फूआ ये गुरु पत्नी के ही अनुसार पूज्य हैं क्योंकि ये गुरु पत्नी के समान हैं।

भ्रातुर्भार्योपसंग्राह्या सवर्णाऽहन्यहन्यपि ।
विप्रोष्य तूपसंग्राह्या ज्ञातिसम्बन्धियोषितः ॥१३२॥

समान वर्ण की व्याही भाई के साथी (भौजाई) को नित्य प्रणाम करना चाहिये, अपने रिश्ते की अन्य स्त्रियों को पदरेश से आने पर प्रणाम करना चाहिये।

पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि ।
मातृवद् वृत्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी ॥१३३॥

फूआ, माता और अपने से बड़ी बहन के साथ माता के तरह व्यवहार करे, किन्तु इन सबों में बड़ी माता को ही समझे।

दशाब्दाख्यं पौरसख्यं पञ्चाब्दाख्यं कलाभृताम् ।
त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनापि स्वयोनिषु ॥१३४॥

गाँव वालों के साथ १० वर्ष, कला जानने वालों के साथ ५ वर्ष और वेदाध्यायियों के साथ ३ वर्ष की छोटाई बड़ाई रहने पर भी मित्रता का भाव रहता है और अपने सगे सम्बन्धियों के साथ थोड़ी भी छोटाई बड़ाई का ध्यान रखना चाहिये।

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम् ।
पितापुत्रौ विजानीयाद् ब्राह्मणस्तु तयोः पिता ॥१३५॥

दस वर्ष का ब्राह्मण और सौ वर्ष का क्षत्रिय दोनों को पिता-पुत्र समझना चाहिये, दोनों में ब्राह्मण पिता के समान है।

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥१३६॥

धन, बन्धु, अवस्था, कर्म और विद्या ये पाँच मान्य स्थान हैं इनमें उत्तरोत्तर एक से दूसरा बड़ा है।

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च ।
यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः ॥१३७॥

तीनों वर्णों में से जिस किसी का पूर्वोक्त पाँचों गुणों में से जितना ही अधिक गुण हो तो वह पुरुष मान्य होता है और ९० वर्ष के ऊपर शूद्र भी माननीय होता है।

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः ।
स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च ॥१३८॥

रथ पर चढ़े हुये को, अति वृद्ध को, रोगी को, बोझ लिये हुए को, स्त्री को, स्नातक (जिसका समावर्तन संस्कार हो गया हो) को, राजा को और वर (दूलहा) को रास्ता देना चाहिये (अर्थात् ये जिस मार्ग से आते हों उससे हट जाना चाहिये)।

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ ।
राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक् ॥१३९॥

उपर्युक्त सभी लोग यदि एक साथ हों तो स्नातक और राजा मान्य हैं। दोनों में राजा से स्नातक विशेष मान्य है।

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥१४०॥

जो ब्राह्मण शिष्य का उपवीत करा के उसे कल्प और रहस्य (यज्ञ विद्या और उपनिषद्) के साथ वेद पढ़ाता है उसी को आचार्य कहते हैं।

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपध्यायः स उच्यते ॥१४१॥

जो वेद का भाग और वेदाङ्ग (व्याकरणादि) जिविका के लिये पढ़ाता है उसे उपाध्याय कहते हैं।

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥१४२॥

जो गर्भाधानादि कर्मों को यथोक्त रीति से करता है और अन्न से पोषण करता है उस ब्राह्मण को गुरु कहते हैं।

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान् मखान्।
यः करोति वृत्तो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते ॥१४३॥

जो जिससे वरण लेकर अग्निहोत्र, पाक यज्ञ और अग्निष्टोमादि यज्ञों को करता है वह उसका ऋत्विक् कहलाता है।

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन ॥१४४॥

जो ब्राह्मण दोनों कानों को निर्दोष, सत्यस्वरूप वेद (वेदध्वनि) से भर देता है उसे माता और पिता के समान जानना चाहिये, कभी भी उससे द्रोह न करे।

उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते ॥१४५॥

उपाध्यायों से दशगुना श्रेष्ठ आचार्य और आचार्य से सौ गुना श्रेष्ठ पिता और पिता से हजार गुना श्रेष्ठ माता गौरव से युक्त होती है।

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥१४६॥

जन्म देने वाला पिता और वेद पढ़ाने वाला आचार्य दोनों में वेद पढ़ाने वाला आचार्य पिता से श्रेष्ठ है, क्योंकि ब्राह्मण का ब्रह्म जन्म इह लोक और परलोक दोनों में निरन्तर नित्यत्व को प्राप्त होता है।

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः ।
संभूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते ॥ १४७ ॥

परस्पर कामवश होकर माता-पिता जिस शरीर को उत्पन्न करते हैं वह जन्म उस प्राणी का पशु आदिकों की तरह साधारण है।

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः ।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजरामरा ॥ १४८ ॥

वेदज्ञ आचार्य विधिपूर्वक जिस जाति के सावित्री से पुनर्जन्म देता है वही जाति उसकी सत्य, अजर और अमर होती है।

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः ।
तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया ॥ १४९ ॥

जो शास्त्र द्वारा थोड़ा या बहुत उपकार करे उसको भी उस उपकार के बदले गुरु मानना चाहिए।

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता ।
बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः ॥ १५० ॥

वैदिक जन्म को देने वाला और धर्म की शिक्षाओं से शासन करने वाला ब्राह्मण का लड़का भी धर्म से वृद्ध का पिता होता है।

अध्यापयामास पितॄञ्शिशुराङ्गिरसः कविः ।
पुत्रका इतिहोवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥ १५१ ॥

अंगिरा के विद्वान् बालक ने अपने चाचाओं और उनके लड़कों को पढ़ाया और ज्ञान द्वारा उनको ग्रहण कर पुत्रक कहकर पुकारा।

ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः ।
देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥ १५२ ॥

वे (पितृव्यादि पुत्रक कहने पर) क्रोधित होकर देवताओं से उस (पुत्रक) शब्द का अर्थ पूछा। देवताओं ने एक स्वर से कहा कि बालक ने जो तुम्हें पुत्रक कहा है, वह न्याययुक्त है।

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥ १५३ ॥

अज्ञानी ही बालक होता है और मन्त्र देने वाला (वेद पढ़ाने वाला) पिता होता है, क्योंकि मुनियों ने अज्ञानी को बालक और उपदेशक को पिता कहा है।

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूवानः स नो महान् ॥१५४॥

अधिक अवस्था होने से या बाल पकने से या अधिक धन और कुटुम्ब होने से कोई बड़ा नहीं होता है। किन्तु ऋषियों ने इस विषय में धर्म व्यवस्था ऐसी की है कि जो वेद वेदांग को पढ़ा है वही हम लोगों में बड़ा है।

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः ।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥१५५॥

ज्ञान से ब्राह्मणों का, बल से क्षत्रियों का, धन-धान्य से वैश्यों का और जन्म से शूद्रों का बड़ापन होता है।

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥१५६॥

केवल शिर के बाल पक जाने से ही कोई वृद्ध नहीं होता है किन्तु जो वेद-वेदांग को पढ़ा है वह युवा होते हुये भी वृद्ध होता है यह देवताओं ने कहा है।

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥१५७॥

जैसे काठ का हाथी और चमड़े का मृग वैसे ही बिना पढ़ा ब्राह्मण केवल नामधारी होता है।

यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला ।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ॥१५८॥

जैसे स्त्रियों में नपुंसक निष्फल होता है, जैसे गौओं में गौ निष्फल होती है, जैसे मूर्ख को दिया हुआ दान निष्फल होता है वैसे ही वेद की ऋचाओं को न जानने वाला ब्राह्मण निष्फल होता है।

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।
वाक्चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥१५९॥

प्राणियों के कल्याण के लिये अहिंसा से ही अनुशासन करना श्रेष्ठ है, धार्मिक शासक को मीठे और नम्र वचनों का प्रयोग करना चाहिये।

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा ।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥१६०॥

जिसकी वाणी और मन शुद्ध और हमेशा सम्यक् रीति से सुरक्षित है वह वेदान्त में कहे हुये सभी फलों को पाता है।

नारुंतुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥१६१॥

स्वयं दुःखी होते हुये भी किसी का जी न दुखावे, पर द्रोह (दूसरे से शत्रुता) की बुद्धि भी न रखे और ऐसे वचन को भी न बोले जिससे दूसरों को कष्ट हो।

सन्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥१६२॥

ब्राह्मण विष की तरह हमेशा सम्मान से निरपेक्ष रहे और हमेशा अमृत के समान अपमान की इच्छा रखे।

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥१६३॥

अपमानित पुरुष सुख से सोता और सुख से जागता है तथा सुख से ही संसार में विचरता है किन्तु अपमान करने वाला नष्ट हो जाता है।

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः।
गुरौ वसन्सञ्चिनुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥१६४॥

इस प्रकार से संस्कृत होकर ब्राह्मण गुरु के साथ रहकर वेद ज्ञान के प्राप्ति के तप को धीरे-धीरे सञ्चय करे।

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ॥१६५॥

अनेक प्रकार के तप विशेष और अनेक प्रकार के विधिवत् व्रतों के अनुष्ठानादि से द्विजों को उपनिषद् के सहित सम्पूर्ण वेद का अध्ययन करना चाहिये।

वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥१६६॥

हमेशा तपस्या करता हुआ द्विज वेद का अभ्यास करे क्योंकि वेदाभ्यास ही ब्राह्मण का परम तप है।

आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः।
यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायः शक्तितोऽन्वहम् ॥१६७॥

जो द्विज माला पहिन कर अपने शक्ति के अनुसार नित्य वेद पढ़ता है, वह नखों के अग्र भाग तक (सम्पूर्ण शरीर तक) तप करता है।

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥१६८॥

जो द्विज वेद को न पढ़ कर अन्य शास्त्रों में परिश्रम करता है वह जीता हुआ ही वंश सहित शूद्रता को प्राप्त होता है।

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥१६९॥

प्रथम जन्म माता से, दूसरा यज्ञोपवीत के समय और तीसरा जन्म वेद द्वारा द्विज का यज्ञदीक्षा के समय होता है।

तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥१७०॥

पूर्वोक्त तीनों जन्मों मौंजी (यज्ञोपवीत) से चिह्नित जन्म में माता गायत्री और पिता आचार्य होता है।

वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते।
न ह्यस्मिन्युज्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जिबन्धनात् ॥१७१॥

वेद की शिक्षा देने से आचार्य को पिता कहते हैं कि, क्योंकि यज्ञोपवीत होने के पहले किसी भी वैदिक कर्म करने की क्षमता द्विज को नहीं होती है।

नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादृते।
शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते ॥१७२॥

श्राद्ध में पढ़े जाने वाले वेद मन्त्रों को छोड़कर (अनुपनीत द्विज) वेद मन्त्र का उच्चारण न करे, क्योंकि जब तक वेदारम्भ न हो जावे तब तक शूद्र के समान होता है।

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते।
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥१७३॥

यज्ञोपवीत हो जाने पर बटु को व्रत का उपदेश लेना चाहिये और तभी से विधिपूर्वक वेदाध्ययन करना चाहिये।

यद्यस्य विहितं चर्म यत्सूत्रं या च मेखला।
यो दण्डो यच्च वसनं तत्तदस्य व्रतेष्वपि ॥१७४॥

जिस बटु के लिये जो चर्म, सूत्र, जो मेखला, जो दण्ड और जो वस्त्र उपनयन में विहित है वह इसके लिये व्रतों में भी विहित है।

सेवेतेमांस्तु नियमान्ब्रह्मचारी गुरौ वसन्।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः ॥१७५॥

गुरु के पास रहता हुआ ब्रह्मचारी इन्द्रियों को वश में रखकर अपनी तपस्या के वृद्धर्थ उपर्युक्त नियमों का पालन करे।

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् ।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥ १७६ ॥

नित्य स्नान कर पवित्र होकर देवता और ऋषियों का तर्पण करे उसके बाद देवताओं का पूजन और अग्न्याधान करे।

वर्जयेन्मधुमांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥ १७७ ॥

ब्रह्मचारी मधु, मांस, सुगन्ध, माला, रस, स्त्री, सभी प्रकार के आसव (सिरका) और प्राणियों की हिंसा त्याग दे।

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम् ।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥ १७८ ॥

शरीर में उबटन और आँख में आँजन न लगावे, जूता और छाता न धारण करे, काम, क्रोध और लोभ न करे, नाच, गाना और बाजे से दूर रहे।

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम् ।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥ १७९ ॥

ब्रह्मचारी को जूआ, कलह, निंदा, झूठ, स्त्रियों को सकाम दृष्टि से देखना और उन्हें आलिङ्गन करना और दूसरे की निन्दा करना ये सब त्याग देना चाहिये।

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित् ।
कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥ १८० ॥

सर्वत्र अकेला सोवे, कभी वीर्यपात न करे, इच्छा से वीर्यपात करने से अपने व्रत का नाश करता है।

स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः ।
स्नात्वामर्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जयेत् ॥ १८१ ॥

यदि द्विज के अनिच्छा से ब्रह्म में वीर्यपात हो जावे तो स्नान कर सूर्य का पूजन कर तीन बार 'पुनर्मां' इस ऋचा का जप करे।

उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकाकुशान् ।
आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत् ॥ १८२ ॥

घड़े में जल, पुष्प, गौ का गोबर, मिट्टी और कुश आवश्यकतानुसार लावे और प्रतिदिन भिक्षा भी लावे।

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु ।
ब्रह्मचार्याहरेद्भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥१८३॥

जो वेद और यज्ञों में फँसे हों और अपने धर्म-कर्म में श्रेष्ठ हों ऐसे गृहस्थ के घर से प्रति दिन ब्रह्मचारी प्रयत्न करके भिक्षा माँगकर लावे।

गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु ।
अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ॥१८४॥

गुरु के कुल में और अपने जाति भाई और कुल बन्धुओं के घर में भिक्षा न माँगे, यदि अन्य गृहों का अभाव हो (अर्थात् दूसरों के यहाँ भिक्षा न मिले) तो क्रम से पहले का त्याग करके भिक्षा माँगे।

सर्वं वापि चरेद् ग्रामं पूर्वोक्तानामसम्भवे ।
नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत् ॥१८५॥

यदि पूर्वोक्त लोग न हों तो मौन होकर चाहे जहाँ जिस गाँव में भिक्षा के लिये जाय, किन्तु पापियों से भिक्षा न ले।

दुरादाहृत्य समिधः सन्निदध्याद्विहायसि ।
सायंप्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥१८६॥

दूर से समिधा लाकर उसे ऊपर रख दे और सायं-प्रातःकाल आलस्य रहित होकर उससे अग्नि में हवन करे।

अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम् ।
अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥१८७॥

आरोग्य अवस्था में यदि सात रात पर्यन्त ब्रह्मचारी भिक्षा न माँगे और अग्नि में समिधा का हवन न करे तो उन्हें अवकीर्णित व्रत करना चाहिए।

भैक्षेण वर्त्तयेन्नित्यं नैकान्नादौ भवेद् व्रती ।
भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता ॥१८८॥

नित्य भिक्षा करनी चाहिये, एक ही के अन्न को खाकर ब्रह्मचारी को नहीं रहना चाहिये। भिक्षावृत्ति से रहना उपवास के बराबर होता है।

व्रतवद्देवदैवत्ये पित्र्ये कर्मण्यथर्षिवत् ।
काममभ्यर्थितोऽश्नीयाद् व्रतमस्य न लुप्यते ॥१८९॥

देवकर्म में देवता के प्रीत्यर्थ और पितृ-कर्म में पितरों के प्रीत्यर्थ निमंत्रित ब्रह्मचारी ऋषि के समस्त अपने व्रतानुकूल यथेष्ठ भोजन करे इससे उसका व्रत नहीं भंग होता है।

ब्राह्मणस्यैव कर्मैतदुपदिष्टं मनीषिभिः ।
राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते ॥१९०॥

उपर्युक्त कर्म केवल ब्राह्मण को ही पण्डितों ने कहा है। क्षत्रिय और वैश्यों को यह कर्म नहीं कहा है।

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा ।
कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ॥१९१॥

गुरु से कहे जाने पर अथवा न कहे जाने पर भी नित्य वेदाध्ययन में और आचार्य की सेवा में प्रयत्नशील होना चाहिये।

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च ।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥१९२॥

शरीर, वाणी, बुद्धि, इन्द्रिय और मन को नियन्त्रण में रखकर हाथ जोड़कर गुरु के मुख को देखता हुआ स्थिर रहे।

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्साध्वाचारः सुसंयतः ।
आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः ॥१९३॥

सुन्दर भेष और आचरण से युक्त होकर हमेशा दाहिना हाथ बाहर रखता हुआ गुरु के कहने पर उनके सन्मुख बैठे।

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य परमं चैव संविशेत् ॥१९४॥

गुरु के समीप हमेशा गुरु से न्यून भोजन, वस्त्र और वेश में रहे और गुरु के सोकर जागने के पहले उठे और उनके सोने के बाद सोये।

प्रतिश्रवणसंभाषे शयानो न समाचरेत् ।
नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः ॥१९५॥

सोये हुए, बैठे हुये,. भोजन करते हुये, मुँह फेर कर खड़े हुये गुरु से संभाषण नहीं करना चाहिये।

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः ।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः ॥१९६॥

यदि गुरु बैठे हों तो स्वयं उठकर, खड़े हों तो सामने जाकर, आते हों तो उनके सम्मुख चलकर, चलते हों तो उनके पीछे दौड़कर गुरु की आज्ञा सुननी चाहिये।

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम् ।
प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥१९७॥

गुरु मुँह फेरकर खड़े हों तो सामने जाकर, दूर हों तो समीप जाकर, सोये हों तो प्रणाम कर, समीप बैठे हों तो सिर नीचे करके बात को सुने।

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥१९८॥

शिष्य को हमेशा गुरु के समीप अपना शय्या और आसन उनसे नीचे रखना चाहिये। गुरु के सामने यथेच्छा किसी भी आसन पर नहीं बैठना चाहिये।

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम्।
न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥१९९॥

परोक्ष में भी गुरु का केवल नाम मात्र न लेवे। और गुरु के चलने, बोलने या किसी प्रकार की शारीरिक चेष्टा की नकल न करे।

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वाऽपि प्रवर्तते।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥२००॥

जहाँ गुरु का उपहास अथवा निन्दा होती हो वहाँ कानों को बन्द कर ले अथवा कहीं अन्यत्र चला जाय।

परीवादात्खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः।
परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी ॥२०१॥

गुरु का उपहास करने से मरने पर गधा, निन्दा करने से कुत्ता, उसकी सम्पत्ति का भोग करने से कृमि और ईर्ष्या करने से कीड़ा होता है।

दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः।
यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत् ॥२०२॥

दूर से गुरु की पूजा न करें, क्रोधित होकर या स्त्री के समीप होकर पूजा न करे। किसी सवारी पर रहते हुए गुरु के दर्शन हों तो सवारी से उतर कर गुरु को प्रणाम करे।

प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह।
असंश्रवे चैव गुरोर्न किञ्चिदपि कीर्तयेत् ॥२०३॥

गुरु के साथ शिष्य को इस प्रकार नहीं बैठना चाहिये कि अपनी शरीर से स्पर्श करती हुई हवा गुरु को लगे और गुरु को स्पर्श करती हुई अपने शरीर में लगे। किसी बात के तरफ गुरु ध्यान न देते हों और सुनना नहीं चाहते हों तो उस समय उनसे कुछ भी न कहे।

गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादस्त्रस्तरेषु कटेषु च ।
आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च ॥२०४॥

बैल, घोड़ा और ऊँट के सवारियों पर, कोठे, चटाई, पत्थर की चट्टान, चौकी और नाव पर गुरु के साथ बैठ सकते हैं।

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ।
न चानिसृष्टो गुरुणा स्वान्गुरूनभिवादयेत् ॥२०५॥

गुरु के समीप गुरु हों तो उनके साथ गुरु के ही तरह व्यवहार करे। गुरु के आज्ञा के बिना अपने गुरुजनों (माता-पितादि) को प्रणाम न करे।

विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु ।
प्रतिषेधत्सु चाधर्मान्हितं चोपदिशत्स्वपि ॥२०६॥

विद्या सिखाने वाले गुरु के साथ, अपने से बड़े सम्बन्धी जो अधर्म से बचाता हो और जो हितकर शिक्षा देता हो उनके साथ गुरु के समान ही व्यवहार करना चाहिये।

श्रेयःसु गुरुवद्वृत्तिं नित्यमेव समाचरेत् ।
गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्वबन्धुषु ॥२०७॥

अपने से श्रेष्ठजन, पूज्य गुरु पुत्र और गुरु के कुटुम्बियों के साथ नित्य गुरु के ही तरह व्यवहार करे।

बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि ।
अध्यापयन्गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति ॥२०८॥

गुरु का पुत्र अपने से उम्र में छोटा हो अथवा समान हो, शिष्य हो, यदि अध्यापन के योग्य है तो यज्ञकर्म में वह गुरु के समान ही सम्मान के योग्य है।

उत्सादनं च गात्राणां स्नापनोच्छिष्ट भोजने ।
न कुर्याद् गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम् ॥२०९॥

गुरु के पुत्र को मलना, नहलाना और उनका जूठा नहीं खाना चाहिये और उनके पैरों को नहीं धोना चाहिये।

गुरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोषितः ।
असवर्णास्तु संपूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनः ॥२१०॥

यदि गुरु की स्त्री सवर्णा (सजातीया) हों तो गुरु के समान ही ये पूजनीया हैं। यदि असवर्णा हों तो केवल प्रत्युत्थान (उठकर) और अभिवादन से सम्मान करना चाहिये।

अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च।
गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां च प्रसाधनम्॥२११॥

उबटन लगाना, स्नान कराना, देह दबाना और बाल बाँधना ये सब कार्य गुरु के स्त्री का नहीं करना चाहिये।

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः।
पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता॥२१२॥

गुण-दोष को जनाने वाला पूरे बीस वर्ष के उम्र वाले शिष्य को युवा गुरुपत्नी का पैर छूकर प्रणाम नहीं करना चाहिये।

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम्।
अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः॥२१३॥

पुरुषों को दूषित करना स्त्रियों का स्वभाव है, इसलिये विवेकी पुरुष युवती स्त्रियों के विषय में कभी प्रमाद नहीं करते।

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः।
प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम्॥२१४॥

इस संसार में जो काम क्रोध के वशीभूत हैं। चाहे मूर्ख हों या विद्वान् उनकी युवती स्त्री कुमार्ग में ले जाने में समर्थ होती है।

मात्रा स्वस्रा दुहित्रावा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥२१५॥

माता, बहन या बेटी के साथ एक आसन पर न बैठे क्योंकि बलवान् इन्द्रियों का समूह विद्वान् को भी अपनी तरफ खींच लेता है।

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि।
विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन्॥२१६॥

युवा शिष्य युवती गुरुपत्नियों को अपने नाम का उच्चारण करता हुआ विधिवत् प्रणाम करे।

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम्।
गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन्॥२१७॥

देशान्तर से आकर शिष्य शिष्ट पुरुषों के अनुसार बायें हाथ से बायाँ और दाहिने हाथ से दाहिने पैर को पृथ्वी को छूते हुये प्रतिदिन गुरुपत्नी का अभिवादन करे।

यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ २१८ ॥

जिस प्रकार फावड़े (जमीन खोदने का हथियार) से जमीन को खोदता हुआ मनुष्य जल को पा जाता है, उसी प्रकार गुरु की सेवा करता हुआ शिष्य भी गुरु के पास रहने वाली विद्या को पा जाता है।

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः ।
नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदयात्क्वचित् ॥ २१९ ॥

मुण्डन कराये हुये अथवा जटाधारी या शिखा की ही जटा रखे हो चाहे जैसा भी ब्रह्मचारी हो उसको गाँव में रहते हुये सूर्योदय और सूर्यास्त न होना चाहिये।

तं चेदभ्युदयात्सूर्यः शयानं कामचारतः ।
निम्लोचेद्वाऽप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम् ॥ २२० ॥

यदि सूर्योदय हो जाने पर भी इच्छावश ब्रह्मचारी सोया ही रह जाय तो दिनभर उपवास कर गायत्री का जप करे, इसी प्रकार न जानते हुए सूर्यास्त हो जाय तो दूसरे दिन जप और उपवास करे।

सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः ।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा ॥ २२१ ॥

यदि सोये रहने पर ही सूर्योदय और सूर्यास्त हो जाय तो ब्रह्मचारी को प्रायश्चित करना चाहिये, न करने से महापाप का भागी होता है।

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे संध्ये समाहितः ।
शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि ॥ २२२ ॥

पवित्र प्रदेश में चित्त को एकाग्र करके नित्य आचमन करके दोनों (प्रातः-सायं) संध्यायों को करके जप करता हुआ यथोक्त प्रकार से सूर्य की उपासना करे।

यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किञ्चित्समाचरेत् ।
तत्सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र वाऽस्य रमेन्मनः ॥ २२३ ॥

स्त्री या शूद्र किसी शुभ कर्म को करे तो वह ब्रह्मचर्य पूर्वक ही उस कर्म को करे अथवा शास्त्रोक्त जिस कर्म में मन लगे उसे ही करे।

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च ।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥ २२४ ॥

कोई धर्म और अर्थ को, कोई काम और अर्थ को और कोई केवल धर्म को अथवा केवल अर्थ को ही कल्याण कारक मानते हैं, किन्तु वास्तव में अर्थ, धर्म और काम ये तीनों कल्याण को देने वाले हैं।

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः ।
नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥२२५॥

आचार्य, पिता, माता और ज्येष्ठ भ्राता इन लोगों का अपमान दुःखी होने पर भी नहीं करना चाहिये, विशेषकर ब्राह्मण को कभी भी नहीं करना चाहिये।

आचार्यो ब्राह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः ।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः ॥२२६॥

आचार्य ब्रह्म की मूर्ति, पिता ब्रह्मा की, माता पृथ्वी की और भाई अपने आत्मा की मूर्ति होता है।

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम् ।
न तस्य निस्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥२२७॥

प्राणियों के उत्पत्ति में माँ-बाप को जो क्लेश सहना पड़ता है, उस क्लेश से वे सौ वर्षों में भी निस्तार नहीं पा सकते।

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा ।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥२२८॥

दोनों (माँ-बाप) और आचार्य को हमेशा प्रसन्न रखना चाहिये, इन तीनों के प्रसन्न रहने से सभी तपस्या पूरी हो जाती है।

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते ।
न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥२२९॥

इन तीनों की सेवा को ही परम तप कहते हैं, इनकी आज्ञा के बिना किसी अन्य धर्म को न करे।

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः ।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥२३०॥

वे ही (माता-पिता-आचार्य) तीनों लोक, तीनों आश्राम, तीनों वेद और तीनों अग्नि कहे गये हैं।

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः ।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥२३१॥

पिता गार्हपत्य अग्नि, माता दक्षिणाग्नि और गुरु आहवनीय अग्नि हैं तीनों अग्नि श्रेष्ठ हैं।

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान्विजयेद्गृही ।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते ॥ २३२॥

गृहस्थ इन तीनों में प्रमादहीन होने से तीनों लोकों को जीत लेता है अपने शरीर को तेजस्वी करके देवता की भाँति स्वर्ग में प्रसन्नता पूर्वक वास करता है।

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् ।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥ २३३॥

माता में भक्ति से इस लोक का, पितृभक्ति से मध्य लोक और गुरु की सेवा से ब्रह्मलोक के सुख को प्राप्त करता है।

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥ २३४॥

जिनके ये तीनों आदृत होते हैं उनके सभी धर्म आदरणीय होते हैं, जिसके (माता-पिता-गुरु) अनाहदृत होते हैं उसकी सभी क्रियायें आदरणीय नहीं होती हैं।

यावत् त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत् ।
तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्प्रियहिते रतः ॥ २३५॥

जब तक ये तीनों जीवित रहें, तब तक उनके प्रसन्न होने वाले कार्यों में तत्पर रहकर उनकी सेवा करें और किसी तरह का कोई अनुष्ठान न करें।

तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यद्यदाचरेत् ।
तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः ॥ २३६॥

उनकी सेवा में तत्पर रहते हुये उनकी आज्ञा से जो कुछ भी मन, वचन और कर्म से अनुष्ठानादि करे वह सब उनको निवेदित करे।

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते ।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ २३७॥

इन तीनों में ही पुरुष का कर्तव्य समाप्त हो जाता है, यही साक्षात् धर्म है, इससे दूसरे सभी उपधर्म कहे जाते हैं।

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥ २३८॥

उत्तम विद्या को नीच से भी लेनी चाहिये, चाण्डाल से भी मोक्षधर्म की शिक्षा लेनी चाहिये और नीच कुल से भी स्त्री रत्न को लेना चाहिये।

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम्।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम्॥२३९॥

विष से अमृत, बालक से सुन्दर बात, शत्रु से सदाचार और अपवित्र स्थान से सुवर्ण ले लेना चाहिये।

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम्।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः॥२४०॥

स्त्री, रत्न, विद्या, धन, पतिव्रता, अच्छे वचन, अनेक प्रकार की कारीगरी ये सब जहाँ से प्राप्त हो ले आना चाहिये।

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते।
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः॥२४१॥

आपत्तिकाल में अब्राह्मण से भी पढ़ने का विधान है, किन्तु ऐसे गुरु की सेवा अध्ययन काल तक ही करनी चाहिये।

नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत्।
ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन्गतिमनुत्तमाम्॥२४२॥

ब्राह्मणेतर गुरु के पास ब्राह्मण शिष्य अत्यन्त वास न करे। परमगति को चाहने वाला शिष्य वेद-वेदांत की शिक्षा न देनेवाले ब्राह्मण के पास भी न रहे।

यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरौ कुले।
युक्तः परिचरेदेनमाशरीरविमोक्षणात्॥२४३॥

यदि गुरु के यहाँ अत्यन्त वास करने की इच्छा हो तो गुरु के शरीर त्याग पर्यन्त उनकी सेवा करे।

आ समाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रुषते गुरुम्।
स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम्॥२४४॥

गुरु के शरीर त्याग पर्यन्त जो गुरु की सेवा करता है, वह हठात् श्रेष्ठ ब्रह्मलोक को पाता है।

न पूर्वं गुरवे किञ्चिदुपकुर्वीत धर्मवित्।
स्नास्यंस्तु गुरुणाऽऽज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत्॥२४५॥

धर्मज्ञाता शिष्य समावर्तन के पहले गुरु का कुछ भी उपकार न करे। व्रत समाप्ति के बाद गुरु से आज्ञा लेकर उन्हें यथा शक्ति दक्षिणा दे।

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम् ।
धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत् ॥ २४६ ॥

भूमि, सोना, गौ, घोड़ा, छाता, जूता, आसन, धान्य, शाक और वस्त्र गुरु के प्रसन्नार्थ दे।

आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते ।
गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद् वृत्तिमाचरेद् ॥ २४७ ॥

गुरु के शरीर त्याग करने पर गुणयुक्त गुरुपुत्र, गुरु की स्त्री और गुरु के भाइयों में गुरु के ही समान आचरण करे।

एतेष्वविद्यमानेषु स्नानासनविहारवान् ।
प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद्देहमात्मनः ॥ २४८ ॥

यदि इनमें कोई न हो तो गुरु के अग्नि के समीप ही स्नान, आसन और विहार करके अग्नि की सेवा करता हुआ अपने शरीर को मोक्ष प्राप्ति के लिये साधे।

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः ।
स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेहाजायते पुनः ॥ २४९ ॥

जो ब्राह्मण इस प्रकार अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करता है। वह ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। और फिर इस लोक में नहीं आता है।

इति द्वितीय अध्याय समाप्त ।

●

तृतीयोऽध्यायः (३)

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥१॥

गुरु के आश्रम में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता हुआ ३६ वर्ष तक अथवा १८ वर्ष या ९ वर्ष में ही तीनों वेदों को पढ़े, अथवा नियत समय से पहले या पीछे जितने दिनों में वेद पढ़ना समाप्त कर सके उतने ही दिनों तक पढ़े।

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ॥२॥

अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता हुआ क्रम से तीनों वेद, या दो वेद, या एक ही वेद पढ़कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे।

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः।
स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत्प्रथमं गवा ॥३॥

स्वधर्म प्रसिद्ध उस ब्रह्मचारी को जो पिता से या अन्य आचार्य से वेद पढ़ चुका हो, पुष्प-माला पहना कर शय्या पर बैठाकर पहले उसका मधुपर्क विधि से पूजन करना चाहिये।

गुरुणाऽनुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥४॥

(तब) गुरु से आज्ञा पाकर विधिपूर्वक समावर्तन संस्कार स्नानादि करके द्विज शुभ लक्षणयुक्त सजातीय कन्या से विवाह करे।

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥५॥

जो कन्या माता की सात पीढ़ी के भीतर की न हो, पिता के सगोत्र की न हो, वह द्विजातियों के व्याहने और सन्तानोत्पादन करने योग्य होती है।

महान्त्यपि समृद्धानि गोजाविधनधान्यतः।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥६॥

गाय, बैल, बकरी, भेड़ और धनधान्य से पूर्ण धनी होने पर भी (नीचे लिखे) कुलों से सम्बन्ध न करे।

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम्।
क्षय्यामयान्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥७॥

जो क्रियाहीन हों, जिनमें पुरुष सन्तति न होती हो, जो वेद के पठन-पाठन से रहित हों, जिनमें स्त्री-पुरुष के शरीरों पर बहुत और लम्बे केश हों, जिनमें अर्श (बवासीर), क्षय (राजयक्ष्मा), मन्दाग्नि, मृगी, श्वेत, दाग और कुष्ठ रोग जैसे रोग होते हैं।

नोद्वहेकत्कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम् ।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचालां न पिङ्गलाम् ॥८॥

जिस कन्या के बाल भूरे हों, जिसके अधिक अङ्ग हों (जैसे हाथ पैरों में छः ऊँगलियाँ हों), जो रुग्णा हो, जिसके शरीर में रोम न हो, या बहुत हों, जो बहुत बोलने वाली हो, जिसकी आँखें पीली हों, उसके साथ व्याह न करे।

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् ।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥९॥

नक्षत्र, वृक्ष, नदी, म्लेक्ष, पहाड़, पक्षी, साँप और दासी के नाम पर जिसका नाम हो उससे तथा डरावने नामवाली कन्या से व्याह न करे।

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तनुलोमकेशदशनां मृदङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम् ॥१०॥

जिसका कोई अङ्ग बिगड़ा न हो, जिसका सुन्दर नाम हो, हंस या हाथी की-सी मन्द गति हो, सूक्ष्म रोम, केश और छोटे दाँतों वाली और कोमलाङ्गी हो, उससे व्याह करे।

यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता ।
नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥११॥

जिसके भाई न हो अथवा जिसके बाप को कोई न जानता हो तो, पुत्रिका[1] धर्म की आशङ्का से बुद्धिमान् पुरुष उस लड़की के साथ व्याह न करे।

सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि ।
कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः ॥१२॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को पहले सवर्णा (स्वजाति की कन्या) से विवाह करना श्रेष्ठ होता है। कामवश विवाह करने वाले को क्रम से ये स्त्रियाँ भी श्रेष्ठ होती है। (यथा) –

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते ।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ॥१३॥

१. पुत्रिका उसे कहते हैं, पिता जिसके पुत्र से अपने पिण्ड-पानी की आशा करे।

शूद्र की शूद्रा ही स्त्री होती है। वैश्य को वैश्य वर्ण की और शूद्रा, क्षत्रिय को क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा, ब्राह्मण को चारों वर्णों की कन्या से व्याह करने का अधिकार है।

न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतोः ।
कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते ॥१४॥

ब्राह्मण और क्षत्रिय को सवर्णा स्त्री न मिलने पर भी शूद्रा को स्त्री बनाने का किसी भी इतिहास में आदेश नहीं पाया जाता।

हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः ।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससंतानानि शूद्रताम् ॥१५॥

जो द्विज मोहबश हीन जाति (शूद्र) की कन्या से व्याह करते हैं, वे सन्तान सहित अपने वंश को शीघ्र शूद्र बना देते हैं।

शूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च ।
शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतया भृगोः ॥१६॥

शूद्रा से व्याह करने वाला ब्राह्मण पतित होता है, यह अत्रि और उतथ्य पुत्र गौतम का मत है। शूद्रा से पुत्रोत्पन्न होने पर क्षत्रिय क्षत्रित्व से गिर जाता है, यह शौनक का मत है, इसी प्रकार शूद्रा से सन्तान होने से वैश्य भी पतित होता है, ऐसा भृगु का मत है।

शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् ।
जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥१७॥

ब्राह्मण शूद्रा के साथ शयन करने से अधोगति (नरक) को जाता है और उससे पुत्र उत्पन्न करके ब्राह्मणत्व से भी रहित हो जाता है।

दैवपित्र्यातिथेयानि तत्प्रधानानि यस्य तु ।
नाश्नन्ति पितृदेवास्तन्न च स्वर्गं स गच्छति ॥१८॥

विवाहिता शूद्रा के हाथ का बनाया हुआ हव्य-कव्य देवता, पितर ग्रहण नहीं करते। शूद्रापति ऐसे आतिथ्य से स्वर्ग भी नहीं पाता।

वृषलीफेनपीतस्य निःश्वासोपहतस्य च ।
तस्यां चैव प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥१९॥

जो शूद्रा के अधर-रस का पान करता है। उसके निःश्वास से अपने प्राणवायु को दूषित करता है और जो उसमें सन्तान उत्पन्न करता है, उसके निस्तार का कोई उपाय नहीं है।

चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितान् ।
अष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधत ॥ २० ॥

चारों वर्णों के इस लोक और परलोक में हिताहित के साधन करने वालों को आठ प्रकार के विवाहों को संक्षेप से कहता हूँ।

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ २१ ॥

१ ब्राह्म, २ दैव, ३ आर्ष, ४ प्राजापत्य, ५ आसुर, ६ गान्धर्व, ७ राक्षस, ८ पैशाच है, जो सबमें अधम है।

यो यस्य धर्म्यो वर्णस्य गुणदोषौ च यस्य यौ ।
तद्वः सर्वं प्रवक्ष्यामि प्रसवे च गुणागुणान् ॥ २२ ॥

धर्मानुकूल जिस वर्ण का विवाह है, जिसके जो गुणदोष हैं और जिस विवाह से उत्पन्न सन्तानों में जो गुण दोष होते हैं, उन सबको विशेष रूप से कहूँगा।

षडानुपूर्व्या विप्रस्य क्षत्रस्य चतुरोऽवरान् ।
विट्शूद्रयोस्तु तानेव विद्याद्धर्म्यानराक्षसान् ॥ २३ ॥

ब्राह्मण को आदि से छः प्रकार के विवाह, क्षत्रिय को आसुरादि क्रम से ४ प्रकार के और वैश्य तथा शूद्र को राक्षस रहित तीन प्रकार के विवाह धर्मानुकूल कहे गये हैं।

चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान्प्रशस्तान्कवयो विदुः ।
राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः ॥ २४ ॥

ब्राह्मण के लिये प्रथम चार विवाह (ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापात्य)। क्षत्रिय के लिये केवल राक्षस और वैश्य तथा शूद्र के लिये आसुर विवाह को पण्डितगण श्रेष्ठ समझते हैं।

पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ स्मृताविह ।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कदाचन ॥ २५ ॥

प्राजापत्य आदि पाँच विवाहों में तीन (प्राजापात्य, गान्धर्व और राक्षस) धर्मानुकूल और दो (आसुर और पैशाच) अधर्मयुक्त कहे गये हैं। इसलिये ब्राह्मण को किसी भी अवस्था में आसुर और पैशाच विवाह न करना चाहिये।

पृथक्पृथग्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचोदितौ ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ ॥ २६ ॥

पूर्व कथित गान्धर्व और राक्षस. दोनों विवाह पृथक्-पृथक् अथवा दोनों एक दूसरे में मिले हुए क्षत्रिय के लिये धर्मानुकूल हैं।

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥२७॥

अच्छे शील, स्वभाव वाले वर को स्वयं बुलाकर उसे अलंकृत और पूजित कर देना ब्राह्म विवाह है।

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते।
अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥२८॥

यज्ञ में सम्यक् प्रकार से कर्म करते हुए ऋत्विज को अलंकृत कर कन्या देने को दैव विवाह कहते हैं।

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥२९॥

वर से एक या दो जोड़े गाय, बैल धर्मार्थ लेकर विधिपूर्वक कन्या देने को आर्ष विवाह कहते हैं।

सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥३०॥

"तुम दोनों एक साथ गृहधर्म की रक्षा करो" यह कह कर और पूजन करके जो कन्यादान किया जाता है, वह प्राजापत्य विवाह कहलाता है।

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥३१॥

कन्या के पिता आदि को और कन्या को भी यथाशक्ति धन देकर स्वच्छन्दता पूर्वक कन्या को ग्रहण करना आसुर विवाह है।

इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः ॥३२॥

कन्या और वर की इच्छा से दोनों का संयोग होना गान्धर्व विवाह है। यह काम-भोग की इच्छा से होता है और यह मैथुन के लिये हितकर है।

हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥३३॥

(बाधा डालने वालों को) मार कर, घायल कर, घर के दरवाजे आदि को

तोड़ कर रोती हुई कन्या को घर से जबर्दस्ती हरण कर ले जाने का नाम राक्षस विवाह है।

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥३४॥

सोई हुई, मद से मतवाली या जो कन्या पागल हो उसके साथ एकान्त में संभोग करना विवाह में अत्यन्त निकृष्ट पापों से भरा हुआ आठवाँ पैशाच विवाह है।

अद्भिरेव द्विजाग्र्याणां कन्यादानं विशिष्यते ।
इतरेषां तु वर्णानामितरेतरकाम्यया ॥३५॥

ब्राह्मण को जलदान पूर्वक कन्यादान करना श्रेष्ठ है। क्षत्रिय आदि वर्णों को परस्पर की इच्छा मात्र से (दाता-ग्रहीता के वचन मात्र से) कन्यादान हो सकता है।

यो यस्यैषां विवाहानां मनुना कीर्तितो गुणः ।
सर्वं शृणुत तं विप्राः सर्वं कीर्तयतो मम ॥३६॥

इन विवाहों में जिसका जो गुण मनु ने कहा है, हे विप्रगण! वह सब कहता हूँ, सुनिये।

दश पूर्वान्परान्वंश्यानात्मानं चैकविंशकम् ।
ब्राह्मीपुत्रः सुकृतकृन्मोचयेदेनसः पितॄन् ॥३७॥

ब्राह्म विवाह से उत्पन्न धर्माचारी पुत्र दस पीढ़ी पीछे और दस पीढ़ी आगे के पितरों को और इक्कीसवें अपने को नरक से उद्धार करता है।

दैवोढाजः सुतश्चैव सप्त सप्त परापरान् ।
आर्षोढाजः सुतस्त्रींस्त्रीन्षट्षट् कायोढजः सुतः ॥३८॥

दैव विवाह से जो पुत्र उत्पन्न होता है, वह सात पीछे के और सात आगे के और आर्ष विवाह से उत्पन्न पुत्र तीन पीछे और तीन आगे को तथा प्राजापत्य से उत्पन्न पुत्र छः पीछे के और छः आगे के पुरुषों को तारता है।

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चातुर्ष्वेवानुपूर्वशः ।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसम्मताः ॥३९॥

क्रम से ब्राह्मादि चार विवाहों से ब्रह्मवर्चस, तेजस्वी और शिष्टजनों से मान्य पुत्र उत्पन्न होते हैं।

रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः ।
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥४०॥

ये रूपवान्, सात्त्विक तथा गुणी, धनवान्, यशस्वी, समृद्धशाली धार्मिक और शतायु होते हैं।

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः ।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥४१॥

शेष चार विवाहों से उत्पन्न पुत्र, निर्दयी झूठे, वेदनिन्दक और धर्मद्वेषी होते हैं।

अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा ।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत् ॥४२॥

कहे हुए श्रेष्ठ स्त्रियों के साथ विवाह करने से उससे श्रेष्ठ सन्तान उत्पन्न होते हैं और निन्दित विवाह से निन्दित सन्तान का जन्म होता है, इसलिये निन्द्य विवाह न करे।

पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णासूपदिश्यते ।
असवर्णास्वयं ज्ञेयो विधिरुद्वाहकर्मणि ॥४३॥

सवर्ण कन्या के विवाह में ही पाणिग्रहण-संस्कार बताया है। असवर्णा (भिन्न जातियों) के कन्या के विवाह में यह विधि है।

शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया ।
वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने ॥४४॥

ब्राह्मण के साथ क्षत्रिय बालिका विवाह के समय ब्राह्मण के हाथ में रखे हुए बाण का एक भाग पकड़े। वैश्य की कन्या ब्राह्मण और क्षत्रिय के हाथ में चाबुक को और शूद्र की लड़की ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के पहिने हुये वस्त्र के एक देश को पकड़े।

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा ।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥४५॥

ऋतुकाल में ही स्त्री-समागम करना चाहिये। सदा अपनी स्त्री से इच्छा से सन्तुष्ट रहना चाहिये। रति के पूर्व दिनों को छोड़कर अन्य दिनों में स्त्री समागम कर सकते हैं।

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडशस्मृताः ।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्भिगर्हितैः ॥४६॥

रजोदर्शन से निन्दित प्रथम चार दिन के बाद १६ रात्रि पर्यन्त स्त्रियों का ऋतुकाल रहता है।

तासामाद्याश्चतस्त्रस्तु निन्दितैकादशी च या ।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥४७॥

उन सोलह रात्रियों में प्रथम चार रात, ग्यारहवीं और तेरहवीं रात स्त्री-समागम के लिये निन्दित है।

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदातवे स्त्रियम् ॥४८॥

सम रात्रि में (अर्थात् छठीं, आठवीं, दसवीं, और चौदहीं तथा सोलहवीं रात को) स्त्री के साथ सहवास करने से पुत्र उत्पन्न होता है। विषम रात्रि में (अर्थात् पाँचवीं, सातवीं रात्रि में) स्त्री गमन से कन्या जन्म लेती है। इसलिये पुत्रार्थी को सम रात्रि में ऋतुकाल में स्त्री के साथ शयन करना चाहिये।

पुमान्पुन्सोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः ।
समेऽपुमान्पुंस्त्रियो या क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः ॥४९॥

पुरुष का वीर्य अधिक होने से पुत्र और स्त्री का रज अधिक होने से कन्या होती है। स्त्री पुरुष रज-वीर्य तुल्य होने से नपुंसक का जन्म होता है, या यमल सन्तान होती है। दूषित या अल्प वीर्य होने से गर्भ धारण नहीं होता।

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् ।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्रतत्राश्रमे वसन् ॥५०॥

जो पूर्वोक्त छः दूषित रात्रि के साथ अन्य और निन्दित आठ रात में स्त्री का त्याग कर केवल पर्वरहित दो रात में स्त्री संगम करता है, वह चाहे जिस आश्रम में रहे ब्रह्मचारी ही बना रहता है।

न कन्यया: पिता विद्वान्गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि ।
गृह्णच्छुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी ॥५१॥

बुद्धिमान् कन्या के पिता को कन्यादान के लिये थोड़ा भी धन न लेना चाहिये। लोभ से धन ग्रहण करने पर मनुष्य संतान बेचने वाला होता है।

स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः ।
नारी यानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम् ॥५२॥

जो पति पिता आदि सम्बन्धि-वर्ग मोहवश स्त्रीधन से (बेटी अथवा स्त्री आदि के) भूषण, वस्त्र और सवारी इत्यादि बेचकर गुजर करते हैं, वे पातकी नरकगामी होते हैं।

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत् ।
अल्पोऽप्येवं महान्वाऽपि विक्रयस्तावदेव सः ॥५३॥

आर्ष विवाह में गाय-बैल का एक जोड़ा शुल्क लेने को किसी ने कहा है वह मिथ्या ही है। थोड़ा ले या अधिक वह बेचना ही हुआ।

यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः ।
अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम् ॥५४॥

जिन कन्याओं के निमित्त वरपक्ष से दिया हुआ वस्त्राभूषणादि पिता-भ्राता आदि नहीं लेते प्रत्युत् कन्या को ही देते हैं। वह विक्रय नहीं है वह कुमारियों का पूजन है। इसमें कोई हिंसादि दोष नहीं है।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥५५॥

अधिक कल्याण को चाहने वाले, माँ, बाप, भाई, पति और देवरों को चाहिये कि कन्या का पूजन (सत्कार) करें और वस्त्रालङ्कारादि से भूषित करें।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥५६॥

जिस कुल में स्त्रियाँ पूजित (सम्मानित) होती हैं, उस कुल से देवता प्रसन्न होते हैं। जहाँ स्त्रियों का अपमान होता है, वहाँ सभी यज्ञादिक कर्म निष्फल होते हैं।

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥५७॥

जिस कुल में बहू-बेटियाँ क्लेश भोगती हैं, वह कुल शीघ्र नष्ट हो जाता है। किन्तु जहाँ इन्हें किसी तरह का दुःख नहीं होता वह कुल सर्वदा बढ़ता ही रहता है।

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥५८॥

सम्मानित न होने के कारण बहू-बेटियाँ जिन घरों को कोसती हैं। वे घर अभिचार से नष्ट होकर हर तरह से नाश होते हैं।

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥५९॥

इसलिये स्त्रियों को हमेशा भूषण, वसन और भोजन से संतुष्ट करना चाहिये। समृद्धि की इच्छावाले पुरुषों को नित्य मंगलकार्य और उत्सवों में स्त्रियों को भूषण-वसनादि से सन्तुष्ट रखना चाहिये।

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥६०॥

जिस कुल में स्त्री से स्वामी और स्वामी से स्त्री प्रसन्न रहती है, उस कुल में सदा कल्याण ही होता है।

यदि हि स्त्री न रोचेतं पुमांसं न प्रमोदयेत् ।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते ॥६१॥

यदि स्त्री प्रसन्न चित्त न हो तो वह स्वामी को आनन्दित नहीं कर सकती और स्वामी अप्रसन्न हो तो सन्तानोत्पादन नहीं होता।

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम् ।
तस्या त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥६२॥

(अलंकारादि में) स्त्री के रुचिकर होने से सारा कुल दीप्तियुक्त होता है। परन्तु स्त्री यदि असन्तुष्ट हो तो सारा कुल मलिन हो जाता है।

कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥६३॥

निन्दित (आसुर आदि) विवाहों में, जातकर्मादि क्रियाओं का लोप होने और वेद न पढ़ने से तथा ब्राह्मण का अपमान करने से ऊँचे कुलों की कुलीनता भी नष्ट हो जाती है।

शिल्पेन व्यवहारेण शूद्रापत्यैश्च केवलैः ।
गोभिरश्वैश्च यानैश्च कृष्या राजोपसेवया ॥६४॥

शिल्प कारीगरी, ब्याज का व्यवहार, केवल शूद्रा स्त्री में सन्तानोत्पत्ति, गाय, बैल, घोड़े, और गाड़ी के व्यापार, खेती और राज सेवा से तथा–

अयाज्ययाजनैश्चैव नास्तिक्येन च कर्मणाम् ।
कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानि मन्त्रतः ॥६५॥

यज्ञ के अनधिकारी से यज्ञ कराने और वेदोक्त कर्मों में नास्तिक बुद्धि रखने से तथा वेदाध्ययन से च्युत हो जाने से कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि ।
कुलसंख्या च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः ॥६६॥

थोड़े धनवाले कुल भी यदि वेदाध्ययन से समृद्ध हैं तो वे अच्छे कुलों में गिने जाते हैं और यशस्वी होते हैं।

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि ।
पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही ॥ ६७ ॥

गृही (गृहस्थ) विवाह के समय स्थापित अग्नि में यथाविधि गृह्योक्त कर्म (होम) करे, तथा नित्य पञ्चयज्ञ और पाक करे।

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।
कण्डनी चोदकुम्भश्च वध्यते यास्तु वाहयन् ॥ ६८ ॥

गृहस्थ के ये चूल्हा, चक्की, (सील, लुढ़िया आदि) झाड़ू, ऊखल, मूसल, पानी का घड़ा—पाँचों हिंसा के स्थान हैं, इनसे काम लेने से गृहस्थ पाप का भागी होता है।

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥ ६९ ॥

महर्षियों ने उन पापों के नाश के लिये गृहस्थों को प्रति दिन क्रम से पञ्चमहायज्ञ करने का आदेश दिया है।

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ ७० ॥

पितरों का तर्पण करना, वेद का पठन-पाठन, ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, होम करना, जीवों को अन्न की बलि देना और नृयज्ञ अतिथि का आदर-सत्कार करना ये ही पञ्चमहायज्ञ हैं।

पञ्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः ।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥ ७१ ॥

जो इन पाँच महायज्ञों को यथाशक्ति करता है, वह घर में नित्य रहकर भी हिंसा-दोषों से लिप्त नहीं होता।

देवताऽतिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः ।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥ ७२ ॥

जो देवता, अतिथि और माता-पिता आदि पोष्यवर्ग तथा अपना संरक्षण नहीं करता वह साँस लेता हुआ भी मृतक के समान है।

अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च ।
ब्राह्म्यं हुतं प्राशितं च पञ्चयज्ञान्प्रचक्षते ॥ ७३ ॥

अहुत, हुत, प्रहुत, ब्राह्म्यहुत और प्राशित, ये पञ्चयज्ञ कहलाते हैं।

जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः ।
ब्राह्म्यं हुतं द्विजाग्र्यार्चा प्राशितं पितृतर्पणम् ॥ ७४ ॥

ब्रह्मयज्ञसंज्ञक जप को अहुत कहते हैं। देवयज्ञसंज्ञक होम को हुत, भूतबलि को प्रहुत, अतिथि ब्राह्मयहुत ब्राह्मण सत्कार को और प्राशित पितृयज्ञसंज्ञक नित्यश्राद्ध को कहते हैं।

स्वाध्याये नित्युक्तः स्याद्दैवे चैवेह कर्मणि ।
दैवकर्मणि युक्तो हि विभर्तीदं चराचरम् ॥७५॥

दरिद्रता के कारण अतिथि के सत्कार में असमर्थ हो तो वह नित्य स्वाध्याय करे। क्योंकि, दैवकर्म में लगा हुआ पुरुष इस चराचर को धारण कर सकता है।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥७६॥

अग्नि में भलीभाँति से दी हुई आहुति सूर्य को प्राप्त होती है। सूर्य से वर्षा होती है, वर्षा से अन्न उपजता है, उससे प्रजा की उत्पत्ति होती है।

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥७७॥

जैसे वायु के आश्रय से सब प्राणी जीते हैं, वैसे ही सब आश्रम गृहस्थाश्रम के आश्रय से जीते हैं।

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥७८॥

तीनों आश्रमी (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी) गृहस्थों के द्वारा नित्य वेदार्थज्ञान की चर्चा और अन्नदान से उपकृत होते हैं, इस कारण सर्व आश्रमों में बड़ा गृहस्थाश्रम ही होता है।

स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियः ॥७९॥

अक्षय स्वर्ग पाने की इच्छा वाले को और इस लोक में भी सुख चाहने वाले को यत्नपूर्वक ऐसे गृहस्थाश्रम का पालन करना चाहिये। गृहस्थाश्रम का धारण करना दुर्बल इन्द्रियों से नहीं होता।

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा ।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ॥८०॥

ऋषि, पितर, देवता, जीवजन्तु और अतिथि, ये कुटुम्बियों में कुछ पाने की आशा रखते हैं, शास्त्रज्ञ पुरुष उन्हें संतुष्ट करे।

स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन्होमैर्देवान्यथाविधि ।
पितॄन्श्राद्धैश्च नृनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥८१॥

वेदाध्ययन से ऋषियों का, होम से देवताओं का, श्राद्ध और तर्पण से पितरों का, अन्न से अतिथियों का और बलिकर्म से प्राणियों का सत्कार करना चाहिये।

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।
पयोमूलफलैर्वाऽपि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥८२॥

अन्नादि से या जल से या दूध से या फल-फूलों से पितरों के प्रसन्नार्थ नित्य श्राद्ध करे।

एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थे पाञ्चयज्ञिके ।
न चैवात्रशयेत्कञ्चिद्वैश्वदेवं प्रति द्विजम् ॥८३॥

पञ्चयज्ञ के अन्तर्गत पितर के निमित्त एक ब्राह्मण को अवश्य भोजन करावे, पर वैश्वदेव के निमित्त ब्राह्मण को भोजन कराने की आवश्यकता नहीं।

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम् ।
आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥८४॥

वैश्वदेव के लिये पकाए अन्न से ब्राह्मण गार्हपत्य अग्नि में आगे कहे हुए देवताओं के लिये प्रतिदिन हवन करे।

अग्नेः सोमस्य चैवादौ तयोश्चैव समस्तयोः ।
विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्वन्तरय एव च ॥८५॥

पहले अग्नि और सोम को फिर दोनों को एक साथ 'अग्निसोमाभ्यां स्वाहा' ऐसा कहकर) आहुति दे, तदनन्तर विश्वेदेव और धन्वन्तरि को आहुति दे।

कुह्वै चैवानुमत्यै च प्रजापतय एव च ।
सहद्यावापृथिव्योश्च तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः ॥८६॥

(फिर) कुहू को, अनुमति को, प्रजापति को आहुति दे, द्यो:पृथिवी (द्यावा पृथिवीभ्यां) को एक साथ आहुति दे। अन्त में (अग्नयेस्विष्टकृते) स्विष्टकृत् अग्नि को आहुति दे।

एवं सम्यग्घविर्हुत्वा सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम् ।
इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्यो बलिं हरेत् ॥८७॥

इस प्रकार होम करके सारी दिशाओं में दक्षिण क्रम से इन्द्र, यम, वरुण और सोम को तथा साथ ही साथ उनके अनुयायियों को बलि देनी चाहिये।

(यथा पूर्व दिशा में इन्द्राय नमः इन्द्रपुरुषेभ्यो नमः', दक्षिण दिशा में यमाय नमः यमपुरुषेभ्यो नमः', पश्चिम दिशा में 'वरुणाय नमः वरुणपुरुषेभ्यो नमः', उत्तर दिशा में 'सोमाय नमः सोमपुरुषेभ्यो नमः'।

मरुद्भ्य इति तु द्वारि क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपि ।
वनस्पतिभ्य इत्येवं मुसलोलूखले हरेत् ॥८८॥

मरुत को द्वार पर, अप (जल) को जल में तथा वनस्पति को मूसल और उलूखल में बलि दे।

उच्छीर्षके श्रियै कुर्याद्भद्रकाल्यै च पादतः ।
ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां तु वास्तुमध्ये बलिं हरेत् ॥८९॥

वास्तु पुरुष के शीर्ष भाग (उत्तर-पूर्व दिशा) में लक्ष्मी को, पदप्रदेश (दक्षिण-पश्चिम दिशा) में भद्रकाली को, ब्रह्मा और वास्तुपति को वास्तु के मध्य भाग में बलि दे।

विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिमाकाश उत्क्षिपेत् ।
दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तञ्चारिभ्य एव च ॥९०॥

वैश्वदेव को आकाश में और दिनचर प्राणी को दिन में और रात्रिचर प्राणी को रात में बलि दे।

पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वात्मभूतये ।
पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत् ॥९१॥

वास्तु के पृष्ठभाग में सर्वात्मभूत को और बचे हुये अन्न को लेकर वास्तु के दक्षिण भाग में पितरों को बलि दे।

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि ॥९२॥

कुत्तों, पतितों, श्वपचों, पापरोगियों, कौओं, और कीड़े-मकोड़ों के लिये धरती पर धीरे से बलि रखे।

एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति ।
स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्तिं पथर्जुना ॥९३॥

इस प्रकार जो ब्राह्मण सब प्राणियों की नित्य पूजन करता है वह सीधे रास्ते से तेजोमय परमस्थान को जाता है।

कृत्वैतद् बलिकर्मैवमतिथिं पूर्वमाशयेत् ।
भिक्षां च भिक्षवे दद्याद्विधिवद् ब्रह्मचारिणे ॥९४॥

इस प्रकार बलि वैश्वदेव कर्म करके पहले अतिथि को भोजन करावे और संन्यासी तथा ब्रह्मचारी को उचित रीति से भिक्षा दे।

यत्पुण्यफलमाप्नोति गां दत्त्वा विधिवद् गुरोः ।
तत्पुण्यफलमाप्नोति भिक्षां दत्त्वा द्विजो गृही ॥९५॥

गुरु को विधिपूर्वक गौ देने से जो पुण्य फल प्राप्त होता है, वह गृहस्थ भिक्षा देने से प्राप्त करता है।

भिक्षामप्युदपात्रं वा सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ।
वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत् ॥९६॥

गृहस्थ अधिक अन्न के अभाव में थोड़ा सा भी पवित्र अन्न या जल विधिपूर्वक सत्कार करके वेद के तत्त्वार्थ जानने वाले ब्राह्मण को दे।

नश्यन्ति हव्यकव्यानि नराणामविजानताम् ।
भस्मीभूतेषु विप्रेषु मोहाद्दत्तानि दातृभिः ॥९७॥

दाता वेदाध्ययन रहित निस्तेज ब्राह्मणों को अज्ञानव‌ा जो हव्य-कव्य देवादि के तृप्त्यर्थ देता है वह निष्फल हो जाता है।

विद्यातपःसमृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु ।
निस्तारयति दुर्गाच्च महतश्चैव किल्विषात् ॥९८॥

विद्वान् और तपस्वी ब्राह्मणों की मुखाग्नि में दिया हुआ हव्य-कव्य (इस लोक में) अनेक प्रकार के संकटों से और (परलोक में) महान् पाप से बचाता है।

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके ।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥९९॥

स्वयं आये हुए अतिथि को पहले आसन और जल देना चाहिये। तदनन्तर सत्कार पूर्वक यथाशक्ति व्यञ्जनादि से युक्त अन्न खिलाना चाहिये।

शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः ।
सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वशन् ॥१००॥

फसल कटने पर खेत में गिरे हुए अन्न को चुनकर निर्वाह करने वाला और नित्य पञ्चाग्नि सेवन करने वाला भी पुरुष हो पर उसके यहाँ अतिथि का सत्कार न हो तो वह अतिथि उसका सारा पुण्य ले लेता है।

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥१०१॥

अतिथि के लिये तृणासन, ठहरने की जगह, पैर धोने के लिये पानी और मधुर और सत्य वाणी, इन चारों वस्तुओं का अभाव तो सज्जनों के यहाँ कभी नहीं होता।

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः ।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥१०२॥

दूसरे के घर एक रात जो ब्राह्मण निवास करे वह अतिथि है। उसका रहना नित्य नहीं होता, इसीसे वह अतिथि कहलाता है।

नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं साङ्गतिकं तथा ।
उपस्थितं गृहे विद्याद्भार्या यत्राग्नयोऽपि वा ॥१०३॥

उसी गाँव में रहने वाला, विचित्र कथाओं से अपनी जीविका चलाने वाला कोई मनुष्य यदि (वैश्वदेव कर्म के समय भी) अतिथि बनकर घर पर उपस्थित हो सपत्नीक अग्निहोत्री भी तो गृहस्थ उसे अतिथि न जाने।

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः ।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥१०४॥

जो गृहस्थ अज्ञान वश दूसरे का अन्न खाते फिरते हैं, वे उस दोष से जन्मान्तर में अन्नदाताओं के पशु होते हैं।

अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिना ।
काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन्गृहे वसेत् ॥१०५॥

सूर्यास्त के समय यदि कोई अतिथि (अभ्यागत) घर पर आवे तो उसे नहीं टालना चाहिये। अतिथि समय पर आवे या असमय में उसे भोजन अवश्य करा दे।

न श्रीवै स्वयं तदयादतिथिं यन्न भोजयेत् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वाऽतिथिपूजनम् ॥१०६॥

जो पदार्थ अतिथि को न परोसा जाय उसे न खाय। स्वयं अतिथि पूजन से धन, यश और आयु की वृद्धि होती है तथा जन्मान्तर में स्वर्ग सुख प्राप्त होता है।

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम् ।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम् ॥१०७॥

आसन, विश्राम स्थान, शय्या, अनुगमन और परिचर्य्या–ये अतिथियों की योग्यता देखकर करे, जो जैसे हों उसके साथ वैसा ही व्यवहार करे, अर्थात् बड़े-छोटे का ख्याल न रखकर उनके सम्मान की व्यवस्था करे।

वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यद्यन्योऽतिथिराव्रजेत् ।
तस्याप्यन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्न बलिं हरेत् ॥१०८॥

बलि वैश्वदेव कर्म समाप्त होने पर यदि दूसरा अतिथि आवे तो उसे भी पुन: पाक करके यथाशक्ति भोजन करावे। पर उस अन्न से "बलि" न करे।

न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत् ।
भोजनार्थं हि ते शंसन्वान्ताशीत्युच्यते बुधैः ॥१०९॥

भोजन के लिये ब्राह्मण किसी से अपने कुल गोत्र में निवेदन न करे, क्योंकि ऐसा करने वाले को पण्डितगण वमन भोक्ता कहते हैं।

न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे राजन्य उच्यते ।
वैश्यशूद्रौ सखा चैव ज्ञातयो गुरुरेव च ॥११०॥

यदि ब्राह्मण के घर क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, मित्र, बिरादरी के लोग और गुरु आवें तो अतिथि नहीं कहे जाते।

यदि त्वतिथिधर्मेण क्षत्रियो गृहमाव्रजेत् ।
भुक्तवत्सु च विप्रेषु कामं तमपि भोजयेत् ॥१११॥

यदि कोई क्षत्रिय अतिथि-रूप से घर पर आ जाय तो अतिथि ब्राह्मणों को भोजन करा के गृहस्थ उसे भी भोजन करा दें।

वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ ।
भोजयेत्सह भृत्यैस्तावानृशंस्यं प्रयोजयन् ॥११२॥

यदि वैश्य या शूद्र अतिथिरूप में ब्राह्मण के घर आ जायें तो उन्हें दया धर्मपूर्वक भृत्यों के साथ भोजन कराना चाहिये।

इतरानपि सख्यादीन्सम्प्रीत्या गृहमागतान् ।
प्रकृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत्सह भार्यया ॥११३॥

(क्षत्रियादिकों के अतिरिक्त अन्य) बान्धवों को भी जो प्रेम से अपने यहाँ आये हों पत्नी के भोजन के समय यथाशक्ति उत्तम भोजन कराना चाहिये।

सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीः स्त्रियः ।
अतिथिभ्योऽग्र एवैतान्भोजयेदविचारयन् ॥११४॥

नयी बहू, कन्या, रोगी और गर्भिणी स्त्रियाँ, इन सबको अतिथियों के पहले बिना बिचारे भोजन करा दें।

अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्तेऽविचक्षणः ।
स भुञ्जानो न जानाति श्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः ॥११५॥

जो अज्ञानी इन सबको न खिलाकर पहले स्वयं खाता है। वह यह नहीं जानता कि मरने के बाद उसके शरीर को कुत्ते और गीध नोंच-नोंच कर खायेंगे।

भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि ।
भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती ॥११६॥

पहले ब्राह्मणों और अपने भृत्यों को भोजन कराकर पीछे जो अन्न बचे वह पति-पत्नी भोजन करें।

देवानृषीन् मनुष्यांश्च पितॄन् गृह्याश्च देवताः ।
पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थः शेषभुग्भवेत् ॥११७॥

देवता, ऋषि, मनुष्य, पितर और गृह देवताओं का अन्नादि से पूजन करके पीछे बचा हुआ अन्न गृहस्थ भोजन करे।

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् ।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥११८॥

जो केवल अपने ही लिये भोजन बनाकर खाता है वह अन्न न खाकर केवल पाप खाता है। सज्जनों के लिये तो यज्ञावशिष्ट अन्न ही भोजन के लिये प्रशस्त है।

राजर्त्विक्स्नातकगुरून्प्रियश्वशुरमातुलान् ।
अर्हयेन्मधुपर्केण परिसंवत्सरात् पुनः ॥११९॥

राजा, यज्ञपुरोहित, स्नातक, गुरु, जँवाई, ससुर और मामा लोग जब एक वर्ष के बाद घर पर आयें तो मधुपर्क से इनकी पूजा करनी चाहिये।

राजा च श्रोत्रियश्चैव यज्ञकर्मण्युपस्थितौ ।
मधुपर्केण सपूज्यौ न त्वयज्ञ इति स्थितिः ॥१२०॥

राजा और श्रोत्रिय वैदिक यज्ञकर्म में उपस्थित हों तो मधुपर्क से पूजा करनी चाहिये, यज्ञातिरिक्त समय में नहीं।

सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत् ।
वैश्वदेवं हि नामैतत्सायं प्रातर्विधीयते ॥१२१॥

सायंकाल स्त्री बिना मन्त्र के सिद्धान्न की बलि दे। देव नामक कर्म गृहस्थ को सायं-प्रातः करना चाहिये।

पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य विप्रश्चेन्दुक्षयेऽग्निमान् ।
पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यान्मासानुमासिकम् ॥१२२॥

अग्निहोत्री ब्राह्मण अमावास्या तिथि में पितृयज्ञ करके प्रत्येक मास पिण्डान्वाहार्य्यक श्राद्ध करे।

पितॄणां मासिकं श्राद्धमन्वाहार्यं विदुर्बुधाः ।
तच्चामिषेण कर्तव्यं प्रशस्तेन प्रयत्नतः ॥१२३॥

पण्डितगण पितरों के इस मासिक श्राद्ध को अन्वाहार्य कहते हैं यत्नपूर्वक विहित मांस द्वारा करना चाहिये।

तत्र ये भोजनीयाः स्युर्ये च वर्ज्या द्विजोत्तमाः ।
यावन्तश्चैव यैश्चान्नैस्तान् प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥१२४॥

उस श्राद्ध में खिलाने योग्य और न खिलाने योग्य ब्राह्मणों को किन अन्नों से कितने ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिये। इत्यादि सब बातें कहता हूँ।

द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा ।
भोजयेत् सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्जेत विस्तरे ॥१२५॥

देवकार्य में दो, पितृश्राद्ध में तीन या दोनों में एक-एक ब्राह्मण को भोजन करावे। अधिक ब्राह्मण भोजन कराने का सामर्थ्य हो तो भी इस संख्या को न बढ़ावे।

सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसम्पदः ।
पञ्चैतान्विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम् ॥१२६॥

इस संख्या को बढ़ाने से संस्कार, देश, काल, पवित्रता और ब्राह्मणत्व श्राद्ध के इन पाँचों आवश्यक अंगों को साधने में बाधा पड़ती है। इसलिये संख्या नहीं बढ़ानी चाहिये।

प्रथिता प्रेतकृत्यैषा पित्र्यं नाम विधुक्षये ।
तस्मिन् युक्तस्यैति नित्यं प्रेतकृत्यैव लौकिकी ॥१२७॥

अमावास्या में जो पितृश्राद्ध किया जाता है उसे प्रेत कृत्य (पितृक्रिया) कहते हैं। उस कर्म में जो तत्पर रहता है, उसको नित्य लौकिकी प्रेतकृत्या प्राप्त होती है। अर्थात् उसके पुत्र पौत्रादि और धन की वृद्धि होती है।

श्रोत्रियायैव देयानि हव्यकव्यानि दातृभिः ।
अर्हत्तमाय विप्राय तस्मै दत्तं महाफलम् ॥१२८॥

दाता को वेदाध्यायी को ही हव्य कव्य देना चाहिये, क्योंकि उस पूज्यतम ब्राह्मण को देवान्न या श्राद्धान्न देने से बहुत फल होता है।

एकैकमपि विद्वांसं दैवे पित्र्ये च भोजयेत् ।
पुष्कलं फलमाप्नोति नामन्त्रज्ञान् बहूनपि ॥१२९॥

देवकर्म और पितृकर्म में एक भी विद्वान् ब्राह्मण भोजन कराने से जो

विशेष फल प्राप्त होता है, वह देव विद्या से विहीन बहुत ब्राह्मणों को खिलाने से भी नहीं होता।

दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम्।
तीर्थं तद्धव्यकव्यानां प्रदाने सोऽतिथिः स्मृतः ॥१३०॥

वेद निष्णात ब्राह्मण को दूर से (अर्थात् पहले उसके वंश परम्परा को और पवित्रता को जाँच ले) क्योंकि वह हव्य-कव्यों का पात्र और दान के लिये अतिथि के तुल्य पवित्र कहा गया है।

सहस्रं हि सहस्राणामनृचां यत्र भुञ्जते।
एकस्तान् मन्त्रवित् प्रीतः सर्वानर्हति धर्मतः ॥१३१॥

जिस श्राद्ध में वेदविहीन दस लाख ब्राह्मण भोजन करते हों उनमें यदि वेद जानने वाला एक ही ब्राह्मण प्रसन्न होकर भोजन करे तो वह अकेला ही सम्पूर्ण ब्राह्मण भोजन के दान के फल को देता है।

ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि कव्यानि च हवींषि च।
न हि हस्तावसृग्दिग्धौ रुधिरेणैव शुद्ध्यतः ॥१३२॥

जो विद्या में बड़ा हो, उसी को हव्य (देवान्न) और कव्य (पित्रन्न) देना चाहिये। क्योंकि लोहू से भींगे हुए हाथ लोहू से शुद्ध नहीं होते हैं।

यावतो ग्रसते ग्रासन् हव्यकव्येष्वमन्त्रवित्।
तावतो ग्रसते प्रेत्य दीप्तशूलर्ष्ट्यंयोगुडान् ॥१३३॥

वेद विद्यारहित ब्राह्मण हव्य कव्यों में जितने कौर खाते हैं, श्राद्धकर्ता के मरने के उतने ही आगे तपाये शूलर्ष्टि नाम लोहे के गोले खाने पड़ते हैं।

ज्ञाननिष्ठा द्विजाः केचित्तपोनिष्ठास्तथाऽपरे।
तपःस्वाध्यायनिष्ठाश्च कर्मनिष्ठास्तथाऽपरे ॥१३४॥

कोई ब्राह्मण ज्ञानी विद्वान्, कोई तपस्वी, कोई वेद व्रतनिष्ठ और कोई क्रियानिष्ठ होते हैं।

ज्ञाननिष्ठेषु कव्यानि प्रतिष्ठाप्यानि यत्नतः।
हव्यानि तु यथान्यायं सर्वेष्वेव चतुर्ष्वपि ॥१३५॥

ज्ञाननिष्ठों को यत्नपूर्वक कव्य (श्राद्धान्न) और शेष चारों ब्राह्मणों को यथायोग्य हव्य देना चाहिये।

अश्रोत्रियो पिता यस्य पुत्रः स्याद्वेदपारगः।
अश्रोत्रियो वा पुत्रः स्यात् पिता स्याद्वेदपारगः ॥१३६॥

जिसका पिता वेद न जानता हो और पुत्र वेदपारङ्गत हो अथवा बाप वेदपारङ्गत हो, बेटा वेद न जानता हो।

ज्यायांसमनयोर्विद्याद्यस्य स्याच्छ्रोत्रियः पिता।
मन्त्रसम्पूजनार्थं तु सत्कारमितरोऽर्हति ॥१३७॥

दोनों में बड़ा वही है जिसका बाप वेदविज्ञ है, किन्तु दूसरा केवल वेद पढ़ने के कारण सम्मानार्थ सत्कार पाने योग्य है।

न श्राद्धे भोजयेन्मित्रं धनैः कार्योऽस्य संग्रहः।
नारिं न मित्रं यं विद्यात्तं श्राद्धे भोजयेद् द्विजम् ॥१३८॥

श्राद्ध में मित्र को न खिलावे, किन्तु अन्य सत्कारों से मैत्री की रक्षा करे। जो शत्रु और मित्र न हो उसी ब्राह्मण को श्राद्ध में भोजन करावे।

यस्य मित्रप्रधानानि श्राद्धानि च हवींषि च।
तस्य प्रेत्य फलं नास्ति श्राद्धेषु च हविःषु च ॥१३९॥

जिनके श्राद्ध और हव्य में मित्र ही प्रधान होते हैं। (अर्थात् मित्रों को ही जिनमें भोजनादि कराया जाता है) उन्हें मरने पर हव्य-कव्य का फल नहीं होता।

यः सङ्गतानि कुरुते मोहाच्छ्राद्धेन मानवः।
स स्वर्गाच्च्यवते लोकाच्छ्राद्धमित्रो द्विजाधमः ॥१४०॥

जो मनुष्य अज्ञान से श्राद्ध द्वारा किसी के साथ मैत्री जोड़ता है, वह श्राद्धमित्र द्विजाधम स्वर्गलोक से वञ्चित होता है।

सम्भोजनी साऽभिहिता पैशाची दक्षिणा द्विजैः।
इहैवास्ते तु सा लोके गौरन्धेवैकवेश्मनि ॥१४१॥

जो मित्रादिकों के साथ भोजनादि से युत दान क्रिया होती है, उसे पैशाची दान-क्रिया कहते हैं, क्योंकि वह दान-दक्षिणा इसी लोक में रह जाती है, जैसे अन्धी गाय एक ही घर में रहती है।

यथेरिणे बीजमुप्त्वा न वप्ता लभते फलम्।
तथाऽनृचे हविर्दत्त्वा न दाता लभते फलम् ॥१४२॥

जैसे ऊसर में बीज बोने से बोने वाले को फल का लाभ नहीं होता, वैसे ही मूर्ख को हवि (देवान्न) देने वाले को कोई फल नहीं मिलता।

दातॄन् प्रतिग्रहीतॄंश्च कुरुते फलभागिनः।
विदुषे दक्षिणां दत्त्वा विधिवत् प्रेत्य चेह च ॥१४३॥

वेदविज्ञ ब्राह्मण को विधिपूर्वक दी जानेवाली दान-दक्षिणा इस लोक और परलोक में दाता और प्रतिग्रहीता दोनों को यथोक्त फल देती है।

कामं श्राद्धेऽर्चयेन्मित्रं नाभिरूपमपि त्वरिम् ।
द्विषता हि हविर्भुक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम् ॥ १४४ ॥

(विद्वान् ब्राह्मण के अभाव में) गुणवान् मित्र को सादर भोजन करावे पर विद्वान् शत्रु को नहीं। क्योंकि शत्रु का खाया हुआ श्राद्ध परलोक में निष्फल होता है।

यत्नेन भोजयेच्छ्राद्धे बह्वृचं वेदपारगम् ।
शाखान्तगमथाध्वर्युं छन्दोगं तु समाप्तिकम् ॥ १४५ ॥

श्राद्ध में यत्नपूर्वक ऐसे ब्राह्मण को जो बहुत ऋचाओं (मंत्रों) को जानने वाला वेदपारङ्गत हो अथवा जिसने वेद की कोई शाखा पूरी पढ़ी हो, या जिसने सम्पूर्ण वेद पढ़ा हो भोजन करावे।

एषामन्यतमो यस्य भुञ्जीत श्राद्धमर्चितः ।
पितॄणां तस्य तृप्तिः स्याच्छाश्वती साप्तपौरुषी ॥ १४६ ॥

ऐसा एक भी ब्राह्मण यदि पूजित होकर श्राद्ध में भोजन करें, तो श्राद्धकर्त्ता के पितरों को सात पीढ़ियों तक निरन्तर तृप्ति होती है।

येष वै प्रथमः कल्पः प्रदाने हव्यकव्ययोः ।
अनुकल्पस्त्वयं ज्ञेयः सदा सद्भिरनुष्ठितः ॥ १४७ ॥

हव्य-कव्य देने में यह मुख्य विचार हुआ। अब साधु पुरुषों ने जिस गौण विचार का सदा अनुष्ठान किया है वह इस प्रकार है।

मातामहं मातुलं च स्वीस्त्रीयं श्वसुरं गुरुम् ।
दौहित्रं विट्पतिं बन्धुमृत्विग्याज्यौ च भोजयेत् ॥ १४८ ॥

मातामह (नाना), मामा, भाँजा, श्वसुर, गुरु, दौहित्र, जामाता, मौसेरा-फुफेरा भाई, पुरोहित और यज्ञकर्त्ता–इनको श्राद्ध में भोजन करावे।

न ब्राह्मणं परीक्षेत दैवे कर्मणि धर्मवित् ।
पित्र्ये कर्मणि तु प्राप्ते परीक्षेत प्रयत्नतः ॥ १४९ ॥

धर्मज्ञ पुरुष दैवकर्म में ब्राह्मण की परीक्षा न करे। किन्तु पितृकर्म में (उसके आचार, विचार, विद्या, कुल शील की) अच्छी तरह परीक्षा करे।

ये स्तेनपतितक्लीबा ये च नास्तिकवृत्तयः ।
तान् हव्यकव्योर्विप्राननर्हान् मनुरब्रवीत् ॥ १५० ॥

जो चोर हों, पतित हों, नपुंसक हों, नास्तिक हों–वे ब्राह्मण हव्य-कव्य के योग्य नहीं हैं, ऐसा मनुजी ने कहा है।

जटिलं चानधीयानं दुर्बलं कितवं तथा ।
याजयन्ति च ये पूगांस्तांश्च श्राद्धे न भोजयेत् ॥१५१॥

वेदपाठ रहित, जटाधारी, ब्रह्मचारी, दुर्बल (अजितेन्द्रिय), जुआरी और ग्राम्य-पुरोहित–इनको श्राद्ध न खिलावे।

चिकित्सकान् देवलकान्मांसविक्रयिणस्तथा ।
विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याः स्युर्हव्यकव्ययोः ॥१५२॥

वैद्य, पुजारी (देवांश खाने वाले), मांस बेचने वाले और वणिक्वृत्ति से (व्यापार से) जीनेवाले ब्राह्मण देव और श्राद्ध दोनों में त्याज्य हैं।

प्रेष्यो ग्रामस्य राज्ञश्च कुनखी श्यावदन्तकः ।
प्रतिरोद्धा गुरोश्चैव त्यक्ताग्निर्वार्धुषिस्तथा ॥१५३॥

राजा या गाँव का दासकर्म करनेवाला, जिसके नख खराब हों, जिसके दाँत काले हों, गुरु की आज्ञा के प्रतिकूल चलने वाला, ब्राह्मण हव्य-कव्य में त्याज्य है।

यक्ष्मी च पशुपालश्च परिवेत्ता निराकृतिः ।
ब्रह्मद्विट् परिवितिश्च फणाभ्यन्तर एव च ॥१५४॥

यक्ष्मा (क्षय) रोगवाला, पशुओं को पालन कर गुजर करनेवाला परिवेत्ता[1] परिवित्ति[2] देव-पितृकर्मादि रहित, ब्राह्मण-द्वेषी और किसी लोकोपकार के लिये पैदा किये हुए धन में अपनी जीविका चलाने वाला ये सब देवकर्म और श्राद्ध में त्याज्य हैं।

कुशीलवोऽवकीर्णी च बृषलीपतिरेव च ।
पौनर्भवश्च काणश्च यस्य चोपपतिर्गृहे ॥१५५॥

नाचगान से जीविका चलानेवाला, ब्रह्मचर्यव्रत से रहित, कामति, ब्रह्मचारी या यती, शूद्रा स्त्री या जो पुनर्विवाहिता स्त्री का पुत्र है तथा काना और जिस घर में स्त्री का उपपति हो, ये सब देवकर्म और श्राद्ध में त्याज्य हैं।

भृतकाध्यापको यश्च भृतकाध्यापितस्तथा ।
शूद्रशिष्यो गुरुश्चैव वाग्दुष्टः कुण्डगोलकौ ॥१५६॥

वेतन लेकर पढ़ाने वाला, वेतन देकर पढ़ने वाला, शूद्र से पढ़ने वाला

---

१. जेठा भाई का विवाह न हुआ हो, किन्तु छोटे भाई का विवाह हुआ हो और वह अग्निहोत्र करता हो तो उसे परिवेत्ता कहते हैं।

२. परिवेत्ता के जेठे भाई को परिवित्ति कहते हैं।

या शूद्र को पढ़ाने वाला, कटुभाषी, सधवा या विधवा के पेट से परपुरुष द्वारा उत्पन्न ब्राह्मण देव और पित्र्य दोनों कार्यों में त्याज्य हैं।

अकारणपरित्यक्ता मातापित्रोर्गुरोस्तथा ।
ब्राह्मैर्यौनैश्च सम्बन्धैः संयोगं पतितैर्गतः ॥१५७॥

माता, पिता और गुरु को अकारण त्यागने वाला पतितों के साथ विवाहादि सम्बन्ध या पठन-पाठन का व्यवहार करने वाला त्याज्य है।

अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी ।
समुद्रयायी बन्दी च तैलिकः कूटकारकः ॥१५८॥

घर में आग लगाने वाला, विष देने वाला, जारज का अन्न खाने वाला, मादक वस्तु बेचने वाला, समुद्रयात्रा करने वाला, भाँट, तिलादि से तेल निकलने वाला और झूठी गवाही देने वाला त्याज्य है।

पित्रा विवदमानश्च कितवो मद्यपस्तथा ।
पापरोग्यभिशप्तश्च दाम्भिको रसविक्रयी ॥१५९॥

पिता के साथ वृथा विवाद करने वाला, जुआ खेलने वाला, शराबी, महारोगी, महापापवादयुक्त, दाम्भिक और रसों को बेचने वाला देवान्न-श्राद्धान्न के लिये उपयुक्त नहीं हैं।

धनुःशराणां कर्ता च यश्चाग्रेदिधिषूपतिः ।
मित्रध्रुग्द्यूतवृत्तिश्च पुत्राचार्यस्तथैव च ॥१६०॥

धनुष बाण बनाने वाला, उस कन्या से व्याह करने वाला जिसकी बड़ी बहन कुँवारी हो, मित्रद्रोही, द्यूत (जूआ) वृत्ति से निर्वाह करने वाला, बेटे से वेद पढ़ने वाला श्राद्धादि कर्म में त्याज्य है।

भ्रामरी गण्डमाली च श्वित्र्यथो पिशुनस्तथा ।
उन्मत्तोऽन्धश्च वर्ज्याः स्युर्वेदनिन्दक एव च ॥१६१॥

जिसे मृगी, गण्डमाला, श्वेतकुष्ठ जैसे रोग हों, चुगली खाने वाला, पागल, अन्धा और वेदनिन्दक श्राद्ध में वर्जित हैं।

हस्तिगोऽश्वोष्ट्रदमको नक्षत्रैर्यश्च जीवति ।
पक्षिणां पोषको यश्च युद्धाचार्यस्तथैव च ॥१६२॥

हाथी, बैल, घोड़े और ऊँट को शिक्षा देनें वाला, राशिनक्षत्र की गणना से जीवननिर्वाह करने वाला, पक्षियों को पालने वाला और युद्ध सिखाने वाला श्राद्धादि में त्याज्य हैं।

स्रोतसां भेदको यश्च तेषां चावरणे रतः ।
गृहसंवेशको दूतो वृक्षारोपक एव च ॥१६३॥

नदी के बहाव को दूसरी ओर ले जाने वाला अथवा उसके प्रवाह को रोकने वाला, वास्तुविद्या से जीविका चलाने वाला, प्यादे का काम करने वाला और पेड़ रोपने वाला श्राद्धादि कर्म में त्याज्य हैं।

श्वक्रीडी श्येनजीवी च कन्यादूषक एव च ।
हिंस्रो वृषलवृत्तिश्च गणानां चैव याजकः ॥१६४॥

कुत्ते के साथ क्रीड़ा करने वाला, बाज पक्षी द्वारा शिकार कर जीविका चलाने वाला, कन्या को दूषित करने वाला, हिंसारत, शूद्र की वृत्ति वाला और विनायक आदि गणों के यज्ञ करने वाला ये सब श्राद्धादि कर्म में त्याज्य हैं।

आचारहीनः क्लीबश्च नित्यं याचनकस्तथा ।
कृषिजीवी श्लीपदी च सद्भिर्निन्दित एव च ॥१६५॥

पूज्यजनों के प्रति शिष्टाचार-रहित और स्वधर्म पालन में कातर नित्य याचना करने वाला, खेती करके जीने वाला और पीलपांव वाला इन सबको पण्डितों ने श्राद्ध में निंदित बताया है।

औरभ्रिको माहिषिकः परपूर्वापतिस्तथा ।
प्रेतनिर्यातकश्चैव वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥१६६॥

भेड़ और भैंसों से जीविका चलानेवाला, विधवा से विवाह करने वाला और द्रव्य के लिये प्रेत का दाहादि करने वाला श्राद्ध में यत्न से त्याग देना चाहिये।

एतान् विगर्हिताचारानपाङ्क्तेयान् द्विजाधमान् ।
द्विजातिप्रवरो विद्वानुभयत्र विवर्जयेत् ॥१६७॥

इन निन्दित आचार वाले अपांक्तेय (पंक्ति में न बैठाने योग्य) अधम ब्राह्मणों को देवकर्म और पितृकर्म दोनों में विद्वान् त्याग दें।

ब्राह्मणस्त्वनधीयानस्तृणाग्निरिव शाम्यति ।
तस्मै हव्यं न दातव्यं न हि भस्मनि हूयते ॥१६८॥

वेदाध्ययन से हीन ब्राह्मण तिनके की आग के समान निस्तेज होता है। उसको हव्य नहीं देना चाहिये, क्योंकि भस्म राख में होम नहीं किया जाता।

अपाङ्क्तदाने यो दातुर्भवत्यूर्ध्वं फलोदयः ।
दैवे हविषि पित्र्ये वा तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥१६९॥

पांक्तेय ब्राह्मण को देवकर्म या श्राद्ध में भोजन कराने का जो फल होता है वह सब मैं अब कहूँगा।

अव्रतैर्यद् द्विजैर्भुक्तं परिवेत्रादिभिस्तथा ।
अपाङ्क्तेयैर्यदन्यैश्च तद्वै रक्षांसि भुञ्जते ॥१७०॥

ब्रह्मचर्य से हीन और परिवेत्ता आदि जितने अपांक्तेय ब्राह्मण हैं, उनका किया हुआ भोजन राक्षस के पेट में चला जाता है।

दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते ।
परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः ॥१७१॥

बड़े भाई के रहते यदि छोटा भाई व्याह कर ले और अग्निहोत्र की क्रिया करे तो वह परिवेत्ता और उसका बड़ा भाई परिवित्ति कहा जाता है।

परिवित्तिः परिवेत्ता यया च परिविद्यते ।
सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः ॥१७२॥

परिवित्ति, परिवेत्ता, और जिस कन्या से इनका विवाह होता है, कन्यादान करनेवाला और विवाह में होम करनेवाला, ये पांचों नरकगामी होते हैं।

भ्रातुर्मृतस्य भार्यानां योऽनुरज्येत कामतः ।
धर्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेयो दिधिषूपतिः ॥१७३॥

बड़े भाई के मरनेपर उसकी स्त्री से धर्मपूर्वक नियोग करने पर यदि कामवश वह उस स्त्री में अनुरक्त हो तो उसे दिधिषूपति कहते हैं।

परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ कुण्डगोलकौ ।
पत्यौ जीवति कुण्डः स्यान्मृते भर्तरि गोलकः ॥१७४॥

परस्त्रियों में कुण्ड और गोलक नामक दो पुत्र उत्पन्न होते हैं। जिसका स्वामी जीता हो उस स्त्री में दूसरे पुरुष से जो पुत्र जन्म ग्रहण करता है उसे कुण्ड और पति मरने पर जो अन्य पुरुष से पुत्र उत्पन्न होता है उसे गोलक कहते हैं।

तौ तु जातौ परक्षेत्रे प्राणिनौ प्रेत्य चेह च ।
दत्तानि हव्यकव्यानि नाशयेते प्रदायिनाम् ॥१७५॥

परस्त्रियों में उत्पन्न ये दोनों पुत्र (कुण्ड और गोलक) दाताओं के दिये हुए हव्य-कव्य को नष्ट करते हैं। इस लोक में या परलोक में कहीं भी दाता को फल नहीं मिलता।

अपाङ्क्त्यो यावतः पाङ्क्त्यान् भुञ्जानाननुपश्यति ।
तावतां न फलं तत्र दाता प्राप्नोति बालिशः ॥१७६॥

पांक्तेय ब्राह्मणों को श्राद्ध में भोजन करते समय, जितने अपांक्तेय

ब्राह्मणों की दृष्टि पड़ती है, श्राद्धकर्त्ता को उतने ब्राह्मणों को भोजन कराने का फल नहीं मिलता।

वीक्ष्यान्धो नवतेः काणः षष्टेः श्वित्री शतस्य तु।
पापरोगी सहस्रस्य दातुर्नाशयते फलम् ॥१७७॥

श्राद्ध में भोजन करने वाला एक अन्धा ९० सद्ब्राह्मणों को, काना ६० ब्राह्मणों को, श्वेतकुष्ठ वाला १०० ब्राह्मणों को और पाप रोगी दाता के १००० ब्राह्मणों को खिलाने का फल नाश करता है।

यावतः संस्पृशेदङ्गैर्ब्राह्मणाञ्छूद्रयाजकः।
तावतां न भवेद्दातुः फलं दानस्य पौर्तिकम् ॥१७८॥

शूद्रों का यज्ञ कराने वाला विप्र जितने ब्राह्मणों को अपने शरीर से स्पर्श करता है उतने ब्राह्मणों को भोजन कराने का पूरा फल श्राद्धकर्त्ता को नहीं मिलता।

वेदविच्चापि विप्रोऽस्य लोभात् कृत्वा प्रतिग्रहम्।
विनाशं व्रजति क्षिप्रमामपात्रमिवाम्भसि ॥१७९॥

वेद जानने वाला ब्राह्मण यदि लोभ से शूद्र पुरोहित का दान ले ले तो वह पानी में डाले हुए मिट्टी के कच्चे घड़े की तरह शीघ्र नष्ट हो जाता है।

सोमविक्रयिणे विष्ठा भिषजे पूयशोणितम्।
नष्टं देवलके दत्तमप्रतिष्ठं तु वार्धुषौ ॥१८०॥

सोमरस बेचने वाले को दिया हुआ श्राद्धान्न विष्ठा और वैद्य को दिया हुआ पीब लहू होकर प्राप्त होता है। देवांशभोजी को दिया हुआ नष्ट हो जाता है और सूद खाने वाले को देने से कोई फल नहीं होता।

यत्तु वाणिजके दत्तं नेह नामुत्र तद्भवेत्।
भस्मनीव हुतं हव्यं तथा पौनर्भवे द्विजे ॥१८१॥

वणिक्वृत्ति से जीने वाले को श्राद्धान्न खिलाने से इहलोक और परलोक दोनों में कुछ फल नहीं मिलता है। पुनर्विवाहिता स्त्री के पुत्र को दिया हुआ हव्य भी भस्म में डाली हुई आहुति के तुल्य निष्फल होता है।

इतरेषु त्वापाङ्क्त्येषु यथोद्दिष्टेष्वसाधुषु।
मेदोसृङ्मांसमज्जास्थि वदन्त्यन्नं मनीषिणः ॥१८२॥

अन्य अपांक्तेय और नीच वृत्ति वाले ब्राह्मण त्याज्य कहे गये हैं, उन्हें श्राद्धादि में दिया हुआ अन्न दाता के जन्मान्तर में मेद, मांस, रक्त, मज्जा और हड्डी होता है, ऐसा पण्डित लोग कहते हैं।

अपांक्त्योपहता पंक्तिः पाव्यते यैर्द्विजोत्तमैः ।
तान्निबोधत कात्स्न्र्येन द्विजाग्र्यान् पङ्क्तिपावनान् ॥१८३॥

अपांक्तियों (जो पंक्ति में बैठने में योग्य नहीं हैं) से दूषितपंक्ति जिन श्रेष्ठ ब्राह्मणों से पवित्र होती है, उन पंक्तिपावन ब्राह्मणों का पूरा परिचय सुनिये।

अग्र्याः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च ।
श्रोत्रियान्वयजांश्चैव विज्ञेयाः पंक्तिपावनाः ॥१८४॥

जो षडङ्ग सहित चारों वेदों में अग्रगण्य हों, श्रोत्रिय के वंश में जिनका जन्म हो, उन्हें पंक्तिपावन जानना चाहिये।

त्रिणाचिकेतः पञ्चाग्निस्त्रिसुपर्णः षडङ्गवित् ।
ब्रह्मदेयात्मसन्तानो ज्येष्ठसामग एव च ॥१८५॥

त्रिणाचिकेन (अर्थात् यजुर्वेद को पढ़कर उसमें कहे हुए व्रत को किया है) और अग्निहोत्री, त्रिसुपर्ण (ऋग्वेद का ज्ञाता या तदुक्त व्रत का व्रती) शिक्षा आदि छः अङ्गों का ज्ञाता तथा उसकी शिक्षा देने वाला, ब्राह्मविवाह से विधिपूर्वक ब्याही हुई स्त्री के गर्भ से उत्पन्न और आरण्यक उपनिषदों में गीयमान सामवेद का गाने वाला ये छः पंक्तिपावन हैं।

वेदार्थवित् प्रवक्ता च ब्रह्मचारी सहस्रदः ।
शतायुश्चैव विज्ञेया ब्राह्मणाः पंक्तिपावनाः ॥१८६॥

वेद का अर्थ जानने वाला, वेदवक्ता, ब्रह्मचारी, सहस्रों गौओं का दान करने वाला और सौ वर्ष का वृद्ध ब्राह्मण ये सभी पंक्तिपावन हैं।

पूर्वेद्युरपरेद्युर्वा श्राद्धकर्मण्युपस्थिते ।
निमन्त्रयेत त्र्यवरान्सम्यग्विप्रान् यथोदितान् ॥१८७॥

श्राद्धकर्म उपस्थित होने पर श्राद्ध के पहले दिन या उसी दिन पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त तीन ब्राह्मणों को विनयपूर्वक निमन्त्रण दे।

निमन्त्रितो द्विजः पित्र्ये नियतात्मा भवेत्सदा ।
न च छन्दांस्यधीयीत यस्य श्राद्धं च तद्भवेत् ॥१८८॥

श्राद्ध में निमन्त्रित ब्राह्मण (निमन्त्रण पाने के समय से) संयतेन्द्रिय होकर रहे। नित्य के कर्म जपादि के अतिरिक्त अन्य वेदपाठ न करे। श्राद्धकर्त्ता भी इस नियम का पालन करे।

निमन्त्रितान् हि पितर उपतिष्ठन्ति तान्द्विजान् ।
वायुवच्चानुगच्छन्ति तथासीनानुपासते ॥१८९॥

उन निमन्त्रित ब्राह्मणों में पितर गुप्त रूप से निवास करते हैं। प्राणवायु की भाँति उनके चलते समय वे चलते हैं और बैठते हैं।

केतितस्तु यथान्यायं हव्यकव्ये द्विजोत्तमः ।
कथञ्चिदप्यतिक्रामन् पापः सूकरतां व्रजेत् ॥१९०॥

देवकर्म या पितृकर्म में निमन्त्रित ब्राह्मण निमन्त्रण स्वीकार करके किसी कारण से यदि भोजन न करें तो उस पाप से जन्मान्तर में वह सूअर होता है।

आमन्त्रितस्तु यः श्राद्धे वृषल्या सह मोदते ।
दातुर्यद् दुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥१९१॥

यदि श्राद्ध में निमन्त्रित ब्राह्मण शूद्रा के साथ विहार करता है, तो यह श्राद्धकर्त्ता के किये हुए सभी पापों को स्वयं भोगता है।

अक्रोधनाः शौचपराः सततं ब्रह्मचारिणः ।
न्यस्तशस्त्रा महाभागाः पितरः पूर्वदेवताः ॥१९२॥

क्रोधरहित, अन्तर्वहिःशुद्धि से युक्त, सर्वदा ब्रह्मचारी न्यस्त शस्त्र इत्यादि गुणों से युक्त अनादि देवतारूप, पितर होते हैं।

यस्मादुत्पत्तिरेतेषां सर्वेषामप्यशेषतः ।
ये च यैरुपचर्याः स्युर्नियमैस्तान्निबोधत ॥१९३॥

जिसके द्वारा सब पितरों की उत्पत्ति हुई है, जो पितर हैं, निज नियमों से उनकी उपचर्या करनी चाहिये, यह सब विषय अब सुनिये।

मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः ।
तेषामृषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः ॥१९४॥

हिरण्यगर्भ के पुत्र मनुजी के जो मरीचि आदि पुत्र हैं उन सब ऋषियों के पुत्र ही पितर कहे गये हैं।

विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः ।
अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः ॥१९५॥

विराट् के पुत्र सोमसद साध्यगण के पितर हैं। मरीचि के प्रसिद्ध पुत्र अग्निष्वाता देवताओं के पितर हैं।

दैत्यदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
सुपर्णकिन्नराणां च स्मृता बर्हिषदोऽत्रिजाः ॥१९६॥

अत्रि के पुत्र बर्हिषद दैत्य, दानव, यक्ष, गन्धर्व, नाग, राक्षस, सुपर्ण और किन्नरों के पितर हैं।

सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः ।
वैश्यानामाज्यपा नाम शूद्राणां तु सुकालिनः ॥१९७॥

ब्राह्मणों के पितर सोमप, क्षत्रियों के हविष्मन्त, वैश्यों के आज्यप और शूद्रों के सुकालिन हैं।

सोमपास्तु कवेः पुत्रा हविष्मन्तोऽङ्गिरःसुताः ।
पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्रा वसिष्ठस्य सुकालिनः ॥१९८॥

सोमप भृगु के, हविष्मन्त अङ्गिरा के, आज्यप पुलस्त्य के और सुकालिन वशिष्ठ के पुत्र हैं।

अग्निदग्धानग्निदग्धान् काव्यान् बर्हिषदस्तथा ।
अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत् ॥१९९॥

अग्निदध, अनग्निग्ध, काव्य, बर्हिषद, अग्निष्वात्ता और सौम्य ये ब्राह्मणों के पितर हैं।

य एते तु गणा मुख्याः पितृणां परिकीर्तिताः ।
तेषामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ॥२००॥

पितरों के जो इतने मुख्य गण हैं उनके भी अखंख्य पुत्र पौत्रादि हैं।

ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः ।
देवेभ्यस्तु जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः ॥२०१॥

ऋषियों से पितर, पितरों से देवता और मनुष्य उत्पन्न हुए है। देवताओं से यह सारा चराचर जगत् क्रम से उत्पन्न हुआ है।

राजतैर्भाजनैरेषामथो वा राजतान्वितैः ।
वार्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते ॥२०२॥

इन पितरों को चाँदी के बर्तन में या चाँदी मिले ताँबे के पात्रों में श्रद्धा से दिया हुआ जल अक्षय सुख के लिये होता है।

देवकार्याद् द्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते ।
दैवं हि पितृकार्यस्य पूर्वमाप्यायनं श्रुतम् ॥२०३॥

द्विजातियों का देवकर्म से पितृकर्म विशेष है, क्योंकि देवकर्म पितृकर्म का ही सदा परिपूरक कहा गया है।

तेषामारक्षभूतं तु पूर्वं दैवं नियोजयेत् ।
रक्षांसि हि विलुम्पन्ति श्राद्धमारक्षवर्जितम् ॥२०४॥

उन पितरों के रक्षास्वरूप दैवकर्म (वैश्वदेव) पहले श्राद्ध को रक्षा रहित राक्षस लोप कर देते हैं।

दैवाद्यन्तं तदीहेत पित्राद्यन्तं न तद्भवेत्।
पित्राद्यन्तं त्वीहमानः क्षिप्रं नश्यन्ति सान्वयः ॥२०५॥

श्राद्धकर्म का आदि और अन्त भी देवकर्म से ही करे, पित्राद्यन्त न करे। पित्राद्यन्त जो श्राद्ध करता है वह सवंश नष्ट होता है।

शुचिं देशं विविक्तं च गोमयेनोपलेपयेत्।
दक्षिणाप्रवणं चैव प्रयत्नेनोपपादयेत् ॥२०६॥

श्राद्ध का स्थान पवित्र और निर्जन हो। उसको गोबर से लीप पोत दे। पिण्ड स्थान दक्षिण और ढालुआँ हो। ऐसा बनाना चाहिए।

अवकाशेषु चोक्षेषु नदीतीरेषु चैव हि।
विविक्तेषु च तुष्यन्ति दत्तेन पितरः सदा ॥२०७॥

उपवन या वन की पवित्र भूमि में या नदी तट या निर्जन स्थान में पिण्डदान आदि से पितर सदा सन्तुष्ट होते हैं।

आसनेषूपक्लृप्तेषु बर्हिष्मत्सु पृथक्पृथक्।
उपस्पृष्टोदकान् सम्यग्विप्रांस्तानुपवेशयेत् ॥२०८॥

सम्यक् प्रकार से स्नान और आचमन किये हुए उन निमन्त्रित ब्राह्मणों को पृथक्-पृथक् कुशासन पर बैठावे।

उपवेश्य तु तान्विप्रानासनेष्वजुगुप्सितान्।
गन्धमाल्यैः सुरभिभिरर्चयेद् देवपूर्वकम् ॥२०९॥

उन ब्राह्मणों को आसन पर बैठाकर चन्दन, माला और धूप आदि से देवपूर्वक पूजन करे। (पहले वैश्वदेव निमित्तक पीछे पितृनिमित्तक ब्राह्मण का)।

तेषामुदकमानीय सपवित्रांस्तिलानपि।
अग्नौ कुर्यादनुज्ञातो ब्राह्मणो ब्राह्मणैः सह ॥२१०॥

उन ब्राह्मणों को तिल और कुश से अर्घ्य देकर, उनसे आज्ञा लेकर, श्राद्धकर्त्ता अग्नि में मन्त्र पूर्वक होम करे।

अग्नेः सोमयमाभ्यां च कृत्वाप्यायनमादितः।
हविर्दानेन विधिवत् पश्चात्सन्तर्पयेत्पितॄन् ॥२११॥

पहले अग्नि, सोम और यम के निमित्त विधिपूर्वक पर्युक्षण करके हविष्य देकर पीछे पिण्डदानादि से पितरों को तृप्त करे।

अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत् ।
यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मन्त्रदर्शिभिरुच्यते ॥ २१२॥

अग्नि के अभाव में ब्राह्मण के हाथ में ही पूर्वोक्त देवताओं के निमित्त आहुति दे। वेद मन्त्र के तत्त्वदर्शियों ने ब्राह्मण और अग्नि को एक ही कहा है।

अक्रोधनान्सुप्रसादान्वदन्त्येतान्पुरातनान् ।
लोकस्याप्यायने युक्ताञ्छ्राद्धदेवान्द्विजोत्तमान् ॥ २१३॥

जो क्रोधरहित, प्रसन्नमुख, और लोकोपकार में निरत हैं, ऐसे श्रेष्ठ ब्राह्मणों को मुनियों ने श्राद्ध के लिये देवतुल्य कहा है।

अपसव्यमग्नौ कृत्वा सर्वमावृत्य विक्रमम् ।
अपसव्येन हस्तेन निर्वपेदुदकं भुवि ॥ २१४॥

अपसव्य (जनेऊ को दाहिने कंधे पर रखकर) (पितृकर्म के आरम्भ में देवताओं के निमित्त) अग्नि में होम करे इसके बाद दाहिने हाथ से पिण्ड रखने की जगह में, जल का प्रक्षेप करे।

त्रींस्तु तस्माद्धविःशेषात्पिण्डान्कृत्वा समाहितः ।
औदकेनैव विधिना निर्वपेद्दक्षिणामुखः ॥ २१५॥

इसके बाद एकाग्रचित होकर होम से बचे हुए अन्न का तीन पिण्ड बनाये। उन पिंडों को उदक (जल) से विधि पूर्वक अभिषिक्त कर दक्षिण ओर मुँह करके उन पिण्डों को उनके स्थान में रखे।

न्युप्य पिण्डांस्ततस्तांस्तु प्रयतो विधिपूर्वकम् ।
तेषु दर्भेषु तं हस्तं निमृज्याल्लेपभागिनाम् ॥ २१६॥

उन पिण्डों को विधिपूर्वक कुशों पर रखकर कुशों के मूल में लेप भाग पितरों की तृप्ति के लिये अपना हाथ पोछ लेवे।

आचम्योदक्परावृत्य त्रिराचम्य शनैरसून् ।
षड्ऋतूंश्च नमस्कुर्यात्पितृणेव च मन्त्रवित् ॥ २१७॥

इसके बाद आचमन कर उत्तराभिमुख तीन बार प्राणायाम करके छः ऋतुओं को और पितरों को नमस्कार करे।

उदकं निनयेच्छेषं शनैः पिण्डान्तिके पुनः ।
अवजिघ्रेच्च तान्पिण्डान्यथान्युप्तान्समाहितः ॥ २१८॥

पिण्डदान के पहले भूमि पर जल छोड़ने के पश्चात् बचे हुये जल को पुनः प्रत्येक पिण्ड के समीप छोड़े और उन पिण्डों को जिस क्रम से जल दिया हो उसी क्रम से एक-एक को सूंघे।

पिण्डेभ्यस्त्वल्पिकां मात्रां समादायानुपूर्वशः ।
तेनैव विप्रानासीनान्विधिवत्पूर्वमाशयेत् ॥ २१९॥

पिण्डान्न से थोड़ा-थोड़ा भाग लेकर, भोजन के पूर्व उन आमन्त्रित (पितृ-पितामह-प्रपितामह रूप) ब्राह्मणों को यथाक्रम खिलावे।

ध्रियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत् ।
विप्रवद्वाऽपि तं श्राद्धे स्वकं पितरमाशयेत् ॥ २२०॥

यदि पिता जीवित हों तो पितामहादि पितरों का श्राद्ध करे और उन्हीं को पिण्ड दे, और अपने जीवित पिता को ब्राह्मण के स्थान में भोजन करावे।

पिता यस्य निवृत्तः स्याज्जीवेच्चापि पितामहः ।
पितुः स नाम सङ्कीर्त्य कीर्तयेत्प्रपितामहम् ॥ २२१॥

जिसका पिता मर गया हो और पितामह (बाबा) जीवित हो वह पितामह को छोड़ पिता और प्रपितामह का श्राद्ध करे।

पितामहो वा तच्छ्राद्धं भुञ्जीतेत्यब्रवीन्मनुः ।
कामं वा समनुज्ञातः स्वयमेव समाचरेत् ॥ २२२॥

श्राद्ध में पिता को खिलाने की जो विधि कही गयी है उसी विधि से पितामह जीता हो तो उसे भी खिलावे अथवा पितामह अपने लिये जो आज्ञा दे वही करे।

तेषां दत्त्वा तु हस्तेषु सपवित्रं तिलोदकम् ।
तत्पिण्डाग्रं प्रयच्छेत स्वधैषामस्त्विति ब्रुवन् ॥ २२३॥

उन ब्राह्मणों के हाथों में पवित्र कुश सहित तिलोदक देकर पूर्वोक्त पिण्डों में से थोड़ा उन्हें दे।

पाणिभ्यां तूपसंगृह्य स्वयमन्नस्य वर्धितम् ।
विप्रान्तिके पितॄन् ध्यायञ्शनकैरुपनिक्षिपेत् ॥ २२४॥

भोजन की सामग्रियों से भरे पात्र को दोनों हाथों से धीरे-धीरे लाकर पितरों का ध्यान करता हुआ ब्राह्मणों के समीप रखे।

उभयोर्हस्तयोर्मुक्तं यदन्नमुपनीयते ।
तद्विप्रलुम्पन्त्यसुराः सहसा दुष्टचेतसः ॥ २२५॥

परोसने के लिये जो अन्न एक हाथ से लाया जाता है उसे दुष्ट बुद्धि राक्षस सहसा हरण कर लेते हैं।

गुणांश्च सूपशाकाद्यान् पयो दधि घृतं मधु ।
विन्यसेत् प्रयतः पूर्वं भूमावेव समाहितः ॥ २२६॥

पहले अचार, चटनी, रायता आदि व्यञ्जन, सूप, शाकादि तथा दूध, दही, घी और मधु आदि सब पदार्थ यत्नपूर्वक सावधानी से भूमि पर ही लाकर रखे।

भक्ष्यं भोज्यं च विविधं मूलानि च फलानि च ।
हृद्यानि चैव मांसानि पानानि सुरभीणि च ॥ २२७॥

विविध प्रकार के भक्ष्य, भोज्य, फल, मूल, रोचक मांस और सुगन्धित जलादि, ये सब चीजे भी रखे।

उपनीय तु तत्सर्वं शनकैः सुसमाहितः ।
परिवेषयेत् प्रयतो गुणान् सर्वान् प्रचोदयन् ॥ २२८॥

बड़ी सावधानी से भोजन की सब वस्तुयें लाकर उनके गुण वर्णन करते हुए परोसे।

नास्त्रमापातयज्जातु न कुप्येन्नानृतं वदेत् ।
न पादेन स्पृशेदन्नं न चैतदवधूनयेत् ॥ २२९॥

ब्राह्मण-भोजन के समय कदापि आँसू न गिरावे, क्रोध न करें, झूठ न बोले, पैर से अन्न को न छूये और न उसे परोसते हुए हिलावे।

अस्त्रं गमयति प्रेतान् कोपोऽरीननृतं शुनः ।
पादस्पर्शस्तु रक्षांसि दुष्कृतीनवधूननम् ॥ २३०॥

आँसू गिराने से श्राद्धान्न भूतों को, क्रोध करने से शत्रुओं को, झूठ बोलने से कुत्तों को, पैर छुआने से राक्षसों को और उछालने से पापियों को प्राप्त होता है।

यद्यद्रोचेत विप्रेभ्यस्तत्तद्दद्यादमत्सरः ।
ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्यात्पितृणामेतदीप्सितम् ॥ २३१॥

ब्राह्मणों को जो वस्तु अच्छी लगे वह प्रसन्न होकर उन्हें देवें। परमात्मा के सम्बन्ध की कथा-वार्ता करे क्योंकि पितरों को यही कथा प्रिय लगती है।

स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि ।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च ॥ २३२॥

श्राद्ध में वेद, धर्मशास्त्र, आख्यान इति (महाभारत आदि), पुराण (ब्रह्मपुराण आदि) और खिल (श्री सूक्तादि) पितरों को सुनावे।

हर्षयेद् ब्राह्मणांस्तुष्टो भोजयेच्च शनैः शनैः ।
अन्नाद्येनासकृच्चैतान् गुणैश्च परिचोदयेत् ॥ २३३॥

प्रसन्न होकर ब्राह्मणों को हर्षित करे। उन्हें धीरे-धीरे भोजन करावे। खाद्य-पदार्थों के गुणों का वर्णन करते हुए बार-बार उन्हें लेने के लिये आग्रह करे।

व्रतस्थमपि दौहित्रं श्राद्धे यत्नेन भोजयेत्।
कुतपं चासने दद्यात्तिलैश्च विकिरेन्महीम्॥२३४॥

यदि कन्या का पुत्र ब्रह्मचारी हो तो भी उसे श्राद्ध में यत्न पूर्वक भोजन करावे। नेपाली कम्बल उन्हें बैठने के लिये दे और जिस स्थान पर श्राद्ध करना हो वहाँ तिलों को छिड़क दे।

त्रीणी श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः।
त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम्॥२३५॥

दौहित्र, कुतप[1] और तिल, ये तीनों श्राद्ध में पवित्र कहे गये हैं और शौच (पवित्रता) शान्तचित्तता तथा स्थिरता, इन तीनों की प्रशंसा की गयी है।

अत्युष्णं सर्वमन्नं स्याद् भुञ्जीरंस्ते च वाग्यताः।
न च द्विजातयो ब्रूयूर्दात्रा पृष्टा हविर्गुणान्॥२३६॥

भोजन के सभी पदार्थ अधिक गरम रहें और ब्राह्मण मौन हो करके उन पदार्थों को खायें। श्राद्धकर्त्ता भोज्य वस्तुओं का गुणदोष पूछे तो भी ब्राह्मण कुछ न बतलायें।

यावदुष्णं भवत्यन्नं यावदश्नन्ति वाग्यताः।
पितरस्तावदश्नन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः॥२३७॥

जब तक अन्न गरम रहता है, और ब्राह्मण मौन होकर भोजन करते हैं और जब तक भोज्य वस्तुओं के गुण नहीं बतलाते तब तक पितर भोजन करते हैं।

यद्वेष्टितशिरा भुङ्क्ते यद् भुङ्क्ते दक्षिणामुखः।
सोपानत्कश्च यद् भुङ्क्ते तद्वै रक्षांसि भुञ्जते॥२३८॥

सिर में पगड़ी बाँध कर या दक्षिण ओर मुँह करके या खड़ाऊँ पहन कर जो भोजन किया जाता है-वह राक्षस खा जाते हैं।

चाण्डालश्च वराहश्च कुक्कुटः श्वा तथैव च।
रजस्वला च षण्ढश्च नेक्षेरन्नश्नतो द्विजान्॥२३९॥

चाण्डाल, सूअर, मुर्गा, कुत्ता, रजस्वला स्त्री और नपुंसक–ये भोजन करते समय ब्राह्मणों को न देखें।

---

१. शीतातप के मत से–दिवसस्याष्टमे भागे मन्दी भवति भास्करः। स कालः कुतपो ज्ञेयः पितृणामन्नभक्षयम्।

होमे प्रदाने भोज्ये च यदेभिरभिवीक्ष्यते ।
दैवे कर्मणि पित्र्ये वा तद् गच्छत्ययथातथम् ॥ २४० ॥

होम, दान, ब्राह्मण भोजन, देवकर्म और पितृकर्म को यदि ये देख ले तो वह निष्फल हो जाता है।

घ्राणेन सूकरो हन्ति पक्षवातेन कुक्कुटः ।
श्वा तु दृष्टिनिपातेन स्पर्शेनावरवर्णजः ॥ २४१ ॥

सूअर के सूँघने से, मुर्गा के पंख की हवा लगने से, कुत्ता के देखने से, और शूद्र के छूने से श्राद्धान्न निष्फल हो जाता है।

खञ्जो वा यदि वा काणो दातुः प्रेष्योऽपि वा भवेत् ।
हीनातिरिक्तगात्रो वा तमप्यपनयेत् पुनः ॥ २४२ ॥

लंगड़ा, काना, श्राद्धकर्ता का सेवक, हीनाङ्ग अधिकाङ्ग इन सबको श्राद्धस्थल से हटा दे।

ब्राह्मणं भिक्षुकं वाऽपि भोजनार्थमुपस्थितम् ।
ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः शक्तितः प्रतिपूजयेत् ॥ २४३ ॥

ब्राह्मण या भिक्षुक कोई भोजनार्थ उपस्थित हों तो निमन्त्रित ब्राह्मणों से आदेश पाने पर श्राद्धकर्ता उन्हें यथाशक्ति भोजन देकर सत्कार करे।

सार्ववर्णिकमन्नाद्यं सन्नीयाप्लाव्य वारिणा ।
समुत्सृजेद् मुक्तवतामग्रतो विकरन् भुवि ॥ २४४ ॥

सब प्रकार के भोजन के अन्नों को लाकर उन्हें जल से आप्लावित करके, भोजन किये हुए ब्राह्मणों के आगे भूमि में कुशों पर डाल दे।

असंस्कृतप्रमीतानां त्यागिनां कुलयोषिताम् ।
उच्छिष्टं भागधेयं स्याद्दर्भेषु विकिरैश्च यः ॥ २४५ ॥

यह कुशों पर डाला हुआ अन्न दाह-संस्कार से हीन और कुल बँधुओं को त्यागने वालों का भाग होता है।

उच्छेषणं भूमिगतमजिह्मस्याशठस्य च ।
दासवर्गस्य तत्पित्र्ये भागधेयं प्रचक्षते ॥ २४६ ॥

श्राद्ध में भूमि पर गिरा हुआ जूठा अन्न शील स्वभाव वाले दासवर्ग का भाग होता है, ऐसा ऋषियों ने कहा है।

आसपिण्डक्रियाकर्म द्विजातेः संस्थितस्य तु ।
अदैवं भोजयेच्छ्राद्धं पिण्डमेकं तु निर्वपेत् ॥ २४७ ॥

मृत द्विजाति का सपिण्डीकरण श्राद्धपर्यन्त अर्थात् एकोदिष्ट श्राद्ध में देवस्थान में ब्राह्मण न बैठाकर केवल पितृस्थान में ब्राह्मण को भोजन कराके ही करना चाहिये और एक ही पिण्ड देना चाहिये।

सहपिण्डक्रियायां तु कृतायामस्य धर्मतः ।
अनयैवावृता कार्यं पिण्डनिर्वपणं सुतैः ॥ २४८ ॥

सपिण्डीकरण श्राद्ध कर चुकने पर अमावस्या में जो पार्वणश्राद्ध की विधि कही है, उसी विधि से क्षयाहादि में पुत्रों को पितृनिमित्त पिंडदान करना चाहिये।

श्राद्धं भुक्त्वा य उच्छिष्टं वृषलाय प्रयच्छति ।
स मूढो नरकं याति कालसूत्रमवाक्शिराः ॥ २४९ ॥

श्राद्धान्न खाकर जो ब्राह्मण शूद्र को उच्छिष्ट देता है, वह नीचे मुड़ी ऊपर टाँग करके कालसूत्र नामक नरक में जा गिरता है।

श्राद्धभुग्वृषलीतल्पं तदहर्योऽधिगच्छति ।
तस्याः पुरीषे तन्मासं पितरस्तस्य शेरते ॥ २५० ॥

श्राद्धान्न खाकर यदि ब्राह्मण उस दिन शूद्रा के साथ रमण करे तो उसके पितर एक मास तक इस स्त्री की विष्ठा में बास करते हैं।

पृष्ट्वा स्वदितमित्येवं तृप्तानाचामयेत्ततः ।
आचान्तांश्चानुजानीयादभि भो रम्यतामिति ॥ २५१ ॥

भोजन से तृप्त हुये ब्राह्मणों से पूछे कि अच्छी तरह भोजन हुआ। तब उनके मुखादि प्रक्षालन और आचमन कर चुकने पर उनसे विनय के साथ कहे कि अब आपकी जैसी इच्छा हो, यहाँ रहें, या अपने घर जाँय।

स्वधाऽस्त्वित्येव तं ब्रूयुर्ब्राह्मणास्तदनन्तरम् ।
स्वधाकारः परा ह्याशीः सर्वेषु पितृकर्मसु ॥ २५२ ॥

इसके अनन्तर ब्राह्मण उसे-"स्वधाऽस्तु" ऐसा कहें, क्योंकि पितृ-कर्मों में स्वधाकार सबसे श्रेष्ठ आशीर्वाद है।

ततो भुक्तवतां तेषामन्नशेषं निवेदयेत् ।
यथा ब्रूयुस्तथा कुर्यादनुज्ञातस्ततो द्विजैः ॥ २५३ ॥

इसके बाद जो भोज्य-सामग्री बची हो वह भोजन किये हुए उन ब्राह्मणों से निवेदन करे। वे उस अन्न के सम्बन्ध में जो करने को कहें वह करे।

पित्र्ये स्वदितमित्येव वाच्यं गोष्ठे तु सुश्रुतम् ।
सम्पन्नमित्यभ्युदये दैवे रुचितमित्यपि ॥ २५४ ॥

एकोद्दिष्ट श्राद्ध में "स्वहितं", गोष्ठी श्राद्ध में "सुश्रुतं", आभ्युदयिक श्राद्ध में "सम्पन्नं" और देवताप्रीत्यर्थ किये गये श्राद्ध में "रुचितं" इस प्रकार तृप्ति का प्रश्न करे।

अपराह्णस्तथा दर्भा वास्तुसम्पादनं तिलाः ।
सृष्टिर्मृष्टिर्द्विजाश्चाग्र्याः श्राद्धकर्मसु सम्पदः ॥ २५५ ॥

अपराह्ण, कुश, गाय के गोबर से श्राद्धस्थान का संशोधन, तिल, उदारतापूर्वक अन्नदान, भोज्य-वस्तुओं का परिष्कार, पंक्तिपावन (वेदाध्यायी) ब्राह्मण, यही सब श्राद्ध की सम्पत्ति हैं।

दर्भाः पवित्रं पूर्वाह्णो हविष्याणि च सर्वशः ।
पवित्रं यच्च पूर्वोक्तं विज्ञेया हव्यसम्पदः ॥ २५६ ॥

कुश, मन्त्र, पूर्वाह्ण, सब प्रकार के हविष्य और पूर्व श्लोक में जो सब पवित्र वस्तुयें कही गई हैं। यह सब हव्य-सम्पदा अर्थात् देव-कर्म की सम्पत्ति है।

मुन्यन्नानि पयः सोमो मांसं यच्चानुपस्कृतम् ।
अक्षारलवणं चैव प्रकृत्या हविरुच्यते ॥ २५७ ॥

मुनियों के खाद्य–अन्न, दूध, सोमरस, अविकृत, मांस और सेंधा नमक-ये स्वभाव से ही हवि कहे गये हैं।

विसृज्य ब्राह्मणांस्तांस्तु नियतो वाग्यतः शुचिः ।
दक्षिणां दिशमकाङ्क्षन् याचेतेमान्वरान्पितॄन् ॥ २५८ ॥

निमंत्रित ब्राह्मणों को बिदा कर एकाग्रचित्त, मौन और पवित्र होकर दक्षिण दिशा की ओर देखता हुआ पितरों से ये अभिलषित वर माँगे।

दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः सततिरेव च ।
श्रद्धा च नो माव्यगमद् बहुदेयं च नोऽस्त्विति ॥ २५९ ॥

हमारे कुल में दाता-पुरुषों की वृद्धि हो, यज्ञादिकों के अनुष्ठान से वेद की वृद्धि हो, पुत्र-पौत्रादि संतति की वृद्धि हो, वेद, ब्राह्मणों के प्रति हमारी श्रद्धा न घटे और हमारे पास दातव्य अन्न-धन भी बहुत हो।

एवं निर्वपणं कृत्वा पिण्डांस्तांस्तदनन्तरम् ।
गां विप्रमजमग्निं वा प्राशयेदप्सु वा क्षिपेत् ॥ २६० ॥

इस प्रकार पिण्डदान करके वर माँगने के पश्चात् वे पिण्ड गौ या ब्राह्मण, या बकरे को खिलावे अथवा आग या पानी में डाल दे।

पिण्डनिर्वपणं केचित्परस्तादेव कुर्वते ।
वयोभिः खादयन्त्यन्ये प्रक्षिपन्त्यनलेऽप्सु वा ॥ २६१॥

कोई आचार्य ब्राह्मण भोजन के बाद पिण्डदान करते हैं, कोई पिण्ड को पक्षियों को खिलाते हैं, कोई आग या पानी में डाल देते हैं।

पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूजनतत्परा ।
मध्यमं तु ततः पिण्डमद्यात्सम्यक्सुतार्थिनी ॥ २६२॥

जो पतिव्रता धर्मपत्नी पितरों की पूजा में तन-मन से लगी हो और पुत्र की इच्छा रखती हो वह तीनों पिण्डों के बीच के (पितामह के निमित्त दिया हुआ) पिंड को खाय तो।

आयुष्मन्तं सुतं सूते यशोमेधासमन्वितम् ।
धनवन्तं प्रजावन्तं सात्त्विकं धार्मिकं तथा ॥ २६३॥

उस स्त्री को दीर्घजिवी, यशस्वी, बुद्धिमान्, धनवान्, प्रजावान्, सत्वगुणी और धार्मिक पुत्र पैदा होता है।

प्रक्षाल्य हस्तावाचम्य ज्ञातिप्रायं प्रकल्पयेत् ।
ज्ञातिभ्यः सत्कृतं दत्त्वा बान्धवानपि भोजयेत् ॥ २६४॥

इसके बाद हाथ धो आचमन कर कुटुम्बियों को सादर भोजन कराकर बान्धवों को भी खिलावे।

उच्छेषणं तु तत्तिष्ठेद्यावद्विप्रा विसर्जिताः ।
ततो गृहबलिं कुर्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ २६५॥

जब तक ब्राह्मणों का विसर्जन न हो तब तक उनका जूठा न हटाना चाहिये। श्राद्ध-क्रिया सम्पन्न हो जाने पर बलिवैश्वदेव होम आदि नित्यकर्म करना चाहिये।

हविर्यच्चिररात्राय यच्चानन्त्याय कल्प्यते ।
पितृभ्यो विधिवद्दत्तं तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २६६॥

पितरों को विधिवत् दिया हुआ हव्य जो उन्हें चिरकाल या अनन्त काल के लिये तृप्ति देने वाला होता है, वह सब कहता हूँ।

तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलेन वा ।
दत्तेन मासं तृप्यन्ति विधिवत्पितरो नृणाम् ॥ २६७॥

तिल, धान्य, यव, उर्द-मूल और फल इनमें से कोई एक वस्तु विधिवत् देने से मनुष्यों के पितर एक महीने तक तृप्त होते हैं।

द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन्मासान्हरिणेन तु ।
औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनाथ पञ्च वै ॥ २६८ ॥

मछलियों के मांस से दो महीने, हरिण के मांस से तीन महीने, भेंड़ के मांस से चार महीने और खाद्य-पक्षी के मांस से पाँच महीने तक पितरों की तृप्ति होती है।

षण्मासांच्छागमांसेन पार्षतेन च सप्त वै ।
अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु ॥ २६९ ॥

बकरे के मांस से छः महीने, पृषत् (चित्र मृग) के मांस से सात महीने, एण जातीय हरिण के मांस से आठ महीने, और रूरू नामक मृग के मांस से नौ महीने तक पितरों की तृप्ती होती है।

दशमासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः ।
शशकूर्मयोस्तु मांसेन मासानेकादशैव तु ॥ २७० ॥

जङ्गली सूअर और जङ्गली भैंसे के मांस से दस मास और खरहे तथा कछुए के मांस से ग्यारह मास तक तृप्त होते हैं।

सम्वत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन च ।
वार्ध्रीणस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥ २७१ ॥

गाय के दूध या पायस (खीर) से एक वर्ष तक और वार्ध्रीणस[1] (जल पीते समय जिस बकरे का कान जल में भीगे और श्वेत वर्ण का हो) के मांस से बारह वर्ष तक पितरों की तृप्ति होती है।

कालशाकं महाशल्काः खड्गलोहामिषं मधु ।
आनन्त्यायैव कल्प्यन्ते मुन्यन्नानि च सर्वशः ॥ २७२ ॥

कालशाक महाशल्क (मछली), गैड़े और लाल वर्ण के बकरे का मांस, शहद तथा नीवार आदि पवित्र अन्न–इन सबसे पितरों को अनन्त काल तक तृप्ति होती है।

यत्किञ्चिन्मधुना मिश्रं प्रदद्यात्तु त्रयोदशीम् ।
तदप्यक्षयमेव स्याद्वर्षासु च मघासु च ॥ २७३ ॥

वर्षाऋतु की मघा नक्षत्र युक्त त्रयोदशी तिथि में मधु से मिला हुआ जो कुछ पितरों को दिया जाता है वह भी अक्षय होता है।

---

१. त्रिपिवं त्विन्द्रियक्षीणं श्वेतं वृद्धमजापतिम् । वार्ध्रीणसंतु तं प्राहुर्याज्ञिकाः पितृकर्मणि।

अपि नः स कुले जायाद्यो नो दद्यात् त्रयोदशीम् ।
पायसं मधुसर्पिर्भ्यां प्राक्छाये कुञ्जरस्य च ॥ २७४॥

पितर यह आशा करते हैं कि हमारे कुल में कोई ऐसा जन्म ले जो हम लोगों को त्रयोदशी तिथि में या ऐसे समय में जब हाथी की छाया पूर्व दिशा में हो, मधु और घृत से मिला हुआ पायस (गोदुग्ध की खीर) दे।

यद्यद्ददाति विधिवत्सम्यक् श्रद्धासमन्वितैः ।
तत्तत्पितृणां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ॥ २७५॥

श्रद्धा सहित विधिपूर्वक सम्यक् प्रकार से जो कुछ पितरों को दिया जाता है, वह परलोक में उनकी तृप्ति के लिये सदा अक्षय होता है।

कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम् ।
श्राद्धे प्रशस्तास्तिथयो यथैता न तथेतराः ॥ २७६॥

कृष्ण पक्ष की दशमी से लेकर अमावास्या पर्यन्त तिथियों में चतुर्दशी को छोड़ शेष तिथियाँ श्राद्ध के लिये जैसे श्रेष्ठ हैं वैसी और तिथियाँ नहीं हैं।

यक्षु कुर्वन्दिनर्क्षेषु सर्वान्कामान्समश्नुते ।
अयुक्षु तु पितॄन्सर्वान्प्रजां प्राप्नोति पुष्कलाम् ॥ २७७॥

युग्म (सम) तिथि और नक्षत्र में श्राद्ध करने से सम्पूर्ण कामनायें सिद्ध होती हैं। विषम तिथि और नक्षत्र में श्राद्ध करने से धन-विद्या से परिपूर्ण सन्तानें प्राप्त होती हैं।

तथा चैवापरः पक्षः पूर्वपक्षाद्विशिष्यते ।
तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्णादपराह्णो विशिष्यते ॥ २७८॥

श्राद्ध में जैसे पूर्व (शुक्ल) पक्ष से अपर (कृष्ण) पक्ष विशेष है वैसे ही पूर्वाह्ण की अपेक्षा अपराह्ण विशेष है।

प्राचीनावीतिना सम्यगपसव्यमतन्द्रिणा ।
पित्र्यमानिधनात्कार्यं विधिवद्दर्भपाणिना ॥ २७९॥

दाहिने कन्धे पर जनेऊ रख (अपसव्य होकर) आलस्य रहित हो हाथ में कुशा लेकर शास्त्रोक्त विधि से जब तक जिये पितृकर्म करे।

रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत राक्षसी कीर्तिता हि सा ।
संध्ययोरुभयोश्चैव सूर्ये चैवाचिरोदिते ॥ २८०॥

रात में श्राद्ध न करे, क्योंकि रात राक्षसी कही गई है। दोनों समय (प्रातःसायंकाल) में श्राद्ध न करे और सूर्योदय समकाल में भी न करे।

अनेन विधिना श्राद्धं त्रिरब्दस्येह निर्वपेत्।
हेमन्तग्रीष्मवर्षासु पाञ्चयज्ञिकमन्वहम् ॥२८१॥

इस प्रकार वर्ष में तीन बार अर्थात् हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा में श्राद्ध अवश्य कराना चाहिये और पञ्चमहायज्ञान्तर्गत श्राद्ध तो नित्य ही करे।

न पैतृयज्ञियो होमो लौकिकेऽग्नौ विधीयते।
न दर्शेन विना श्राद्धमाहिताग्नेर्द्विजन्मनः ॥२८२॥

पितृयज्ञीय होम लौकिक अग्नि में नहीं करना चाहिये। आदृताग्नि द्विज को अमावास्या तिथि के अतिरिक्त अन्य तिथि में श्राद्ध नहीं करना चाहिये।

यदेव तर्पयत्यद्भिः पितॄन्स्नात्वा द्विजोत्तमः।
तेनैव कृत्स्नमाप्नोति पितृयज्ञक्रियाफलम् ॥२८३॥

ब्राह्मण स्नान करके जो जल से पितृतर्पण करता है, उसी से वह नित्य श्राद्ध क्रिया का फल पाता है।

वसून्वदन्ति तु पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान्।
प्रपितामहांस्तथादित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी ॥२८४॥

ऋषियों ने पिता को वसु, पितामह को रुद्र और प्रपितामह को आदित्य कहा है (इसलिये पितरों का ध्यान देवता रूप में करे) यह सनातन श्रुति है।

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वाऽमृतभोजनः।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथाऽमृतम् ॥२८५॥

नित्य विघसाशी हो या नित्य अमृत भोजी हो अतिथि ब्राह्मणों को खिलाकर जो अन्न बचे उसे विघस कहते हैं और यज्ञावशिष्ट अन्न को अमृत कहते हैं।

एतद्वोऽभिहितं सर्वं विधानं पाञ्चयज्ञिकम्।
द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति ॥२८६॥

यह पञ्चयज्ञ-सम्बन्धी सारा विधान आप लोगों से कहा, अब ब्राह्मणों की वृत्ति का विधान सुनिये।

इति तृतीय अध्याय समाप्त।

चतुर्थोऽध्यायः (४)

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाऽऽद्यं गुरौ द्विजः ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ १ ॥

ब्राह्मण अपने आयुष्य के पहले चौथे हिस्से को गुरु के आश्रम में रहकर बितावे। (सौ वर्ष आयु के) जीवन का दूसरा हिस्सा विवाह करके गृह में व्यतीत करे।

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः ।
या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥ २ ॥

ब्राह्मण किसी को बिना कष्ट पहुँचाये अथवा दूसरे को थोड़ा कष्ट देकर (अर्थात् याचना-वृत्ति से) निरापद जीवन-निर्वाह करे।

यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः ।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसञ्चयम् ॥ ३ ॥

विहित कर्मों के द्वारा, शरीर को कष्ट न देकर, केवल प्राणरक्षा के निमित्त धन-धान्य का संग्रह करे।

ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा ।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ॥ ४ ॥

ब्राह्मण ऋत या अमृत से, मृत या प्रमृत से अथवा सत्य या असत्य से जीवन निर्वाह करे, परन्तु कुत्ते की वृत्ति का अवलम्बन कभी न करे।

ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतः स्यादयाचितम् ।
मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥ ५ ॥

प्राप्त अन्न को शिलोञ्छ वृत्ति[१] से ऋत, बिना माँगे जो मिले उसे अमृत, याचना करने से जो मिले उसे मृत और कृषिकर्म से जो मिले उसे प्रमृत कहते हैं।

सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते ।
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥

सत्यानृत वाणिज्य को कहते हैं, इससे भी जीवन-निर्वाह करे। सेवा कुत्ते के वृत्ति को कहते हैं। इसलिये इस वृत्ति को नहीं करना चाहिये।

कुसूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा ।
त्र्यहैहिको वाऽपि भवेदश्वस्तनिक एव वा ॥ ७ ॥

---

१. शिलोञ्छवृत्ति खेत में गिरे हुये धान को चुनकर खाने को कहते हैं।

कुसूलधान्यक (अर्थात् इतना अन्न इकट्ठा करे जिससे तीन वर्ष या उससे भी अधिक समय तक घर का खर्च चल सके) अथवा कुम्भीधान्यक (अर्थात् एक साल के खर्च योग्य अन्न संचित करे) अथवा त्र्यहैहिक (अर्थात् तीन दिन योग्य) अन्न संचित करे, अश्वस्तनिक (अर्थात् उतना ही अन्न संग्रह करे जो अगले दिन के लिये न बचे) गृहस्थ होना चाहिये।

चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृहमेधिनाम् ।
ज्यायान्परः परो ज्ञेयो धर्मतो लोकजित्तमः ॥८॥

इन चारों प्रकार के गृहस्थ ब्राह्मणों में एक दूसरे से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं, श्रेष्ठ गृहस्थ स्वर्गादि लोकों को जितने वाला होता है।

षट्कर्मैको भवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्तते ।
द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति ॥९॥

इन चारों प्रकार के गृहस्थों में एक षट्कर्म्मी होता है अर्थात् ऋतु, आयाचित, याचित, कृषि, वाणिज्य और ब्याज, इन छहों कर्मों से जीता है। अन्य तीन कर्मों से (अर्थात् याजन, अन्यापन और दान लेने से और एक (याजन अन्यापन से) तथा चौथा ब्राह्मण वेदाध्ययन से ही जीता है।

वर्तयंश्च शिलोञ्छाभ्यामग्निहोत्रपरायणः ।
इष्टीः पार्वायनान्तीयाः केवला निर्वपेत्सदा ॥१०॥

शिलोञ्छवृत्ति से जीवन-निर्वाह करता हुआ अग्निहोत्र करे। अमावास्या पूर्णिमा तथा अयनों के अन्त में होने वाले इष्टी नामक यज्ञ को सदा करे।

न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन ।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम् ॥११॥

जीविका के लिये अन्य लोगों की भाँति छल-प्रपंच आदि नीच वृत्ति का अवलम्बन न करे। झूठी आत्म-प्रशंसा और दम्भ कपट आदि त्यागकर ब्राह्मण की जो शुद्ध जीविका हो उसी से जीये।

संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् ।
संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥१२॥

सुख की इच्छा से परम सन्तोष धारण कर मन को किसी ओर बहकने न दे, क्योंकि सन्तोष सुख का और असन्तोष दुःख का मूल है।

अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः ।
स्वर्गायुष्ययशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत् ॥१३॥

गृहस्थ ब्राह्मणों को पूर्वोक्त वृत्तियों में-से किसी एक वृत्ति के आश्रय से अपनी जीविका को चलाते हुए स्वर्ग, आयु और यश को देने वाले आगे कहे व्रतों का पालन करे।

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
तद्धि कुर्वन् यथाशक्तिं प्राप्नोति परमां गतिम् ॥१४॥

आलस्य को छोड़कर नित्य अपने वेदोक्त कर्म को करे, क्योंकि यह यथाशक्ति करने से कर्म करने वाला परमगति को पाता है।

नेहेतार्थान्प्रसङ्गेन न विरुद्धेन कर्मणा ।
न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः ॥१५॥

गाने-बजाने की वृत्ति से या शास्त्र विरुद्ध कर्म से धन प्राप्त न करे। पास में धन हो या न हो, विपत्ति में भी जिस-तिससे अर्थात् पतितों से द्रव्य न ले।

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत काभतः ।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्तयेत् ॥१६॥

इन्द्रियों के सभी नियमों के (रूप, रस, गन्ध आदि जो पाँच) उपभोग-बुद्धि से उनमें आसक्त न हो। विषयों को अनित्य जान इनकी अत्यासक्ति को मन से रोके।

सर्वान्परित्यजेदर्थान्स्वाध्यायस्य विरोधिनः ।
यथातथाऽध्यापयस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥१७॥

वेद-विरुद्ध सभी प्रकार के अर्थों का त्याग कर जिस प्रकार हो वेद पढ़ाता हुआ परिवार के साथ अपनी जीविका चलावे। गृहस्थ ब्राह्मण की सार्थकता इसी में है।

वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च ।
वेषवाग्बुद्धिसारूप्यामाचरन्विचरेदिह ॥१८॥

अवस्था, क्रिया, धन, विद्या और कुल इनके अनुरूप भेष, वचन और बुद्धि रखता हुआ संसार में रहे।

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥१९॥

बुद्धि को बढ़ाने वाले और धन तथा आरोग्य की शिक्षा देने वाले शास्त्रों का नित्य अध्ययन करे और वेदार्थ के प्रतिपादक निगम ग्रन्थों को भी पढ़े।

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥२०॥

पुरुष जैसे-जैसे शास्त्र का विशेष रूप से अध्ययन करता है, वैसे-वैसे उसका ज्ञान बढ़ता है और विज्ञान उज्वल होता है।

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥२१॥

ऋषियज्ञ (वेदाध्ययन), देवयज्ञ (होम), भूतयज्ञ (बलि), नृयज्ञ (अतिथि-सेवा) और पितृयज्ञ (तर्पण) इसका यथाशक्ति त्याग न करे।

एतानेके महायज्ञान्यज्ञशास्त्रविदो जनाः।
अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति ॥२२॥

यज्ञशास्त्र के जानने वाले इन महायज्ञों को न करते हुए सदा ज्ञानेन्द्रियों में विषयों का हवन करके इन यज्ञों का सम्पादन करते हैं।

वाच्येके जुह्वति प्राणं प्राणे वाचं च सर्वदा।
वाचि प्राणे च पश्यन्तो यज्ञनिर्वृत्तिमक्षयाम् ॥२३॥

वाणी और प्राण में यज्ञ का अक्षय फ़ल देखकर सदा वाणी में प्राण और प्राण में वाणी का हवन करते हैं अर्थात् प्राग और वचन दोनों को अपने अधीन कर लेते हैं।

ज्ञानेनैवापरा विप्रा यजन्त्येतैर्मखैः सदा।
ज्ञानमूलां क्रियामेषां पश्यन्तो ज्ञानचक्षुषा ॥२४॥

अन्य ज्ञानी ब्राह्मण ज्ञानचक्षु से इन यज्ञों की क्रिया को ज्ञानमूलक जानकर ज्ञान से ही इन पञ्चमहायज्ञों के फलभागी होते हैं।

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा।
दर्शेन चार्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि ॥२५॥

कोई भी नित्य सुबह और शाम को अग्निहोत्र करता है और अमावास्या और पूर्णिमा को तिथ्य युक्त कर्मों को करते हैं।

सस्यान्ते नवसस्येष्ट्या तथर्त्वन्ते द्विजोऽध्वरैः।
पशुना त्वयनस्यादौ समान्ते सौमिकैर्मखैः ॥२६॥

धान की समाप्ति होने पर नये अन्न से यज्ञ करे। ऋतु के अन्त में चातुर्मासिक यज्ञ करें, अयन के (दक्षिणायन और उत्तरायण के आरम्भ में पशु के द्वारा यज्ञ करे तथा वर्ष के अन्त में (चैत्रशुल्क प्रतिपदा से) सौमिक अर्थात् सोमरस प्रधान अग्निष्टोम आदि यज्ञ करे।

नानिष्ट्वा नवसस्येष्ट्या पशुना चाग्निमान्द्विजः।
नवान्नमद्यान्मांसं वा दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥२७॥

दीर्घ आयुष्य की इच्छा वाला अग्निहोत्री ब्राह्मण, आग्रयणेष्टि और पशु यज्ञ किये बिना नवान्न और मांस न खाय।

नवेनानार्चिता ह्यस्य पशुहव्येन चाग्नयः ।
प्राणानेवात्तुमिच्छन्ति नवान्नामिषगर्धिनः ॥२८॥

नये अन्न और मांस के अभिलाषी अग्निदेव नवान्न और पशु से पूजित न होने पर अर्थात् उन दोनों वस्तुओं की आहुति न पाने पर अग्निहोत्री ही के प्राण को खाना चाहते हैं।

आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा ।
नास्य कश्चिद्वसेद् गेहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः ॥२९॥

गृहस्थ को अपने घर में शक्ति के अनुसार कोई भी अतिथि आसन, भोजन, शय्या और कन्दमूल, फल तथा जल से अतिथि सत्कार किये बिना न रहे।

पाखण्डिनो विकर्मस्थान्वैडालव्रतिकाञ्छठान् ।
हैतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥३०॥

पाखण्डी निषिद्ध कर्म करने वाले, वैडालवृत्तिक (धार्मिक बनने वाले, लोभी, कपटी, दम्भ और हिंसा के वृत्ति से जीवन निर्वाह करने वाले) शठ (गुरु, देवता और शास्त्रों में जिनकी श्रद्धा न हो। हैतुक (वेद के विरुद्ध तर्क करने वाले) और वकवृत्ति (नीचे दृष्टि रखते हुए अपने स्वार्थ को सिद्ध करने वाला और झूठे ही विनयशीलता से जीवन निर्वाह करने वाला) ये लोग यदि अतिथिरूप से घर पर आवें तो वचन से भी उनका सत्कार न करे।

वेदविद्याव्रतस्नाताञ्श्रोत्रियान्गृहमेधिनः ।
पूजयेद्धव्यकव्येन विपरीतांश्च वर्जयेत् ॥३१॥

वेदविद्यास्नातक, व्रतस्नातक या विद्याव्रतस्नातक वैदिक गृहस्थ ब्राह्मण को घर आने पर हव्य-कव्य से उनकी पूजा करे और जो इनके विपरीत हों उन्हें न पूजे।

शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं गृहमेधिना ।
संविभागश्च भूतेभ्यः कर्तव्योऽनुपरोधतः ॥३२॥

जो संन्यासी या ब्रह्मचारी स्वयं भोजन न बना सके उन्हें गृहस्थ यथाशक्ति अन्न दे। कुटुम्ब के लोगों को तथा अन्य प्राणियों को भी कष्ट दिये बिना ही यथाशक्ति अन्न-जल का भाग देना चाहिये।

राजतो धनमन्विच्छेत्संसीदन्स्नातकः क्षुधा ।
याज्यान्तेवासिनोर्वाऽपि न त्वन्यत इति स्थितिः ॥३३॥

अन्नाभाव से कष्ट उपस्थित होने पर गृहस्थ ब्राह्मण पहले राजा से और यजमान तथा विद्यार्थियों से भी द्रव्य की अभिलाषा प्रगट करे, परन्तु दूसरे से कुछ न माँगे, यही शास्त्र मर्यादा है।

न सीदेत्स्नातको विप्रः क्षुधाशक्तः कथञ्चन ।
न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति ॥ ३४ ॥

विद्वान् स्नातक ब्राह्मण दान लेने में समर्थ होते हुये वह पूर्वोक्त राजा आदि से दान प्राप्त होने पर उसका त्याग कर भूखों न मरे। धन मिलने पर मैले, फटे-पुराने वस्त्रों को धारण न करे।

कलृप्तकेशनखश्मश्रुर्दान्तः शुक्लाम्बरः शुचिः ।
स्वाध्याये चैव युक्तः स्यान्नित्यमात्महितेषु च ॥ ३५ ॥

ब्राह्मण को केश, नख और दाढ़ी मुड़ाकर साफ रहना चाहिये। दान्त और स्वच्छ वस्त्र धारण करे। पवित्रात्मा हो और तपस्या के क्लेश को सहने वाला वेद का नित्य अध्ययन करे, तथा अपने कल्याण का सदा ध्यान रखे।

वैणवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम् ।
यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले ॥ ३६ ॥

बाँस का डण्डा, सजल कमण्डलु, यज्ञोपवीत, वेद और हाथ में कुश तथा दो सुन्दर सोने के कुण्डल धारण करे।

नेक्षेत्तोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचन ।
नोपसृष्टं च वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम् ॥ ३७ ॥

उदय और अस्तकाल में, ग्रहण के समय, जल में प्रतिबिम्बित और आकाश के मध्यभाग में होने पर सूर्य को न देखे।

न लङ्घयेद्वत्सतन्त्रीं न प्रधावेच्च वर्षति ।
न चोदके निरीक्षेत स्वं रूपमिति धारणा ॥ ३८ ॥

बछड़ा बाँधने की रस्सी को न लाँघे, मेघ बरसते समय न दौड़े और अपना प्रतिबिम्ब पानी में न देखे—यह शास्त्र का निश्चय है।

मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम् ।
प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥ ३९ ॥

बाहर जाते हुये मिट्टी का ढेर, गाय, देवमूर्ति, ब्राह्मण, घी, मधु, चौराहा बड़े-बड़े प्रसिद्ध वृक्ष—इन सबको मार्ग में अपने दाहिने करके चले।

नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने ।
समानशयने चैव न शयीत तया सह ॥ ४० ॥

कामात्त होने पर भी रजोदर्शन में (पहले चार दिन) स्त्री से प्रसङ्ग न करे और न उसके साथ एक बिछौने पर सोये।

रजसाऽभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः ।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते ॥४१॥

क्योंकि रजस्वाला स्त्री के साथ प्रसङ्ग करने वाले पुरुष की बुद्धि, बल, दृष्टि और आयु क्षीण होती है।

तां विवर्जयतस्तस्य रजसा समभिप्लुताम् ।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते ॥४२॥

जो पुरुष रजस्वला स्त्री को स्पर्श नहीं करते उनकी प्रज्ञा, तेज, बल, दृष्टि और आयु की वृद्धि होती है।

नाश्नीयाद्भार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम् ।
क्षुत्वतीं जृम्भमाणां वा न चासीनां यथासुखम् ॥४३॥

स्त्री के साथ न खाय, भोजन करती हुई, छींकती हुई, जँभाई लेती हुई, या एकान्त में स्वच्छन्द बैठी हुई, स्त्री को न देखें।

नाञ्जयन्तीं स्वके नेत्रे न चाभ्यक्तामनावृताम् ।
न पश्येत्प्रसवन्तीं च तेजस्कामो द्विजोत्तमः ॥४४॥

यदि स्त्री अपनी आँखों में काजल दे रही हो या तेल उबटन लगा रही हो या खुले अङ्ग बैठी हो, अथवा बच्चे को स्तन्य (दूध) पिला रही हो, उसे तेजस्काम ब्राह्मण न देखे।

नान्नमद्यादेकवासा न नग्नः स्नानमाचरेत् ।
न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे ॥४५॥

एक ही वस्त्र पहनकर भोजन न करे। नग्न होकर स्नान न करे, रास्ते में, राख के ढेर में या गोशाला में मलमूत्र न करे।

न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते ।
न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन ॥४६॥

जोते हुए खेत में, पानी में, ईंट के भट्टे पर, पहाड़ पर, पुराने देव मन्दिर में और वल्मीक (विमोट) पर कभी मलमूत्र न करे।

न ससत्त्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नापि च स्थितः ।
न नदीतीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके ॥४७॥

जो गड्ढे प्राणियों से युक्त हों, उनमें चलते-चलते या खड़े होकर नदी के तट पर या पहाड़ की चोटी पर मलमूत्र न करे।

वाय्वग्निविप्रमादित्यमपः पश्यंस्तथैव गाः ।
न कदाचन कुर्वीत विण्मूत्रस्य विसर्जनम् ॥४८॥

वायु जिस ओर से बहती हो उस ओर मुँह करके तथा अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, जल और गाय को देखता हुआ कदापि मलमूत्र न करे।

तिरस्कृत्योच्चरेत्काष्ठलोष्ठपत्रतृणादिना ।
नियम्य प्रयतो वाचं संवीताङ्गोऽवगुण्ठितः ॥४९॥

सूखी लकड़ी, पत्ते, तृण मिट्टी आदि से भूमि को ढँककर, वस्त्र से शरीर को ढँककर, सिर में कपड़ा लपेट कर, मौन धारण कर, स्थिर चित्त से मलमूत्र का त्याग करे।

मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदङ्मुखः ।
दक्षिणाभिमुखो रात्रौ संध्ययोश्च तथा दिवा ॥५०॥

दिन में उत्तर ओर और रात में दक्खिन ओर मुख करके मलमूत्र का त्याग करे। प्रात:काल और सायंकाल में दिन के ही तरह करे ।

छायायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः ।
यथासुखमुखः कुर्यात्प्राणबाधाभयेषु च ॥५१॥

रात हो या दिन, छाया में या अन्धेरे में या जहाँ प्राण पर बाधा आ पड़ने का भय हो वहाँ ब्राह्मण जिधर चाहें मुख करके मलमूत्र का त्याग करें।

प्रत्यग्निं प्रतिसूर्यं च प्रतिसोमोदकद्विजान् ।
प्रतिगां प्रतिवाचं च प्रज्ञा नश्यति मेहतः ॥५२॥

अग्नि, सूर्य, चन्द्र, जलाशय, ब्राह्मण, गाय और वायु इनके सामने मुख करके लघुशंका करने से बुद्धि नष्ट होती है।

नाग्निं मुखेनोपधमेन्नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम् ।
नामेध्यं प्रक्षिपेदग्नौ न च पादौ प्रतापयेत् ॥५३॥

आग को मुँह से न फूंके, नग्न स्त्री को न देखे, आग में अपवित्र वस्तु न डाले, और पैर आग में न तपावे।

अधस्तान्नोपदध्याच्च न चैनमभिलङ्घयेत् ।
न चैनं पादतः कुर्यान्न प्राणाबाधामाचरेत् ॥५४॥

चारपाई के नीचे आग न रखे, आग को लाँघ कर न जाय, पायताने में आग न रखे और जिससे प्राण पर संकट आवे ऐसा कोई काम न करे।

नाश्नीयात्संधिवेलायां न गच्छेन्नापि संविशेत्।
न चैव प्रलिखेद्भूमिं नात्मनोऽपहरेत्स्रजम् ॥५५॥

सायंकाल में भोजन, ग्रामान्तर की यात्रा, और शयन न करना चाहिये भूमि पर रेखा न लिखे। धारण की हुई माला को अपने गले से न उतारे।

नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत्।
अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा ॥५६॥

पानी में मल-मूत्र न करे, थूके नहीं, अथवा अन्य दूषित पदार्थ, रक्त, मांस या विष आदि न डाले।

नैकः सुप्याच्छून्यगेहे श्रेयांसं न प्रबोधयेत्।
नोदक्ययाऽभिभाषेत यज्ञं गच्छेन्न चावृत्तः ॥५७॥

सूने घर में अकेला न सोवे, अपने से श्रेष्ठ पुरुष सोये हों तो उन्हें न जगावे, रजस्वला स्त्री से संभाषण न करे, बिना आमन्त्रण के यज्ञ में न जाय।

अग्न्यागारे गवां गोष्ठे ब्राह्मणानां च सन्निधौ।
स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् ॥५८॥

अग्निशाला में, गौशाला में, ब्राह्मणों के समीप में, और वेद पढ़ने तथा भोजन करने के समय में दाहिना हाथ बाहर कर ले।

न वारयेद् गां धयन्तीं न चाचक्षीत कस्यचित्।
न दिवीन्द्रायुधं दृष्ट्वा कस्यचिद् दर्शयेद् बुधः ॥५९॥

पानी पीती हुई गौ को न रोके और दूसरे का दाना घास खाती हो तो उससे न कहे। आकाश में इन्द्रधनुष देखकर औरों को वह इन्द्रधनुष न दिखावे।

नाधार्मिके वसेद् ग्रामे न व्याधिबहुले भृशम्।
नैकः प्रपद्येताध्वानं न चिरं पर्वते वसेत् ॥६०॥

जिस गाँव में अधार्मिक लोग बसते हों और जहाँ अनेक असाध्य रोगों से पीड़ित लोग रहते हों वहाँ भी अधिक कालतक न रहे, मार्ग न चले और चिरकाल तक पहाड़ पर न रहे।

न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृत्ते।
न पाषण्डिगणाक्रान्ते नोपसृष्टेऽन्त्यजैर्नृभिः ॥६१॥

जिस देश का राजा शूद्र हो उस देश में निवास न करे, जो गाँव चोर-डाकू, छली-कपटी आदि दुरात्माओं की बस्तियों से घिरा हो या नास्तिकों

वेद-निन्दकों से आक्रान्त हो या जहाँ चाण्डाल आदि अधम जातियों से उपद्रव होता हो, वहाँ भी न रहे।

न भुञ्जीतोद्धृतस्नेहं नातिसौहित्यमाचरेत्।
नातिप्रगे नाति सायं न सायं प्रातराशितः ॥६२॥

जिस पदार्थ की स्नेह (चिकनाई) निकाल ली गई हो उसे न खाये, एक बार तृप्तिपूर्वक भोजन करके ऊपर से और कुछ न खाये, सूर्योदय और सूर्यअस्त के समय भोजन न करे। सबेरे जिसने अति भोजन किया हो वह शाम को न खाये।

न कुर्वीत वृथाचेष्टां न वार्यञ्जलिना पिबेत्।
नोत्सङ्गे भक्षयेद्भक्ष्यान्न जातु स्यात्कुतूहली ॥६३॥

निरुद्देश्य कोई कार्य न करे, अञ्जलि से जल न पीये, जांघ पर भक्ष्य पदार्थ को रखकर न खाय। केवल कौतूहल वश बेमतलब किसी से कोई बात न पूछे।

न नृत्येदथवा गायेन्न वादित्राणि वादयेत्।
नास्फोटयेन्न च क्ष्वेडेन्न च रक्तो विरावयेत् ॥६४॥

ब्राह्मण नृत्य न करे, गायन न करे, बाजा न बजावे, ताल न ठोके, दाँत न कटकटाये, और उमङ्ग में आकर गधे आदि पशुओं की बोली न बोले।

न पादौ धावयेत्कांस्ये कदाचिदपि भाजने।
न भिन्नभाण्डे भुञ्जीत न भावप्रतिदूषिते ॥६५॥

काँसे के बर्तन में कभी पैर न धोवे। अन्य किसी फूटे हुये बर्तन में भोजन न करे। जहाँ मन में शंका हो वहाँ भी भोजन न करे।

उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्न धारयेत्।
उपवीतमलङ्कारं स्रजं करकमेव च ॥६६॥

दूसरे किसी का व्यवहार किया हुआ जूता, वस्त्र, जनेऊ, आभूषण, माला और कमण्डलु धारण न करें।

नाविनीतैर्भजेद्धुर्यैर्न च क्षुद्व्याधिपीडितैः।
न भिन्नशृङ्गाक्षिखुरैर्न वालधिविरूपितैः ॥६७॥

जो सिखाये हुए न हों, जो भूख, प्यास और व्याधि से पीड़ित हों जिनके सींग, नेत्र और खुर टूटे-फूटे और फटे हों, और जिनकी पूँछ कटी हो ऐसे जुते हुए बैलों के रथ पर यात्रा न करे।

विनीतैस्तु व्रजेन्नित्यमाशुगैर्लक्षणान्वितै ।
वर्णरूपोपसम्पन्नैः प्रतोदेनातुदन् भृशम् ॥६८॥

जो सिखाये हुए हों, शीघ्रगामी हों शुभ लक्षणों से युक्त हों, जिनका वर्णरूप अच्छा हो, ऐसे जुते हुए बैलों के रथ में सवार होकर बैलों को बिना बार-बार चाबुक मारे चाहे जब यात्रा करे।

बालातपः प्रेतधूमो वर्ज्यं भिन्नं तथाऽऽसनम् ।
न छिन्द्यान्नखलोमानि दन्तैर्नोत्पाटयेन्नखान् ॥६९॥

सूर्योदय समय की धूप, मूर्दे का धुआँ और टूटे-फूटे आसन को त्याग देना चाहिये। बढ़े हुये नख और रोम को न काटे और नह को दाँत से न उखाड़े।

न मृल्लोष्ठं च मृद्‌गीयान्न च्छिन्द्यात्करजैस्तृणम् ।
न कर्म निष्फलं कुर्यान्नायत्यामसुखोदयम् ॥७०॥

मिट्टी के ढेलों को न मले, नाखूनों से तिनके न तोड़े, व्यर्थ कर्म न करे और परिणाम में दुःख देनेवाला कर्म कभी न करे।

लोष्ठमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः ।
स विनाशं व्रजत्याशु सूचकोऽशुचिरेव च ॥७१॥

ढेले को मलने वाला, तिनके तोड़ने वाला, और दाँतों से नख काटने वाला, कृपण और अनाचारी (शौच रहित) ये सब शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

न विगर्ह्यकथां कुर्याद् बहिर्माल्यं न धारयेत् ।
गवां च यानं पृष्ठेन सर्वथैव विगर्हितम् ॥७२॥

अभिमान के साथ किसी से बात न् करे केशसमूह के बाहर माला न धारण करे। गौओं की पीठ पर चढ़ कर जाना सर्वथा निन्दित है।

अद्वारेण च नातीयाद् ग्रामं वा वेश्म वाऽऽवृतम् ।
रात्रौं च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत् ॥७३॥

जो गाँव या घर दीवार से घिरा हो उसके भीतर प्रधान दरवाजे को छोड़कर दूसरे रास्ते से न जाय। रात में पेड़ की जड़ को दूर से ही त्याग दे अर्थात् क्षणमात्र भी वृक्ष के नीचे न रहे।

नाक्षैः क्रीडेत्कदाचित्तु स्वयं नोपानहौ हरेत् ।
शयनस्थो न भुञ्जीत न पाणिस्थं न चासने ॥७४॥

कभी जूआ न खेले, स्वयं हाथ से जूता उठाकर न चले, बिछौने पर या आसन पर या हाथ में कोई चीज रखकर न खाय।

सर्वं च तिलसम्बद्धं नाद्यादस्तमिते रवौ।
न च नग्नः शयीतेह न चोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत् ॥७५॥

सूर्यास्त के बाद तिल मिला हुआ कोई चीज न खाय। नग्न होकर न सोये, जूठे मुँह कहीं न जाय।

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपाददस्तु संविशेत्।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥७६॥

भींगे पैर भोजन करे, पर भीगे पैर सोये नहीं। भींगे पैर भोजन करने वाला दीर्घ आयु को पाता है।

अचक्षुर्विषयं दुर्गं न प्रपद्येत कर्हिचित्।
न विण्वमूत्रमुदीक्षेत न बाहुभ्यां नदीं तरेत् ॥७७॥

जो रास्ता घना और झाड़ियों से घिरा हो जिससे उस तरफ की चीज इस तरफ से न दिखायी देती हो ऐसे दुर्गम स्थान में न जाय।

अधितिष्ठेन्न केशांस्तु न भस्मास्थिकपालिकाः।
न कार्पासास्थि न तुषान्दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥७८॥

दीर्घजीवन की इच्छा रखने वाला पुरुष केश, भस्म, हड्डी, ठीकरे, कपास की दंठियों और धान के भूसी पर पैर देकर खड़ा न हो।

न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुल्कसैः।
न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः ॥७९॥

पतित, चाण्डाल, पुल्कस (निषाद से शूद्रा में उत्पन्न), मूर्ख, धन मद से गर्वित, अन्त्यजों और अन्त्यजों के साथ व्यवसाय करने वाले के साथ भी न बैठे।

न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्।
न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत् ॥८०॥

शूद्र को युक्ति न बताये। उच्छिष्ट और हवि का शेषांश न दे। उसे धर्म और व्रत का प्रत्यक्ष (बीच में ब्राह्मणों का व्यवधान रखकर दे सकते हैं) उपदेश भी न दे।

यो ह्यस्य धर्ममाचष्टे यश्चैवादिशति व्रतम्।
सोऽसंवृतं नाम तमः सह तेनैव मज्जति ॥८१॥

जो दूसरे धर्म का उपदेश और व्रत का आदेश करता है, वह उस शूद्र के साथ असंवृत नामक अंधकारमय नरक में जा गिरता है।

न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः ।
न स्पृशेच्चैतदुच्छिष्टो न च स्नायाद्विना ततः ॥८२॥

एक साथ दोनों हाथों से अपने सिर को न खुजलाये, जूठे मुँह माथ न छुए, और पहले सिर धोये बिना स्नान न करे।

केशग्रहान् प्रहारांश्च शिरस्येतान्विवर्जयेत् ।
शिरःस्नातुश्च तैलेन नाङ्गं किञ्चिदपि स्पृशेत् ॥८३॥

चोटी पकड़कर किसी के सिर में न मारे। सिर से नहाया हुआ (अर्थात् नहाने के बाद तेल न लगावे) तेल से किसी अङ्ग को स्पर्श न करे।

न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रसूतितः ।
सूनाचक्रध्वजवतां वेशेनैव च जीवताम् ॥८४॥

जिस राजा का जन्म क्षत्रिय से न हो, उसका दान न ले। पशु मारकर मांस बेचने वाला कसाई, तेली, कलाल और वेशोपजीवी (कुटना-कुटनियों) से भी दान न ले।

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः ।
दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृपः ॥८५॥

दश वधिकों के समान एक तेली होता है, दश तेलियों के बराबर एक कलाल होता है, दश कलालों के बराबर एक वेशोपजीवी होता है और दश वेशोपजीवियों के समान एक राजा होता है।

दश सूनासहस्राणि यो वाहयति सौनिकः ।
तेन तुल्यः स्मृतो राजा घोरस्तस्य प्रतिग्रहः ॥८६॥

जो वधिक दश हजार प्राणियों की हिंसा करता है, उसके तुल्य राजा होता है। इसलिये उसका दान भयानक होता है।

यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः ।
स पर्यायेण यातीमान्नरकानेकविंशतिम् ॥८७॥

जो कृपण और शास्त्र की आज्ञा न माननेवाले राजा से दान लेता है, वह क्रम से इन इक्कीस नरकों में गिरता है।

तामिस्रमन्धतामिस्रं महारौरवरौरवौ ।
नरकं कालसूत्रं च महानरकमेव च ॥८८॥

१. तामिस्र, २. अन्धतामिस्र, ३. महारौरव, ४. कालसूत्र, ५. महानरक,

संजीवनं महावीचिं तपनं सम्प्रतापनम् ।
संहातं च सकाकोलं कुड्मलं प्रतिमूर्तिकम् ॥८९॥

६. संजीवन, ७. महावीचि, ८. तपन, ९. संप्रतापन, १०. संहात, ११.सकाकोल, १२. कुड्मल, १३. प्रतिमूर्तिक।

लोहशंकुमृजीषं च पन्थानं शाल्मलीं नदीम् ।
असिपत्रवनं चैव लोहदारकमेव च ॥९०॥

१४. लोकशंकु, १५. ऋजीष, १६. पन्या, १७. शल्मली, १८. नदी, १९. असिपत्र २०. वन और २१. लोहदारक (ये वे इक्कीस नरक है)।

एतद्विदन्तो विद्वांसो ब्राह्मणः ब्रह्मवादिनः ।
न राज्ञः प्रतिगृह्णन्ति प्रेत्य श्रेयोऽभिकांक्षिणः ॥९१॥

(पूर्व कथित ८७ श्लोकोक्त आदेश को) कर्मनिष्ठ (धर्मशास्त्रादि को जानने वाले) विद्वान् जन्मान्तर में विशेष कल्याण की इच्छा रखने वाले ब्राह्मण राजा का दान नहीं लेते।

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च ॥९२॥

सूर्योदय के पहले (ब्राह्ममुहूर्त्त में) जागकर धर्म और अर्थ की चिन्ता करे और उसके लिये जो शरीर को क्लेश उठाना पड़ता है उसका भी विचार करे और वेद के तत्त्वार्थ का भी चिन्तन करे।

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः ।
पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्वकाले चापरां चिरम् ॥९३॥

(इसके बाद) उठकर आवश्यक कृत्य कर, शौचादि करके एकाग्र चित्त हो प्रात:कालिक सन्ध्याकर (सूर्योदय पर्यन्त) गायत्री मन्त्र जपे। सायंकालिक सन्ध्या भी ठीक समय पर करके देर तक गायत्री जपे।

ऋषयो दीर्घसंध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः ।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥९४॥

ऋषिगण देर तक सन्धोपासनादि करने से ही दीर्घजीवी होते थे और बुद्धि, यश, कीर्ति तथा ब्रह्मतेज को प्राप्त करते थे।

श्रावण्यां प्रोष्ठपद्यां वाऽप्युपाकृत्य यथाविधि ।
युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान्विप्रोऽर्धपञ्चमान् ॥९५॥

ब्राह्मण को चाहिये कि सावन या भादों की पूर्णिमा को वेदविधि से उपाकर्म करके साढ़े चार महीने तक तत्पर होकर वेद पढ़े।

पुष्ये तु छन्दसां कुर्याद् बहिरुत्सर्जनं द्विजः ।
माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि ॥९६॥

उसके बाद पुष्य नक्षत्र में गाँव से बाहर वेदों का उत्सर्जन कर्म करे अथवा माघ शुक्ल की पहली तिथि के पूर्वाह्ण में करे।

यथाशास्त्रं तु कृत्वैवमुत्सर्गं छन्दसां बहिः ।
विरमेत् पक्षिणो रात्रिं तदेवैकमहर्निशम् ॥९७॥

यथोक्त रीति से गाँव के बाहर वेद का उत्सर्जन कर्म करके दो दिन और उनके बीच की रात को अनध्याय करे।

अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः पठेत् ।
वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु सम्पठेत् ॥९८॥

इस कर्म के अनन्तर शुल्क पक्ष में एकाग्र चित्त होकर वेद पढ़े और कृष्णपक्ष में वेद का अंग शिक्षा व्याकरण आदि पढ़े।

नाविस्पष्टमधीयीत न शूद्रजनसन्निधौ ।
न निशान्ते परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत् ॥९९॥

स्वर वर्ण आदि का स्पष्ट उच्चारण किये बिना या शूद्रों के समीप में वेद न पढ़े। रात के पिछले पहर में वेद पढ़कर थके हुए ब्राह्मण को न सोना चाहिए।

यथोदितेन विधिना नित्यं छन्दस्कृतं पठेत् ।
ब्रह्म छन्दस्कृतं चैव द्विजो युक्तो ह्यनापदि ॥१००॥

यभोक्त विधि से नित्य गायत्री आदि छन्दों से युक्त मन्त्रों का ही पाठ करें। निरापद अवस्था में ब्राह्मण और मन्त्र दोनों भागों का अध्ययन करे।

इमान्नित्यमनध्यायाधीयानो विवर्जयेत् ।
अध्यापनं च कुर्वाणः शिष्याणां विधिपूर्वकम् ॥१०१॥

विधिपूर्वक नित्य वेद पढ़ने वाला अध्यापक इन अनध्यायों का त्याग करे।

कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ दिवा पांसुसमूहने ।
एतौ वर्षास्वनध्यायावध्यायज्ञाः प्रचक्षते ॥१०२॥

रात में यदि वर्षाऋतु में वायु बहने का शब्द सुनायी दे और दिन में धूल उड़ती हुई हवा बहे तो वे दोनों रात दिन उस ऋतु में अनध्याय होते हैं ऐसा अध्यापन के जानने वाले मुनि कहते हैं।

विद्युत्स्तनितवर्षेषु महोल्कानां च संप्लवे ।
आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत् ॥१०३॥

यदि मेघ और बिजली के गरजते चमकते हुये वर्षा होती हो और महान् उल्कापात होता हो, ऐसे समय को मनुजी ने अकालिक अनध्याय कहा है इसमें भी वेदाध्ययन न करे।

एतांस्त्वभ्युदितान्विद्याद्यदा प्रादुष्कृताग्निषु ।
तदा विद्यादनध्यायमनृतौ चाभ्रदर्शने ॥१०४॥

(वर्षाऋतु में) संध्या समय में होमार्थ अग्नि प्रज्वलित करते समय यदि विद्युत और मेघ गर्जता हो तो अनध्याय जानना। अन्य ऋतु में अग्नि प्रज्वलित करने के समय अभ्र मेघ देखने से ही अनध्याय हो जाता है।

निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने ।
एतानाकालिकान्विद्यादनध्यायानृतावपि ॥१०५॥

दिग्गर्जन, भूकम्प, और ग्रह-ताराओं के परस्पर युद्ध होने से अन्य ऋतु और वर्षाऋतु में भी यह आकालिक अनध्याय जानना।

प्रादुष्कृतेष्वाग्निषु तु विद्युत्स्तनितनिःसने ।
सज्योतिः स्यादनध्यायः शेषे रात्रौ यथा दिवा ॥१०६॥

प्रातः संन्ध्या करने के समय होमार्थ अग्नि प्रज्वलित करने पर यदि बिजली चमकने के साथ-साथ मेघ गरजे, तो यह सज्योति अनध्याय है अर्थात् सूर्य किरण के प्रगट होने तक अनध्याय है और यदि सायंकाल में हो त्तो नक्षत्रों के उदय होने तक सायंकाल में अनध्याय होता है।

नित्यानध्याय एव स्याद् ग्रामेषु नगरेषु च ।
धर्मनैपुण्यकामानां पूतिगन्धे च सर्वदा ॥१०७॥

धर्म की विशेष अभिलाषा वालों को ग्राम में, नगर तथा जहाँ दुर्गन्ध आती हो वहाँ सर्वदा अनध्याय होता है।

अन्तर्गतशवे ग्रामे वृषलष्य च सन्निधौ ।
अनध्यायो रुद्यमाने समवाये जनस्य च ॥१०८॥

गाँव में मुर्दा पड़ा हो, अधार्मिक मनुष्य समीप में हो और जहाँ लोगों की भीड़ हो वहाँ अनध्याय होता है।

उदके मध्यरात्रे च विण्मूत्रस्य विसर्जने ।
उच्छिष्टः श्राद्धमुक्त्वैव मनसाऽपि न चिन्तयेत् ॥१०९॥

जल में खड़े होकर, मध्य रात्रि में, मल-मूत्र विसर्जन करते समय, जूठे मुँह, श्राद्ध-भोजन करने के पश्चात् मन से भी वेद का चिन्तन न करे।

प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोदिष्टस्य केतनम्।
त्र्यहं न कीर्तयेद्ब्रह्म राज्ञो राहोश्च सूतके॥११०॥

विद्वान् ब्राह्मण एकोद्दिष्ट (श्राद्ध) का निमन्त्रण स्वीकार करके तीन दिन तक वेदपाठ न करे। राजा के सम्बन्धी अशौच में सूर्य और चन्द्र ग्रहण में भी तीन दिन तक अनध्याय करे।

यावदेकानुद्दिष्टस्य गन्धो लेपश्च तिष्ठति।
विप्रस्य विदुषो देहे तावद् ब्रह्म न कीर्तयेत्॥१११॥

विद्वान् ब्राह्मण के शरीर पर जब तक एकोदिष्ट श्राद्ध का गंध और लेप रहे तब तक वह वेदाध्ययन न करे।

शयानः प्रौढपादश्च कृत्वा चैवावसाक्थिकाम्।
नाधीयीतामिषं जग्ध्वा सूतकान्नाद्यमेव च॥११२॥

बिछौने पर लेटकर, पांव पर पांव रखकर, घुटनों के बल बैठकर तथा अशौचान्न और मांस खाकर वेद न पढ़े।

नीहारे बाणशब्दे च सन्ध्ययोरेव चोभयोः।
अमावास्याचतुर्दश्योः पौर्णमास्यष्टकासु च॥११३॥

धूल उड़ती हो, बाण का शब्द सुनायी देता हो ऐसे समय में प्रातः सायं संध्या के समय और अमावस्या, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अष्टमी-इन तिथियों में वेद न पढ़े।

अमावास्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी।
ब्रह्माष्टकापौर्णमास्यौ तस्मात्ताः परिवर्जयेत्॥११४॥

अमावास्या गुरु का और चतुर्दशी शिष्य का नाश करती है। पूर्णिमा और अष्टमी पढ़े हुए वेदमन्त्रों को भुला देती है, इसलिए वेदों को अध्ययन में इन तिथियों को त्याग देना चाहिये।

पांसुवर्षे दिशां दाहे गोमायुविरुते तथा।
श्वखरोष्ट्रे च रुवति पङ्क्तौ च न पठेद् द्विजः॥११५॥

धूल बरस रही हो, दिग्दाह हो रहा हो, श्रृगाल, कुत्ते, गधे और ऊँट उच्च स्वर से शब्द कर रहे हों, ऐसे समय और इनके साथ बैठकर वेदाध्ययन न करे।

नाधीयीत श्मशानान्ते ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा।
वसित्वा मैथुनं वासः श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च॥११६॥

श्मशान के समीप, ग्राम के समीप, गोशाला में, रतिकाल में पहने हुए वस्त्र धारण कर और श्राद्धीय वस्तुएँ प्रतिग्रह कर वेद न पढ़े।

प्राणि वा यदि वाऽप्राणि यत्किञ्चिच्छ्राद्धिकं भवेत् ।
तदालभ्याप्यनध्यायः पाण्यास्यो हि द्विजः स्मृतः ॥११७॥

श्राद्धीय वस्तु सजीव हो (गौ, घोड़े आदि) अथवा निर्जीव हो (वस्त्र भूषण आदि) उनका दान लेने से अनध्याय होता है, क्योंकि ब्राह्मण के हाथ को मुनियों ने मुख कहा है।

चौरैरुपद्रुते ग्रामे सम्भ्रमे चाग्निकारिते ।
आकालिकमनध्यायं विद्यात्सर्वाद्भुतेषु च ॥११८॥

गाँव में चोरों का उपद्रव, गृहदाहादि का भय और सब प्रकार के अद्भुत उत्पात दृष्टिगोचर होने पर अकालिक अनध्याय जानना।

उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षेपणं स्मृतम् ।
अष्टकासु त्वहोरात्रमृत्वन्तासु च रात्रिषु ॥११९॥

उपाकर्म और उत्सर्ग में तीन मार्गशीर्ष की पूर्णिमा के बाद कृष्णपक्ष की अष्टमी में एक अहोरात्र और ऋतु के अन्त की रात्रियों में भी एक अहोरात्र (दिन-रात) अनध्याय होता है।

नाधीयीताश्वमारूढो न वृक्षं न च हस्तिनम् ।
न नावं न खरं नोष्ट्रं नेरिणस्थो न यानगः ॥१२०॥

घोड़े, हाथी, गधे, ऊँट, नाव और पेड़ पर चढ़कर वेद न पढ़े। ऊसरभूमि में या रथ पर बैठा हुआ आदमी भी वेदमन्त्रों का पाठ न करे।

न विवादे न कलहे न सेनायां न सङ्गरे ।
न भुक्तमात्रे नाजीर्णे न वमित्वा न शुक्तके ॥१२१॥

किसी के साथ विवाह होता हो, या झगड़ा होता हो ऐसे समय और सेना के बीच में, युद्ध में, भोजन करके तुरन्त अजीर्ण होने पर, वमन, करके और खट्टी डकार आने पर वेद का पाठ न करे।

अतिथिं चाननुज्ञाप्य मारुते वाति वा भृशम् ।
रुधिरे च स्रुते गात्राच्छस्त्रेण च परिक्षते ॥१२२॥

अतिथि को बताये बिना, हवा खूब तेज बहती हो उस समय शरीर से लहू गिरने या कोई अङ्ग हथियार से कट जाने पर अध्ययन न करना चाहिए।

सामध्वनावृग्यजुषी नाधीयीत कदाचन ।
वेदस्याधीत्य वाप्यन्तमारण्यकमधीत्य च ॥१२३॥

सामदेव की ध्वनि सुनाई देती हो तो ऋग्वेद और यजुर्वेद का कभी भी अध्ययन न करे। किसी वेद को या आरण्यक संज्ञक वेद के एक अंश को समाप्त कर उस दिन या उस रात में पुनः वेद का कोई भाग न पढ़े।

ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः ।
सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तस्मात्तस्याशुचिर्ध्वनिः ॥१२४॥

ऋग्वेद के देवता देव हैं, यजुर्वेद के मनुष्य और सामवेद के पितृ देवता हैं। इसलिए उसकी ध्वनि अपवित्र होती है।

एतद्विदन्तो विद्वांसस्त्रयीनिष्कर्षमन्वहम् ।
क्रमतः पूर्वमभ्यस्य पश्चाद्वेदमधीयते ॥१२५॥

पूर्वोक्त तीनों वेदों के देवताओं को जानता हुआ विद्वान् पहले प्रणव व्याहृति पूर्वक सावित्री का क्रम से अभ्यास करने के पश्चात् वेद का अध्ययन करे।

पशुमण्डूकमार्जारश्वसर्पनकुलाखुभिः ।
अन्तरागमने विद्यादनध्यायमहर्निशम् ॥१२६॥

पशु (गाय भैंस आदि) मेढ़क, बिल्ली, कुत्ता, साँप, नेवला और चूहा उनमें से कोई गुरु शिष्य के बीच में होकर निकल जायँ तो एक दिन रात अनध्याय होता है।

द्वावेव वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः ।
स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धामात्मानं चाशुचिं द्विजः ॥१२७॥

स्वाध्याय की अशुद्ध भूमि और अपना अशुद्ध शरीर इन दो अनध्यायों का नित्य यत्नपूर्वक त्याग करे।

अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम् ।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्युतौ स्नातको द्विजः ॥१२८॥

स्नातक ब्राह्मण अमावास्या, अष्टमी, पूर्णिमा, और चतुर्दशी तिथि को ब्रह्मचारी रहे। ऋतुमती स्त्री के साथ भी समागम न करे।

न स्नानमाचरेद् भुक्त्वा नातुरो न महानिशि ।
न वासोभिः सहाजस्त्रं नाविज्ञाते जलाशये ॥१२९॥

भोजन करके स्नान न करें, रोगी स्नान न करे, रात के दूसरे तीसरे पहर में स्नान न करे। बहुत कपड़े साथ लेकर स्नान न करे। बिना जाने हुए जलाशय में भी स्नान न करे।

देवतानां गुरो राज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा ।
नाक्रामेत्कामतश्छायां बभ्रुणो दीक्षितस्य च ॥१३०॥

देवता, गुरु, राजा, स्नातक, आचार्य अग्नि और दीक्षित-इनकी छाया न लाँघे।

मध्यन्दिनेऽर्धरात्रे च श्राद्धं भुक्त्वा च सामिषम् ।
सन्ध्ययोरुभयोश्चैव न सेवेत चतुष्पथम् ॥१३१॥

दोपहर या आधी रात को, मांस सहित श्राद्धान्न खाने पर और दोनों साँझ, चौराहे पर देर तक न रहे।

उद्वर्तनमपस्नानं विण्मूत्रे रक्तमेव च ।
श्लेष्मनिष्ठ्यूतवान्तानि नाधितिष्ठेत्तु कामतः ॥१३२॥

उबटन का मैल, स्नानजल, मल, मूत्र, लहू, कफ, थूक और वमन आदि दूषित वस्तुओं के समीप जानकर न बैठे।

वैरिणं नोपसेवेत सहायं चैव वैरिणः ।
अधार्मिकं तस्करं च परस्यैव च योषितम् ॥१३३॥

शत्रु या शत्रु के मन्त्री, अधर्मी चोर और पराई स्त्री की सेवा न करे।

न हीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते ।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥१३४॥

संसार में पुरुष की आयु घटाने वाला ऐसा कोई पाप नहीं है जैसा कि परस्त्रीगमन है।

क्षत्रियं चैव सर्पं च ब्राह्मणं च बहुश्रुतम् ।
नावमन्येत वै भूष्णुः कृशानपि कदाचन ॥१३५॥

क्षत्रिय, साँप, और वेदपाठी ब्राह्मण निर्बल भी हो तो भी हितेच्छु पुरुष इनका कभी अपमान न करे।

एतत्त्रयं हि पुरुषं निर्दहेदवमानितम् ।
तस्मादेतत्त्रयं नित्यं नावमन्येत बुद्धिमान् ॥१३६॥

ये तीनों अपमानित होने पर अपमान करने वाले को भस्म कर देते हैं। इसलिए बुद्धिमान् कभी इनका अपमान न करे।

नात्मानमन्वयेत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥१३७॥

उद्योग करने पर यदि समृद्धि न मिले तो अपने को अपमानित न करे। मरते दमतक लक्ष्मीप्राप्ति के लिय यत्न करे, उसे दुर्लभ न समझे।

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥१३८॥

सत्य बोले, प्रिय बोले, ऐसा सत्य न बोले जो अप्रिय हो, ऐसा प्रिय, भी न बोले जो असत्य हो—यह सनातन धर्म है।

भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत् ।
शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्केनचित्सह ॥१३९॥

अशुभ बातों को अच्छे शब्दों से ही कहे अथवा केवल भद्र वचन (शुभ वार्ता) ही बोले। बेमतलब किसी से बैर या विवाद न करे।

नातिकल्यं नातिसायं नातिमध्यन्दिने स्थिते ।
नाज्ञातेन समं गच्छेन्नैको न वृषलैः सह ॥१४०॥

बहुत सबेरे अत्यन्त शाम को अत्यन्त दोपहर को अपरिचित व्यक्ति के साथ, अधार्मिकों के साथ या अकेला कहीं न जाय।

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान्विद्याहीनान्वयोधिकान् ।
रूपद्रव्यविहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥१४१॥

हीन अङ्गवाले, अधिक अङ्गवाले, मूर्ख, कुरूप, वृद्ध, दरिद्र और हीन जाति के मनुष्यों को उनके दोषों को कहकर तिरस्कार न करे।

न स्पृशेत्पाणिनोच्छिष्टो विप्रो गोब्राह्मणानलान् ।
न चापि पश्येदशुचिः सुस्थो ज्योतिर्गणान्दिवि ॥१४२॥

जूठे मुँह, गौ, ब्राह्मण और आग को हाथ से स्पर्श न करे। स्वस्थ रहते कभी अपवित्र अवस्था में आकाश में ग्रह नक्षत्रों की ओर न देखे।

स्पृष्ट्वैतानशुचिर्नित्यमद्भिः प्राणानुपस्पृशेत् ।
गात्राणि चैव सर्वाणि नाभिं पाणितलेन तु ॥१४३॥

अशुचि अवस्था में ब्राह्मणादि का स्पर्श करने पर आचमन करे और हाथ में जल लेकर नासिका और नेत्र आदि इन्द्रियों का और सिर, कन्धा, घुटने, पैर और नाभी को जल से स्पर्श करे।

अनातुरः स्वानि खानि न स्पृशेदनिमित्ततः ।
रोमाणि च रहस्यानि सर्वाण्येव विवर्जयेत् ॥१४४॥

स्वस्थ अवस्था में इन्द्रियों के छिद्र तथा गुप्त स्थान के रोगों को निष्कारण न छूए।

मङ्गलाचारयुक्तः स्यात्प्रयतात्मा जितेन्द्रियः ।
जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः ॥१४५॥

शुभ आचरों से युक्त, पवित्र, हृदय, जितेन्द्रिय पुरुष आलस्य रहित होकर नित्य गायत्री मन्त्र जपे और अग्नि में हवन करे।

मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम् ।
जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते ॥१४६॥

जो पवित्रात्मा शुभ आचारों से युक्त होकर नित्य जप और हवन करते हैं, उन्हें किसी प्रकार का (दैवी या मानुषी) उपद्रव नहीं होता।

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः ।
तं ह्यस्यायुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥१४७॥

नित्य यथा समय आलस्य रहित होकर वेदमन्त्रों का जप करे। यह ब्राह्मण का मुख्य धर्म है बाकी को उपधर्म कहते हैं।

वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च ।
अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥१४८॥

निरन्तर वेद के अभ्यास, पवित्रता, तप और प्राणियों की अहिंसा से पूर्वजन्म की जाति का स्मरण होता है।

पौर्विकीं संस्मरञ्जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः ।
ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते ॥१४९॥

पूर्वजन्म के जातिस्मरण होने पर भी वह नित्य वेद का ही अभ्यास करता है। निरन्तर ब्रह्माभ्यास से वह अनन्त सुख (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

सावित्राच्छान्तिहोमांश्च कुर्यात्पर्वसु नित्यशः ।
पितृंश्चैवाष्टकास्वर्चेन्नित्यमन्वष्टकासु च ॥१५०॥

सावित्री नित्य होम और अनिष्ट निवृत्यर्थ प्रत्येक पर्वों में शान्ति होम करना चाहिये। उसी प्रकार अष्टका और अन्वष्टका में पितरों का श्राद्ध-कर्म करे।

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम् ।
उच्छिष्टान्नं निषेकं च दूरादेव समाचरेत् ॥१५१॥

अग्निशालों से दूर जाकर मल-मूत्र त्याग करे, पैर धोये, उच्छिष्ट फेंके, गर्भाधान क्रिया भी वहाँ से दूर ही करे।

मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम् ।
पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम् ॥१५२॥

शौच, तैलाभ्यङ्ग, दन्तधावन, स्नान, अञ्जन और देवताओं का पूजन पूर्वाह्ण में ही करना चाहिये।

दैवतान्यभिगच्छेत्तु धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान् ।
ईश्वरं चैव रक्षार्थं गुरूनेव च पर्वसु ॥ १५३॥

अपनी रक्षा के लिये देवताओं, धार्मिकों, ब्राह्मणों और गुरुओं तथा राजा के दर्शनार्थ (अमावास्यादि) पर्वों में उनके सामने जाय।

अभिवादयेद् वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम् ।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ॥ १५४॥

वृद्धों (श्रेष्ठ पुरुषों) को घर आने पर उठकर उन्हें प्रणाम करे, अपना आसन बैठने को दे और अञ्जलिबद्ध होकर आगे खड़ा रहे। जब वे जाने लगें तब कुछ दूरतक उनके पीछे जाय।

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् निबद्धं स्वेषु कर्मसु ।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥ १५५॥

श्रुति और स्मृति में कहे हुए सदाचार जो अपने कर्म में सम्यक् रूप से मिले हुए हैं और जो धर्म के मूल हैं, निरालस्य होकर उनका पालन करना चाहिये।

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ १५६॥

आचार से आयु प्राप्त होती है, आचार से अभिमत सन्तान प्राप्त होती है, आचार से अक्षय धनलाभ होता है, आचार से अशुभ लक्षणों का नाश होता है।

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥ १५७॥

दुराचारी पुरुष संसार में निन्दित, सर्वदा दुःखी, रोगी और अल्पायु होता है।

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ १५८॥

सब लक्षणों से हीन होने पर भी जो पुरुष सदाचारी और श्रद्धालु होता है तथा दूसरों के दोष को नहीं कहता। वह सौ वर्ष जीता है।

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् ।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः ॥ १५९॥

जो-जो कर्म दूसरे के वश में हो उन कर्मों को यत्न करके त्याग दे और जो-जो कर्म अपने अधीन हो, उन-उन कर्मों का यत्न पूर्वक सेवन करे।

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥१६०॥

पराधीन सभी कर्म दुःख देनेवाले और स्वाधीन सभी कर्म सुख देनेवाले होते हैं, संक्षेप में यही सुख-दुःख का लक्षण देते हैं।

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः ।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥१६१॥

जिसके करने से अपने चित्त को सन्तोष हो उसे अवश्य करे, और जिसके करने से चित्त को दुःख हो उसे न करे।

आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम् ।
न हिंस्याद् ब्राह्मणान्गांश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः ॥१६२॥

उपनयन, वेदाध्ययन करनेवाला आचार्य, वेदार्थ व्याख्याता, पिता, माता, गुरु, ब्राह्मण, गाय और तपस्वी-इनकी हिंसा न करे (दुःख न दे), विरुद्ध आचरण न करे।

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम् ।
द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत् ॥१६३॥

नास्तिकता (ईश्वर में अविश्वास), वेद और देवताओं की निन्दा, ईर्ष्या-भाव, दम्भ, अभिमान, क्रोध और क्रूरता इनको त्याग देना चाहिये।

परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्क्रुद्धो नैव निपातयेत् ।
अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शिष्ट्यर्थं ताडयेत्तु तौ ॥१६४॥

दूसरे के लिए क्रुद्ध होकर लाठी न उठावे और न मारे। पुत्र तथा शिष्य के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति को दण्डप्रहार न करे। किन्तु पुत्र तथा शिष्य को अनुशासन के लिये अवश्य ताड़न करे।

ब्राह्मणायावगुर्यैव द्विजातिर्वधकाम्यया ।
शतं वर्षाणि तामिस्रे नरके परिवर्तते ॥१६५॥

जो द्विजाति ब्राह्मण को मारने की इच्छा से क्रूद्ध होकर लाठी उठाता है वह सौ वर्ष तक तामिस्र नामक नरक में चक्कर खाता है।

ताडयित्वा तृणेनापि संरम्भान्मतिपूर्वकम् ।
एकविंशतिमाजातीः पापयोनिषु जायते ॥१६६॥

जो क्रोध में आकर ज्ञानतः एक तिनके से भी ब्राह्मण को मारता है वह उस पाप के फल से २-१ बार पापयोनियों में (अर्थात् कुत्ता आदि नीच योनियों में) जन्म लेता है।

अयुध्यमानस्योत्पाद्य ब्राह्मणस्यासृगङ्गतः ।
दुःखं सुमहदाप्नोति प्रेत्याप्रज्ञतया नरः ॥१६७॥

जो कोई न लड़ने वाला ब्राह्मण के शरीर से लहू बहाता है, वह अपनी मूर्खता के कारण मरने पर परलोक में बहुत कष्ट पाता है।

शोणितं यावतः पांसून्संगृहणाति महीतलात् ।
तावतोऽब्दानमुत्रान्यैः शोणितोत्पादकोऽद्यते ॥१६८॥

ब्राह्मण का गिरा हुआ रक्त मिट्टी के जितने अणुओं को भिगोता है, उतने वर्ष परलोक में उस रक्त बहाने वाले को हिंस्त्र जीव काटते और खाते हैं।

न कदाचित् द्विजे तस्माद्विद्वानवगुरेदपि ।
न ताडयेत्तृणेनापि न गात्रात्स्रावयेदसृक् ॥१६९॥

इस कारण विद्वान् पुरुष ब्राह्मण पर भूलकर भी कभी दण्ड न उठावे, तृण से भी न मारे और उसके शरीर से रक्त न बहावे।

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् ।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥१७०॥

अधर्मी, झूठ ही बोलने वाले, दूसरे की हिंसा में लगे रहने वाले पुरुष इस लोक में भी सुख नहीं पाते।

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् ।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम् ॥१७१॥

अधर्माचारी पापियों का शीघ्र नाश होता देखकर (अर्थात् दुर्दशापन्न देखकर) धर्माचरण से दुःख पाता हुआ भी मनुष्य अधर्म में मन को न लगावे।

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥१७२॥

किया हुआ पाप पृथ्वी में बोए हुए बीज की भाँति तत्काल फल नहीं देता। किन्तु धीरे-धीरे फलित होने का समय आने पर पापकर्त्ता का मूलोच्छेदन कर देता है।

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु ।
न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ॥१७३॥

यदि पाप का फल अपने आपको न मिला तो पुत्रों को, पुत्रों को न हुआ तो पौत्रों को मिलता ही है। बाप का किया हुआ पाप कभी निष्फल नहीं होता।

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ १७४॥

अधर्म से कुछ काल वृद्धि होती है, उससे सभी प्रकार के वैभव दिखाई देते हैं। उससे शत्रुओं पर विजय प्राप्त होती है। उसके बाद उसका जड़मूल से नाश होता है।

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत् सदा ।
शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥ १७५॥

सत्य, धर्म, सदाचार और पवित्रता में सदा रत रहे। वाणी[1] बाहु[2] और पेट[3] को संयत रखता हुआ धर्मपूर्वक शिष्यों को शिक्षा दे।

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥ १७६॥

जो अर्थ काम धर्म के विरुद्ध हों उन्हें त्याग दे और ऐसे धर्म को भी न करे जिससे पीछे दुःख हो, लोगों को रुलाने वाला कार्य न करे।

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृजुः ।
न स्याद्वाक्चपलश्चैव न परद्रोहकर्मधीः ॥ १७७॥

हाथ में वृथा किसी वस्तु को न ले, और निष्प्रयोजन घूमे नहीं। नेत्र चपल न हों (अर्थात् बुरी दृष्टि से किसी को न देखे), व्यर्थ बहुत न बोले, कुटिल न हो, दूसरों की हानि करने की चेष्टा न करे।

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥ १७९॥

जिस मार्ग से बाप-दादा चले हों उसी अच्छे मार्ग से आप भी चलें उस मार्ग से चलने पर पापभागी नहीं होना पड़ता।

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः ।
बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ॥ १७९॥
मातापितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥ १८०॥

---

१. वाणी का संयम - थोड़ा और सच बोलना ।
२. बाहु का संयम - किसी को बाहुबल से पीड़ित न करना ।
३. उदर संयम - जो कुछ खाने को मिले उसमें सन्तोष करना ।

यज्ञ करने वाला, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, आश्रितवर्ग, बालक, वृद्ध, रोगी, वैद्य, दायाद, सम्बन्धी, (साले, जामाता आदि) और मातृकुल के लोगोंके साथ तथा माँ, बाप, बहन, पतोहू, भाई, बेटा, बेटी, स्त्री और नौकरों के साथ विवाद न करे।

एतैर्विवादान् संत्यज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
एभिर्जितैश्च जयति सर्वाँल्लोकानिमान्गृही ॥१८१॥

जो इन लोगों से विवाद नहीं करता, वह सब पापों से छूट जाता है। इनके साथ झगड़ा न करने वाला पुरुष इन (आगे कहे हुए) लोकों को प्राप्त करता है।

आचार्यो ब्रह्मलोकेशः प्राजापत्ये पिता प्रभुः ।
अतिथिस्त्विन्द्रलोकेशो देवलोकस्य चर्त्विजः ॥१८२॥

आचार्य ब्रह्मलोक का, पिता प्राजापत्य लोक का, अतिथि इन्द्रलोक का और यज्ञपुरोहित देवलोक का स्वामी होता है।

जामयोऽप्सरसां लोके वैश्वदेवस्य बान्धवाः ।
सम्बन्धिनो ह्यपां लोके पृथिव्यां मातृमातुलौ ॥१८३॥

बहन और वधू का अप्सरा लोक पर, बान्धवों का वैश्वदेव लोक पर, सम्बन्धियों का वरुणलोक पर, माता और मामा का भूलोक पर प्रभुत्व होता है।

आकाशेशास्तु विज्ञेया बालवृद्धकृशातुराः ।
भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्रःस्वका तनुः ॥१८४॥

बालक, वृद्ध, कृश और रोगी आकाश के स्वामी होते हैं। बड़ा भाई पिता के तुल्य होता है। स्त्री और पुत्र तो अपना शरीर ही ठहरा। (फिर उनके साथ विवाद कैसा?)

छाया स्वो दासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम् ।
तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेतासंज्वरः सदा ॥१८५॥

दासवर्ग अपनी छाया के सामान होते हैं, बेटी बड़ी ही दया पात्र होती है। इस कारण ये लोग तिरस्कार भी करें तो भी चुप-चाप सुन ले, विवाद न करे।

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसङ्गं तत्र वर्जयेत् ।
प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ॥१८६॥

दान लेने की योग्यता रखता हुआ भी बार-बार दान लेने की इच्छाओं को त्याग दे। क्योंकि प्रतिग्रह से ब्रह्मतेज लुप्त हो जाता है।

न द्रव्याणामविज्ञाय विधिं धर्म्यं प्रतिग्रहे।
प्राज्ञः प्रतिग्रहं कुर्यादवसीदन्नपि क्षुधा ॥१८७॥

द्रव्यों के दान लेने में धार्मिक विधान को न जानकर क्षुधा से पीड़ित होने पर भी बुद्धिमान् ब्राह्मण दान न ले।

हिरण्यं भूमिमश्वं गामन्नं वासस्तिलान्घृतम्।
प्रतिगृह्णन्नविद्वांस्तु भस्मीभवति दारुवत् ॥१८८॥

सोना, भूमि, घोड़ा, गाय, अन्न, वस्त्र, तिल, और घृत इन वस्तुओं का दान लेने वाला मूर्ख ब्राह्मण लकड़ी की तरह भस्म हो जाता है।

हिरण्यमायुरन्नं च भूगौश्चाप्योषतस्तनुम्।
अश्वश्चाक्षुस्त्वचं वासो घृतं तेजस्तिलाः प्रजाः ॥१८९॥

सोना और अन्न का दान आयु को, भूमि और गाय का दान शरीर को, घोड़ा नेत्र को, वस्त्र त्वचा को, घृत तेज को, और तिल का दान सन्तानों को जलाता है।

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः।
अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति ॥१९०॥

तपस्या और वेदविद्या से रहित दान लेने वाला ब्राह्मण यजमान के साथ नरक में डूबता है, जैसे पत्थर की बनी नाव से पार उतरने वाले नाव के साथ पानी में डूबते हैं।

तस्मादविद्वान्बिभियाद्यस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहात्।
स्वल्पकेताप्यविद्वान्हि पङ्के गौरिव सीदति ॥१९१॥

इसलिये थोड़ा-सा भी द्रव्य प्रतिग्रह करने से डरे, क्योंकि ऐसे थोड़े से प्रतिग्रह से भी धसी हुई गौ की भाँति मूर्ख ब्राह्मण नरक में धँसता और क्लेश भोगता है।

न वार्यपि प्रयच्छेत्तु बैडालव्रतिके द्विजे।
न बकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित् ॥१९२॥

धर्मज्ञ को चाहिये कि वह बैडालव्रतिक, बकवृत्तिक, और वेदानभिज्ञ ब्राह्मण को जल तक भी न दे।

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाऽप्यर्जितं धनम्।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥१९३॥

उपर्युक्त तीनों को न्यायोपार्जित भी धन दिया जाय। तो वह परलोक में भी दाता और प्रति ग्रहीता दोनों के लिए अनर्थ का कारण होता है।

यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन् ।
तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥१९४॥

जैसे पत्थर की नाव से पार उतरने वाला नाव के साथ पानी में डूब जाता है वैसे ही दोनों मूर्ख दाता और ग्रहीता नरक में डूब जाते हैं।

धर्मध्वजी सदा लुब्धश्छाद्मिको लोकदम्भकः ।
बैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसन्धकः ॥१९५॥

धर्मध्वजी (जो लोगों को दिखलाने के लिए धर्म करता है) यथार्थ में दूसरे के धन का लोभी होता है, कपट वेशधारी और बंचक होता है। जो सदा दूसरों की निन्दा करता और हिंसा में रत रहता है उसे वैडालिक कहते हैं।

अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः ।
शठो मिथ्याविनीतश्च वकव्रतचरो द्विजः ॥१९६॥

जो नम्रता दिखलाने के लिये अपनी दृष्टि को सदा नीचे रखता है पर आचरण क्रूरता का करता है। स्वार्थ साधन में सर्वदा रहता है टेढ़ी चाल चलने वाला, कपट से युक्त नम्रता दिखाता है ऐसे ब्राह्मण को बकवादी कहते हैं।

ये बकव्रतिनो विप्रा ये च मार्जारलिङ्गिनः ।
ते पतन्त्यन्धतामिस्रे तेन पापेन कर्मणा ॥१९७॥

जो ब्राह्मण बकव्रती और वैडालव्रतिक होते हैं, वे उस पापकर्म फल से अन्धतामिस्र नरक में गिरते हैं।

न धर्मस्यापदेशेन पापं कृत्वा व्रतं चरेत् ।
व्रतेन पापं प्रच्छाद्य कुर्वन् स्त्रीशूद्रदम्भनम् ॥१९८॥

पाप करके (उसके प्रायश्चित के निमित्त) किसी व्रत का अनुष्ठान करना और फिर उस अनुष्ठान से स्त्री शूद्रादि अज्ञजनों को भरमाकर उस पाप को कभी छिपाना नही चाहिये।

प्रेत्येह चेदृशा विप्रा गर्ह्यन्ते ब्रह्मवादिभिः ।
छद्मनाऽऽचरितं यच्च व्रतं रक्षांसि गच्छति ॥१९९॥

ऐसे ब्राह्मण इस लोक और परलोक दोनों जगह वेदवक्ताओं द्वारा निन्दित होते हैं। जो व्रत छल से किया जाता है। उसका फल राक्षसों को होता है।

अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण यो वृत्तिमुपजीवति ।
स लिङ्गिनां हरत्येनस्तिर्यग्योनौ च जायते ॥२००॥

जो ब्रह्मचारी न होकर भी ब्रह्मचारी के चिह्न धारण करके उनके वृत्ति से जीवन-निर्वाह करता है, वह ब्रह्मचारियों के किए पापों को अपने लिये बटोरता है और मरने पर कुत्ते आदि तिर्यग् योनियों में जन्म लेता है।

परकीयनिपानेषु न स्नायाच्च कदाचन ।
निपानकर्तुः स्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यते ॥२०१॥

दूसरे के बनाये हुए जलाशय में कभी भी स्नान न करे।। स्नान[1] करने से स्नानकर्त्ता पुष्कर खुदवाने वाले के पापों के अंश (चतुर्थ भाग) का भागी होता है।

यानशय्यासनान्यस्य कूपोद्यानगृहाणि च ।
अदत्तान्युपभुञ्जान एनसः स्यात्तुरीयभाक् ॥२०२॥

किसी के रथ, शय्या, आसन, कुआँ, बागीचा और गृह को दाता के दिये बिना, उपभोग करने वाले उसके पाप के चतुर्थांश के भागी होते हैं।

नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरःसु च ।
स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्तप्रस्त्रवणेषु च ॥२०३॥

नदी, देवकुण्ड, पोखरा, सरोवर, सोते और झरने में नित्य स्नान करना चाहिये।

यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान्बुधः ।
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन् ॥२०४॥

नियमों[2] का पालन नित्य न करे तो भी यमों[3] का सेवन सदा करना चाहिये। केवल नियमों का सेवन करके ही यम न करे तो वह नीचे गिरता है।

नाश्रोत्रियतते यज्ञे ग्रामयाजिकृते तथा ।
स्त्रिया क्लीबेन च हुते भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित् ॥२०५॥

---

१. यदि दूसरे के बनाये हुये जलाशय में स्नान करने का अवसर आ पड़े तो मिट्टी के पाँच लोंदे निकाल कर स्नान करे। याज्ञवल्क्यजी ने कहा है—
पञ्चपिण्डाननुद्धृत्य न स्नायात् परवारिषु ।
उद्धृत्य चतुरः पिण्डान् पारक्ये स्नानमाचरेत् ॥

२. स्नानं मौनोपवासेज्या स्वाध्यायोपस्थ निग्रहाः ।
नियमो गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधा प्रमादता ॥

३. ब्रह्मचर्य - दयाक्षान्तिर्ध्यानं सत्यमकल्पता ।
अहिंसाऽस्तेयमाधुर्ये दमश्चेति यमाः स्मृताः ॥ इति याज्ञवल्क्यः।

जिस यज्ञ में वैदिक ब्राह्मणों का अभाव हो और मूर्ख पुरोहित अन्य मनुष्यों द्वारा किया गया हो, जिस यज्ञ में स्त्री या नपुंसक ने हवन किया हो उस यज्ञ में ब्राह्मण कदापि भोजन न करें।

अश्लीलमेतत्साधूनां यत्र जुह्वत्यमी हविः।
प्रतीपमेतद्देवानां तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥२०६॥

इस प्रकार पूर्वोक्त याजक स्त्रियाँ आदि जिस यज्ञ में हवन करती हैं, वह सज्जनों का अमङ्गलकारी तथा देवताओं के प्रतिकूल होता है। इसलिये ऐसा होम न करना चाहिये।

मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुञ्जीत कदाचन।
केशकीटावपन्नं च यदा स्पृष्टं च कामतः ॥२०७॥

क्षुब्ध, क्रोधी और रोगियों का अन्न कभी न खाय। जिस अन्न में केश और कीड़े पड़ गये हों, जो अन्न जानकर पैरों से छुआ गया हो वह न खाय।

भ्रूणघ्नावेक्षितं चैव संस्पृष्टं चाप्युदक्यया।
पतत्रिणाऽवलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च ॥२०८॥

जो अन्न भ्रूणहत्यादि करने वालों से देखा गया हो, रजस्वला से छू गया हो, कौए आदि पक्षियों से जूठा हो गया हो, या कुत्ते से छू गया हो, वह अन्न न खाय।

गवां चान्नमुपाघ्रातं घुष्टान्नं च विशेषतः।
गणान्नं गणिकाऽन्नं च विदुषां च जुगुप्सितम् ॥२०९॥

जिस अन्न को गौ ने सूँघा हो, 'कौन भोजन करना चाहता है!' ऐसा पूछकर जो अन्न दिया गया हो, शठ, ब्राह्मणों के गणों का और वेश्या का अन्न और विद्वानों द्वारा निन्दित अन्न न खाय।

स्तेनगायनयोश्चान्नं तक्ष्णो वार्धुषि कस्य च।
दीक्षितस्य कदर्यस्य बद्धस्य निगडस्य च ॥२१०॥

चोर, गवैये, बढ़ई और सूद खाने वालों का अन्न न खाय। यज्ञ की दीक्षा लिए हुये यजमान का दिया हवन के पूर्व का अन्न, कृपण का अन्न और कैदी का अन्न न खाय।

अभिशस्तस्य षण्ढस्य पुँश्चल्या दाम्भिकस्य च।
शुक्तं पर्युषितं चैव शूद्रस्योच्छिष्टमेव च ॥२११॥

जनापवाद से दूषिद, नपुंसक, व्यभिचारिणी और कपट धर्माचारी

(अर्थात् बैडालव्रतिक आदि) का अन्न न खाय। सिरका, बासी अन्न और शूद्र का उच्छिष्ट अन्न न खाय।

चिकित्सकस्य मृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः ।
उग्रान्नं सूतिकाऽन्नं च पर्याचान्तमनिर्दशम् ॥ २१२॥

वैद्य का, व्याध का, क्रूर का, जूठन खाने वाले का, भयङ्कर कर्म करने वाले का और सूतिका के लिये तैयार किया हुआ अन्न न खाय। एक पंक्ति में बैठकर खाने वालों में किसी ने यदि आचमन कर लिया हो तो शेष और अशौचान्न न खाय।

अनर्चितं वृथामांसमवीरायाश्च योषितः ।
द्विषदन्नं नगर्यन्नं पतितान्नमवक्षुतम् ॥ २१३॥

सन्मान पूर्वक जो अन्न न दिया गया हो, वृथा मांस (जो देवता पितरों को अर्पित न किया गया हो) अबीरा (पुरोहित स्त्री) का अन्न, शत्रु का अन्न, नगर में मिलने वाला अन्न, पतित का अन्न तथा जिस अन्न पर किसी ने छींक दिया हो वह अन्न न खाय।

पिशुनानृतिनोश्चान्नं क्रतुविक्रयिणस्तथा ।
शैलूषतुन्नवायान्नं कृतघ्नस्यान्नमेव च ॥ २१४॥

चुगुली खाने वाले, झूठ बोलने वाले, यज्ञविक्रयी अर्थात् यज्ञ का फल आपको हो यह कहकर धन जमा करने वाले, नट, दर्जी और कृतघ्न इनका अन्न नहीं खाना चाहिये।

कर्मारस्य निषादस्य रङ्गावतारकस्य च ।
सुवर्णकर्तुर्वेणस्य शस्त्रविक्रयिणस्तथा ॥ २१५॥

लोहार, केवट, रङ्गोपजीवी, सुनार, बाँस वाला और हथियार बेचने वाले का अन्न न खाना चाहिये।

श्ववतां शौण्डिकानां च चैलनिर्णेजकस्य च ।
रञ्जकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ २१६॥

कुत्ता पोसने वाले, मद्य बेचने वाले, धोबी, रंगरेज, निर्दय और जिसके घर में उपपति अर्थात् परस्त्रीगामी पुरुष हो, इन सबका अन्न न खाय।

मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितनां च सर्वशः ।
अनिर्दशं च प्रेतान्नमतुष्टिकरमेव च ॥ २१७॥

घर में पत्नी के उपपति को जानकर भी जो सहन करते हैं, जो स्त्री के

वशीभूत हैं, उनका और मृताशौच का अन्न तथा जो तृप्तिकारक न हो उस अन्न को न खाय।

राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम्।
आयुः सुवर्णकारान्नं यशश्चर्मावकर्तिनः ॥२१८॥

राजा का अन्न तेज को, शूद्रान्न ब्रह्मतेज को, सुनार का आयु को और चमार का अन्न यश को नष्ट करता है।

कारुकान्नं प्रजां हन्ति बलं निर्णेजकस्य च।
गणान्नं गणिकान्नं च लोकेभ्यः परिकृन्तति ॥२१९॥

सूपकारादि का अन्न सन्तानों को और धोबी का अन्न बल को नष्ट करता है। गणों का और गणिकाओं का अन्न स्वर्गादि लोकों से विरत करता है।

पूयं चिकित्सकस्यान्नं पुंश्चल्यास्त्वन्नमिन्द्रियम्।
विष्ठा वार्धुषिकस्यान्नं शस्त्रविक्रयिणी मलम् ॥२२०॥

चिकित्सक का अन्न पीव, पुंश्चली का अन्न वीर्य, सूद खाने वाले का अन्न विष्ठा और शस्त्र बेचने वाले का अन्न मल के समान है।

य एतेऽन्ये त्वभोज्यान्नाः क्रमशः परिकीर्तिताः।
तेषां त्वगस्थिरोमाणि वदन्त्यन्नं मनीषिणः ॥२२१॥

जिन-जिनका अन्न खाना यहाँ तक निषिद्ध बताया गया है तथा और भी जिन-जिनका अन्न अभोज्य है उनका अन्न चमड़े, हड्डी और रोग के बराबर है, ऐसा विद्वान् कहते हैं।

भुक्त्वाऽतोऽन्यतमस्यान्नममत्या क्षपणं त्र्यहम्।
मत्या भुक्त्वाऽऽचरेत्कृच्छ्रं रेतोविण्मूत्रमेव च ॥२२२॥

अतएव इनमें किसी का अन्न अज्ञानता से खाकर तीन दिन उपवास करे और जानकर खाय तो कृच्छ्रव्रत करे। वीर्य, विष्ठा और मूत्र खाने से भी यही प्रायश्चित करे।

नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नं विद्वानश्राद्धिनो द्विजः।
आददीताममेवास्मादवृत्तावेकरात्रिकम् ॥२२३॥

विद्वान् ब्राह्मण को श्राद्धादि पञ्चयज्ञ के अनधिकारी शूद्र का पक्वान्न भी नहीं खाना चाहिये। किन्तु खाने की कोई वस्तु न मिलने पर एक रात के निर्वाह योग्य कच्चा अन्न उससे ले ले।

श्रोत्रियस्य कदर्यस्य वदान्यस्य च वार्धुषेः।
मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्नमकल्पयन् ॥२२४॥

एक वेद पढ़ा हुआ है, पर कृपण है, दूसरा दाता है पर बुद्धिजीवी है—देवताओं ने इन दोनों के गुण-दोषों का विचार दोनों के अन्न को तुल्य बताया है।

तान्प्रजापतिराहैत्य मा कृध्वं विषमं समम्।
श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत्॥२२५॥

(तब) ब्रह्मा ने उन देवताओं से कहा—इन विषम अन्नों को सम मत करो, क्योंकि दाता का श्रद्धा से दिया अन्न पवित्र होता है और कृपण का अश्रद्धा से दिया हुआ अन्न दूषित होता है।

श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः॥२२६॥

इसलिये इष्ट और पूर्त कर्मों को सदा आलस्य रहित होकर श्रद्धापूर्वक करना चाहिये। न्यायोपार्जित धन से श्रद्धा द्वारा किये गये ये दोनों शुभ कर्म मोक्ष के कारण होते हैं।

दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकम्।
परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः॥२२७॥

यज्ञ और पूर्त[1] सम्बन्धी दान धर्म सत्पात्र को पाकर सदा प्रसन्न मन से यथाशक्ति करना चाहिये।

यत्किञ्चिदपि दातव्यं याचितेनानसूयया।
उत्पत्स्यते हि तत्पात्रं यत्तारयति सर्वतः॥२२८॥

किसी के याचना करने पर जो कुछ हो सके उसे श्रद्धापूर्वक देना चाहिये, क्योंकि दानशील पुरुष के पास किसी दिन ऐसा पात्र (अतिथि) भी आ जाएगा जो सब पापों से उसका उद्धार कर देगा।

वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षय्यमन्नदः।
तिलप्रदः प्रजामिष्टां दीपश्चक्षुरुत्तमम्॥२२९॥

प्यासे को पानी देने वाला तृप्त होता है, भूखे को अन्न देने वाला सुख लाभ करता है, तिल दान करने वाला अभिलषित सन्तान और दीपदान करने वाला, उत्तम नेत्र प्राप्त करता है।

भूमिदो भूमिमाप्नोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः।
गृहदोऽग्र्याणि वेश्मानि रूप्यदो रूपमुत्तमम्॥२३०॥

---

१. वापी-कूप-तडागादि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते॥ इति जातुकर्णः।

भूमि देने वाला भूमि, स्वर्ण देने वाला दीर्घ आयु, गृह उत्सर्ग करने वाला उत्तम भवन और चाँदी दान करने वाला सुन्दर रूप पाता है।

वासोदश्चन्द्रसालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः ।
अनडुहः श्रियं पुष्टां गोदो ब्रध्नस्य विष्टपम् ॥२३१॥

वस्त्रदाता चन्द्रलोक, घोड़ा दान करनेवाला अश्विलोक, वृषभ का दाता लक्ष्मी, गोदान करने वाला सूर्यलोक प्राप्त करता है।

यानशय्याप्रदो भार्यामैश्वर्यमभयप्रदः ।
धान्यदः शाश्वतं सौख्यं ब्रह्मदो ब्रह्मसार्ष्टिताम् ॥२३२॥

रथ और पलंग का दाता पत्नी को, अभयदाता ऐश्वर्य को, अन्नदाता चिरस्थायी सुख को और वेद की शिक्षा देने वाला ब्रह्मतुल्य गति को प्राप्त होता है।

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥२३३॥

जल, अन्न, गौ, पृथिवी, वस्त्र, तिल, सोने और घी आदि सब दानों में वेद का दान सबसे बढ़कर है।

येन येन तु भावेन यद्यद्दानं प्रयच्छति ।
तत्तत्तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपूजितः ॥२३४॥

जिस-जिस भाव से जिस फल की इच्छा कर जो-जो दान करता है, जन्मान्तर में सम्मानित होकर वह उन-उन वस्तुओं को उसी भाव से पाता है।

योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति तदात्यर्चित्तमेव च ।
तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यते ॥२३५॥

जो दाता आदर से प्रतिग्राही को दान देता है और प्रतिग्राही आदर से उस दान को ग्रहण करता है, वे दोनों स्वर्ग को जाते हैं। इससे उलटा अपमान से दान देने वाला और दांन लेने वाला दोनों नरक में जाते हैं।

न विस्मयेत् तपसा वदेदिष्ट्वा च नानृतम् ।
नार्तोऽप्यपवदेद्विप्रान्न दत्त्वा परिकीर्तयेत् ॥२३६॥

तपस्या करके आश्चर्य न करे, यज्ञ करके झूठ न बोले, विप्रों से पीड़ित होने पर भी उनकी निन्दा न करे। और दान करके लोगों में उसकी ख्याति न करे।

यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात् ।
आयुर्विप्रापवादेन दानं च परिकीर्तनात् ॥२३७॥

यज्ञ झूठ बोलने से, तप आश्चर्य करने से, आयु ब्राह्मण की निन्दा करने से, दान लोगों के आगे कहने से क्षीण होता है।

धर्मं शनैः सञ्चिनुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिकाः ।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ २३८॥

सभी प्राणियों को पीड़ा न देता हुआ परलोक सुधारने के लिये अपनी शक्ति के अनुसार धीरे-धीरे धर्म का संयच करे। जैसे दीमक धीरे-धीरे मिट्टी की दीवाल खड़ी करती है।

नामूत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥ २३९॥

परलोक में कोई भी सहायता नहीं करता। माँ, बाप, स्त्री, पुत्र, या हित परिजन केवल धर्म ही सहायक होता है। (इसलिये यत्नपूर्वक धर्म का संचय करना चाहिये।)

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥ २४०॥

यह जीव अकेला आता है और अकेला ही यहाँ से जाता है, अकेला ही पुण्य-पाप का फल भी भोगता है।

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥ २४१॥

मृत शरीर (लाश) को काठ और ढेले की तरह धरती पर छोड़कर बान्धव लोग मुँह फेरकर चले जाते हैं, केवल धर्म ही उसके पीछे-पीछे जाता है।

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः ।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥ २४२॥

इसलिये अपनी सहायता के लिये सदा धर्म का थोड़ा संग्रह करना चाहिये। धर्म की सहायता से ही पुरुष घोर तम को पार करता है।

धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्विषम् ।
परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम् ॥ २४३॥

तपस्या से जिसका पाप नष्ट हो चुका है ऐसे धर्म प्रधान ब्रह्मस्वरूप तेजस्वी पुरुष को धर्म ही ब्रह्मलोक को शीघ्र प्राप्त कराता है।

उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत्सह ।
निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत् ॥ २४४॥

अपने वंश को उन्नत करने की इच्छा रखनेवाला पुरुष अच्छे कुल, शील, विद्या, आचार वालों के साथ विवाहादि सम्बन्ध करे, पर नीचों के साथ कभी सम्बन्ध न करे।

उत्तमानुत्तमान् गच्छन्हीनान्हीनांश्च वर्जयन् ।
ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम् ॥२४५॥

हीन सम्बन्ध को त्याग कर उत्तम पुरुषों के साथ सम्बन्ध करने वाला ब्राह्मण श्रेष्ठता को प्राप्त होता है। किन्तु इसके विपरीत आचारण अर्थात् नीचों के साथ सम्बन्ध करने से वह शूद्रता को प्राप्त होता है।

दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन् ।
अहिंस्रोदमदानाभ्यां जयेत्स्वर्गं तथाव्रतः ॥२४६॥

दृढ़ संकल्प, कोमल, दान्त, क्रूरकर्म करने वालों के संसर्ग से दूर रहने वाला, किसी को न सतानेवाला, ऐसा व्रती पुरुष अपने इन्द्रियनिग्रह और दान से स्वर्ग को जीत लेता है।

एधोदकं मूलफलमन्नमभ्युद्यतं च ऽऽतु ।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्मध्वथाभयदक्षि णाम् ॥२४७॥

लकड़ी, पानी, फल, मूल, कच्चा अन्न और मधु तथा अभयदक्षिणा बिना माँगे कोई दे तो ग्रहण कर लेना चाहिये।

आहृताभ्युद्यतां भिक्षां पुरस्तादप्रचोदिताम् ।
मेने प्रजापतिर्ग्राह्यामपि दृष्कृतकर्मणः ॥२४८॥

घर पर लाई हुई, सामने रखी हुई, जो किसी से माँगी न गई हो और न किसी ने पहले उसके देने की बात कही हो, ऐसी भिक्षा पापी की ओर से भी दी गयी हो तो वह ले ले, प्रजापति ने इस भिक्षा को ग्राह्य माना है।

नाश्नन्ति पितरस्तस्य दश वर्षाणि पञ्च च ।
न च हव्यं वहत्यग्निर्यस्तामभ्यवमन्यते ॥२४९॥

जो उस भिक्षा का अनादर करता है उसके पितर उसका दिया हुआ कव्य पन्द्रह वर्ष तक नहीं खाते और अग्नि भी उसका हव्य देवताओं के पास नहीं पहुँचाती।

शय्यां गृहान्कुशान्गन्धानपः पुष्पं मणीन्दधि ।
धानामत्स्यान्पयो मांसं शाकं चैव न निर्नुदेत् ॥२५०॥

शय्या, गृह, कुश, गन्ध (कर्पूर आदि), जल, फूल, मणि, दही, चवैना, साग, मछली और मांस कोई बिना माँगे दे तो उसे भी अस्वीकार न करे।

गुरून्भृत्यांश्चोज्जिहीर्षन्नर्चिष्यन्देवतातिथीन् ।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्न तु तृप्येत्स्वयं ततः ॥२५१॥

गुरुओं से (माता-पिता आदि) और भृत्यों के पोषणार्थ तथा देवता और अतिथियों के पूजनार्थ सबसे (अर्थात् शूद्रादि से भी) धन का दान ले, किन्तु उस धन का उपभोग स्वयं न करे।

गुरुषु त्वभ्यतीतेषु विना वा तैर्गृहे वसन् ।
आत्मनो वृत्तिमन्विच्छन्गृह्णीयात्साधुतः सदा ॥२५२॥

माँ-बाप आदि गुरुजनों के न रहते या उनके जीवित रहने पर उनसे पृथक्-वास करने वाला पुरुष अपने निर्वाह के लिए सदा सज्जन पुरुष से ही दान ले।

आर्धिकः कुलमित्रं च गोपालो दासनापितौ ।
एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत् ॥२५३॥

खेत जोतने वाला, अनेक कुल का मित्र, गौओं का पालक, टहलू और नाई तथा आत्मसमर्पण करने वाला ये शूद्रों में भोज्यान्न हैं अर्थात् इनका अन्न खाने योग्य है।

यादृशोऽस्य भवेदात्मा यादृशं च चिकीर्षितम् ।
यथा चोपचरेदेनं तथात्मानं निवेदयेत् ॥२५४॥

उपरोक्त शूद्रों की जैसी आत्मा हो, जो करने की इच्छा हो जिस प्रकार सेवा करनी हो, उस प्रकार शुद्ध भाव से आत्मनिवेदन करे।

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते ।
स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः ॥२५५॥

जो अपना परिचय साधुजनों को ठीक-ठीक नहीं देता है, कुछ का कुछ कहता है वह संसार में बड़ा पापी, चोर है क्योंकि वह आत्मा का अपहरण करता है।

वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ।
तांस्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥२५६॥

सब शब्दार्थ (वाच्यार्थ) नियत है, शब्द ही उनका मूल है. शब्दों से ही उनके अर्थों का बोध होता है इसलिए शब्दों का जो मनुष्य चोरी करता है, वह सब कुछ चुराने वाला होता है।

महर्षिपितृदेवानां गत्वाऽऽनृण्यं यथाविधि ।
पुत्रे सर्वं समासज्य वसेन्माध्यस्थमाश्रितः ॥२५७॥

महर्षि, पितर और देवता इनके ऋण से यथाविधि उत्तीर्ण होकर, गृहस्थी का सारा भार पुत्र पर छोड़कर आप भव्य भाव का अवलम्बन कर (घर पर) रहे।

एकाकी चिन्तयेन्नित्यं विविक्ते हितमात्मनः ।
एकाकी चिन्तमानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति ॥२५८॥

निर्जन स्थान में अकेले बैठकर अपने हित की चिन्ता इस प्रकार एकान्त में आत्मचिन्तन करने वाला पुरुष परमकल्याण (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

एषोदिता गृहस्थस्य वृत्तिर्विप्रस्य शाश्वती ।
स्नातकव्रतकल्पश्च सत्त्ववृद्धिकरः शुभः ॥२५९॥

गृहस्थ ब्राह्मण की यह नित्य की वृत्ति कही गयी। (उसी प्रकार) सत्त्वगुणों को बढ़ाने वाले स्नौतक व्रतों की शुभ विधि का वर्णन हुआ।

अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन्वेदशास्त्रवित् ।
व्यपेतकल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते ॥२६०॥

वेद शास्त्र का ज्ञाता ब्राह्मण इस आचार का पालन करे, तो सब पापों से मुक्त होकर ब्रह्मलोक में महान् उत्कर्ष को पाता है।

इति चतुर्थ अध्याय समाप्त ।

●

पञ्चमोऽध्यायः (५)

श्रुत्वैतानृषयो धर्मान्स्नातकस्य यथोदितान् ।
इदमूचुर्महात्मानमनलप्रभवं भृगुम् ॥ १ ॥

ऋषियों ने स्नातक के यथोक्त धर्म सुनकर अग्नि से उत्पन्न हुए महात्मा भृगु से यह कहा–

एवं यथोक्तं विप्राणां स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ।
कथं मृत्युः प्रभवति वेदशास्त्रविदां प्रभो ॥ २ ॥

इस प्रकार यथोक्त रीति से अपने धर्म में रत रहने वाले वेद-शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों की मृत्यु कैसे होती है?

स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः ।
श्रूयतां येन दोषेण मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ३ ॥

मनु के पुत्र धर्मात्मा भृगुजी ने उन महर्षियों से कहा–जिस दोष से मृत्यु-ब्राह्मणों को मारने की इच्छा करती है, वह सुनिये।

अनभ्यासेन वेदनामाचारस्य च वर्जनात् ।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ४ ॥

वेदों का अभ्यास न करने से, अपने आचार को छोड़ देने से, आलस्य करने से और दूषित अन्न खाने से मृत्यु ब्राह्मणों को मारने की इच्छा करती है।

लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च ।
अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च ॥ ५ ॥

लहसुन, गाजर, प्याज और गोबरछत्ता तथा अशुद्ध (विष्टा इत्यादि से होने वाले) पदार्थ द्विजातियों के लिये अखाद्य हैं।

लोहितान्वृक्षनिर्यासान्वृश्चनप्रभवांस्तथा ।
शेलुं गव्यं च पेयूषं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ६ ॥

पेड़ से निकला हुआ लाल गोंद या पेड़ के काटने पर जो गोंद निकालता है, लिसोड़े के फल, गाय का पेयूष[1] दूध ये सब यत्नपूर्वक त्याग दे।

वृथा कृसरसंयावं पायसापूपमेव च ।
अनुपाकृतमांसानि देवान्नानि हवींषि च ॥ ७ ॥

---

१. आसप्तरात्रप्रभवं क्षीरं पेयूषमुच्यते। इति हारावती।

अपने लिये पकाया हुआ कृसर[1] संयाव[2] (जो गेहूँ का मैदा घी में भूनकर दूध और गुड़ में सिद्ध किया जाता है), पायस (खीर), मालपूआ, यज्ञ मांस, देवताओं के निमित्त रखा हुआ अन्न और हवि, ये सब न खाय।

अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा ।
आविकं संधिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः ॥८॥

ब्याई हुई गाय का दूध, ब्याने के दिन से दस दिन तक, ऊँटनी का, घोड़ी का और भेड़ी का तथा उस गाय का दूध जो ऋतुमती होने के कारण वृष को चाहती हो और जिस गायके बछड़ा न हो, उसका भी दूध न खाय।

आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना ।
स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि ॥९॥

भैंस को छोड़कर अन्य जंगली पशुओं का और स्त्री का दूध तथा विकृत हुए रसों (मट्ठे) को त्याग देना चाहिये।

दधि भक्ष्यं च शुक्तेतषु सर्वं च दधिसंभवम् ।
यानि चैवाभिषूयन्ते पुष्पमूलफलैः शुभैः ॥१०॥

कांजियों में दही और दही की बनी छाछ आदि और पानी में सिझाये फल, फूल, मूल आदि यदि विकृत हों तो वे भी नहीं खाने योग्य हैं।

क्रव्यादाञ्छकुनान्सर्वांस्तथा ग्रामनिवासिनः ।
अनिर्दिष्टांश्चैकशफांष्टिट्टिभं च विवर्जयेत् ॥११॥

कच्चे मांस खाने वाले (गिद्ध आदि) और गाँव-घर में रहने वाले (कबूतर आदि) पक्षी का मांस न खाय। जिनके नाम का निर्देश न किया गया हो ऐसे एक खुरवाले घोड़े और गधे आदि भी अभक्ष्य हैं। टिटहरी पक्षी का मांस भी वर्जित है।

कलविङ्कं प्लवं हंसं चक्राह्वं ग्रामकुक्कुटम् ।
सारसं रज्जुवालं च दात्यूहं शुकसारिके ॥१२॥

चटका गौरैया, पपीहा, हंस, चकवा, ग्रामकुक्कुट—मुरगा, बत्तक, रज्जुवाल, जालकाक, सुग्गा और मैना—इन पक्षियों का मांस न खाय।

प्रतुदाञ्जालपादांश्च कोयष्टिनखविष्किरान् ।
निमज्जतश्च मत्स्यादान् सौनं बल्लूरमेव च ॥१३॥

---

१. तिलतण्डुलसम्यक्कः कृसरं सोऽभिधीयते।
२. संयावो घृतगुड दुग्धेषु सिद्धं गोधूमचूर्णकम्॥

कठफोड़ा और जिनके चंगुल झिल्ली से जुटे हों या जलमुरगा, नख से विदीर्ण कर खाने वाला बाज आदि और पानी में डूबकर मछली खाने वाला पक्षी बकुला, वध स्थान का मांस और सूखा मांस वर्जित है।

बकं चैवं बलाकां च काकोलं खञ्जरीटकम् ।
मत्स्यादान्विड्वराहांश्च मत्स्यानेव च सर्वशः ॥१४॥

बगुला, बलाक, द्रोणकाक, खञ्जन, मछली खाने वाला, जलजीव मगर आदि ग्राम्य-शूकर और सब प्रकार की मछलियाँ न खायँ।

यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद उच्यते ।
मत्स्यादः सर्वमांसादस्तस्मामत्स्यान्विवर्जयेत् ॥१५॥

जो जिसके मांस को खाता है, वह उसका मांस खानेवाला कहलाता है जो मछली खाता है वह सभी मांसों को खानेवाला होता है, इसलिये मछली न खाय।

पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ हव्यकव्ययोः ।
राजीवान्सिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्चैव सर्वशः ॥१६॥

पाठीन बुआरी और रोहित (रोहू) मछली हव्य-कव्य के लिये प्रशस्त कही गई है। राजीव, सिंहतुण्ड और चोयटे वाली सब मछलियाँ खाद्य हैं।

न भक्षयेदेकचरानज्ञातांश्च मृगद्विजान् ।
भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान्सर्वान्पञ्चनखांस्तथा ॥१७॥

अकेले चलने और रहने वाले सर्पादि जीवों को, भक्ष्यों में कहे गये वे पक्षी जो परिचित न हों उन्हें और पाँच नखवाले प्राणियों को न खाय।

श्वाविधं शल्यकं गोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा ।
भक्ष्यान्पञ्चनखेष्वाहुरनुष्ट्रांश्चैकतोदतः ॥१८॥

पञ्चनखियों में सेध, साही, गोह, गेंड़ा, कछुआ और खरहा तथा एक खुर और दाँतवाले पशुओं में ऊँट को छोड़कर बकरे आदि भक्ष्य हैं, ऐसा कहा है।

छत्राकं विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम् ।
पलाण्डुं गृञ्जनं चैव मत्या जग्ध्वा पतेद् द्विजः ॥१९॥

गोबरछत्ता, ग्राम्यशूकर, ग्रामकुक्कुट, लहसुन, प्याज और गाजर, जानकर खाने से द्विज पतित होता है!

अमत्यैतानि षट् जग्ध्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ।
यतिचान्द्रायणं वापि शेषेषूपवसेदहः ॥२०॥

उपरोक्त छः वस्तुओं में से कोई वस्तु बिना जाने खा ले तो कृच्छ्र सान्तपन या यति चान्द्रायण व्रत करे। और शेष जितने अखाद्य कहे गये हैं, उनमें कोई चीज खा लेने से एक दिन उपवास करें।

संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः ।
अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥२१॥

ब्राह्मण को अज्ञात भक्षण के दोषशान्त्यर्थ वर्ष में कम से कम एक कृच्छ्रव्रत करना चाहिये। किन्तु जिसने जान कर खाया हो, उसे विशेष रूप से व्रत करना चाहिये।

यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः ।
भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थमगस्त्यो ह्याचरत्पुरा ॥२२॥

ब्राह्मण यज्ञ के निमित्त अथवा भृत्यों के रक्षार्थ प्रशस्त पक्षियों का वध कर सकते हैं, कारण अगस्त्य मुनि ने पहले ऐसा किया है।

बभूवुर्हि पुरोडासा भक्ष्याणां मृगपक्षिणाम् ।
पुराणेष्वपि यज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च ॥२३॥

पहले ऋषियों ने और ब्राह्मण-क्षत्रियों ने जो यज्ञ किये उनमें भी भक्ष्य पशु-पक्षियों के मांस के पुरोडास हुए हैं।

यत्किञ्चित्स्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमगर्हितम् ।
तत्पर्युषितमप्याद्यं हविःशेषं च यद्भवेत् ॥२४॥

भक्ष्य (पक्वान्न) और भोज्य पायसादि पदार्थ जो श्रेष्ठ होंवे बासी होने पर भी घृत, दधि आदि से स्निग्ध करके खाने योग्य हैं। उसी प्रकार हवि का शेष भी बासी होने पर बिना घृतादि मिलाये खाने योग्य है।

चिरस्थितमपि त्वाद्यमस्नेहाक्तं द्विजातिभिः ।
यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चैव विक्रिया ॥२५॥

यव, गेहूँ और खोवे की बनी हुई वस्तुयें तेल-घी का सम्बन्ध न हो तो वह बहुत दिनों की बनी हुई होने पर भी खाने योग्य हैं, यदि बिगड़ी न हों।

एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमशेषतः ।
मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्जने ॥२६॥

यहाँ तक द्विजातियों के भक्ष्याक्ष्य का सम्पूर्ण विचार कहा गया। अब मांस खाने और छोड़ने की विधि कहता हूँ।

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया ।
यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये ॥२७॥

मन्त्रों से पवित्र किया हुआ मांस खाना चाहिये। ब्राह्मण को जब मांस खाने की इच्छा हो तो वह नियम से एक बार मांस खा सकता है। रुग्ण अवस्था में अन्य आहार से प्राणात्यय होने के भय से खा सकता है।

प्राणस्यान्नमिदं सर्वं प्रजापतिरकल्पयत् ।
स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ॥ २८ ॥

ब्रह्मा ने यह सब प्राणी के लिये अन्न कल्पित किया है। स्थावर (अन्न फल आदि) और जंगम पशु पक्षी आदि सब प्राण के ही भोजन हैं।

चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः ।
अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः ॥ २९ ॥

चरों का अन्न (अचर तृण आदि) दाढ़वालों का (व्याघ्र आदि) बिना दाढ़ के जीव हिरन आदि, हाथवालों मनुष्य का, बिना हाथ के जीव मछली आदि और शूरों का अन्न भीरु हैं।

नात्ता दुष्यत्यदन्नाद्यान्प्राणिनोऽहन्यहन्यपि ।
धात्रैव सृष्टा ह्याद्याश्च प्राणिनोऽत्तार एव च ॥ ३० ॥

खाने वाला जीव प्रतिदिन पचने खाने योग्य प्राणियों को खाकर ही दोषभागी नहीं होता, क्योंकि ब्रह्मा ने ही खाद्य और खादक दोनों का निर्माण किया है।

यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः ।
अतोऽन्यथा प्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ३१ ॥

यज्ञ के निमित्त मांस-भक्षण को दैवी विधि कही है। इसके विरुद्ध मांस भक्षण की प्रवृत्ति राक्षसी विधि है।

क्रीत्वा स्वयं वाप्युत्पाद्य परोपकृतमेव वा ।
देवान्पितृंश्चार्चयित्वा खादन्मांसं न दुष्यति ॥ ३२ ॥

खरीदकर या स्वयं कहीं से लाकर या सौगात की तरह किसी का दिया हुआ मांस देवता और पितरों को अर्पित कर खाय तो खाने वाला दोषी नहीं होता।

नाद्यादविधिना मांसं विधिज्ञोऽनापदि द्विजः ।
जग्ध्वा ह्यविधिना मासं प्रेत्य तैरद्यतेऽवशः ॥ ३३ ॥

विधि को जानने वाला ब्राह्मण सुखावस्था में अविधिपूर्वक मांस न खाय, क्योंकि अविधि से मांस खाने वाले को जन्मान्तर में वे प्राणी खा जाते हैं, जिनका मांस उसने खाया था।

न तादृशं भवत्येनो मृगहन्तुर्धनार्थिनः ।
यादृशं भवति प्रेत्य वृथामांसानि खादतः ॥ ३४ ॥

धन के निमित्त मृग मारने वाले को वैसा पाप नहीं लगता जैसा वृथा मांस खाने वाले को होता है।

नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः ।
स प्रेत्य पशुतां याति संभावनेकविंशतिम् ॥ ३५ ॥

(श्राद्ध और मधुपर्क में) तथाविधि नियुक्त होने पर जो मनुष्य मांस नहीं खाता, वह मरने के इक्कीस जन्म तक पशु होता है।

असंस्कृतान् पशून्मंत्रैर्नाद्याद्विप्रः कदाचन ।
मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्याच्छाश्वतं विधिमास्थितः ॥ ३६ ॥

ब्राह्मण कभी मन्त्रों से बिना संस्कार किये पशुओं का मांस न खाय, किंतु यज्ञ में मंत्रों से संस्कृत किये पशुओं का मांस खाय।

कुर्याद् घृतपशुं सङ्गे कुर्यात्पिष्टपशुं तथा ।
न त्वेवं तु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेत्कदाचन ॥ ३७ ॥

घृत या मैदा का पशु बनाकर खाय, किन्तु कभी भी पशु को व्यर्थ मारने की इच्छा न करे (अर्थात् अपने लिये कभी पशु हिंसा न करे)।

यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वो हि मारणम् ।
वृथापशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि ॥ ३८ ॥

देवतादि के उद्देश्य के बिना वृथा पशुओं को मारने वाला मनुष्य मरने पर उन पशुओं की रोम संख्या के बराबर जन्म-जन्म में मारा जाता है। (इसलिये वृथा पशुहिंसा न करे।)

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वमेव स्वयंभुवा ।
यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥ ३९ ॥

स्वयं ब्रह्मा ने यज्ञ के लिये और सब यज्ञों की समृद्धि के लिये पशुओं का निर्माण किया है, इसलिये यज्ञ में पशुओं का वध (अहिंसा) है।

ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा ।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः ॥ ४० ॥

चावल, यव इत्यादि, पशु, वृक्ष, कछुए आदि और पक्षी ये सब यज्ञ के निमित्त मारे जाने पर फिर उत्तम योनि में जन्म ग्रहण करते हैं।

मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि ।
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रैत्यब्रवीन्मनुः ॥ ४१ ॥

मधुपर्क, ज्योतिष्टोमादि यज्ञ, पितृकर्म और देवकर्म इन्हीं में पशुहिंसा करनी चाहिये, अन्यत्र नहीं–यह मनुजी ने कहा है।

एष्वर्थेषु पशून्हिंसन्वेदतत्त्वार्थविद् द्विजः ।
आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्तमां गतिम् ॥४२॥

पूर्वोक्त कर्मों में पशु की हिंसा करने वाला वेदज्ञ ब्राह्मण अपने को और उस पशु को उत्तम गति प्राप्त कराता है।

गृहे गुरावरण्ये वा निवसन्नात्मवान्द्विजः ।
नावेदविहितां हिंसामापद्यपि समाचरेत् ॥४३॥

कर्मनिष्ठ द्विज गृह में, गुरुकुल में या वन में (अर्थात् ब्रह्मचर्य्याश्रम में, या गृहस्थाश्रम में, या वानप्रस्थ-आश्रम में) रहकर आपत्ति में भी वेदविरुद्ध हिंसा न करे।

या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे ।
अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ ॥४४॥

जो हिंसा वेदविहित है और इस चराचर जगत् में नियत है, उसे अहिंसा ही समझना चाहिये, क्योंकि धर्म वेदस ही निकला है।

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥४५॥

जो अपने सुख की इच्छा से अहिंसक जीवों को मारता है, वह इस जीवन में या जन्मान्तर में कहीं सुख नहीं पाता।

यो बन्धनवधक्लेशान्प्राणिनां न चिकीर्षति ।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥४६॥

जो जीवों को बाँधने, मारने या क्लेश देने की इच्छा नहीं करता, वह सब जीवों का हित चाहनेवाला अत्यन्त सुख पाता है।

यद्ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च ।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किञ्चन ॥४७॥

जो किसी जीव को दुःख नहीं देता, वह जिस धर्म को मन से चाहता है, जो कर्म करता है, जिस पदार्थ को चाहता है, वह उसे अनायास ही प्राप्त होता है।

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसा मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥४८॥

जीवों की हिंसा बिना किये कभी मांस उत्पन्न नहीं हो सकता। पशुओं का वध करना स्वर्ग प्राप्त्यर्थ नहीं होता, इसलिये मांस खाना छोड़ देना चाहिये।

समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥४९॥

मांस के उत्पत्ति का और जीवों के वध-बन्धन को अच्छी तरह सोचकर सब प्रकार के मांस भक्षण को त्याग देना चाहिये।

न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत्।
स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते ॥५०॥

जो विधि को छोड़कर पिचास की तरह मांस नहीं खाता वह संसार में सबका प्यारा होता है और रोग से पीड़ित नहीं होता।

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकः ॥५१॥

मारने की आज्ञा देने वाला, उसके खण्ड-खण्ड करने वाला, मारने वाला, बेचने और मोल लेने वाला, पकाने वाला, परोसने वाला और खाने वाला-ये आठों घातक हैं।

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति।
अनभ्यर्च्य पितॄन्देवांस्ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत् ॥५२॥

जो देवता और पितरों का पूजन किये बिना दूसरे के मांस से अपना मांस बढ़ाना चाहता है उससे बढ़कर पापी दूसरा कोई नहीं है।

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥५३॥

जो प्रत्येक वर्ष सौ वर्ष तक अश्वमेध यज्ञ करता है, जो बिलकुल ही मांस नहीं खाता, इन दोनों का पुण्यफ्ल बराबर है।

फलमूलाशनैर्मेध्यैर्मुन्यन्नानां च भोजनैः।
न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात् ॥५४॥

फल-मूल और मुनियों के हविष्यान्न खाने से वह फल नहीं मिलता, जो केवल मांस छोड़ देने से मिलता है।

मांस भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहादम्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥५५॥

मैं यहाँ जिसका मांस खाता हूँ परोलक में वह मुझे भी खायेगा। यही मांस का मांसत्व है, ऐसा पण्डितों का कहना है।

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ ५६ ॥

मांस खाने, मद्य पीने और स्त्री-प्रसङ्ग करने में दोष नहीं है, क्योंकि प्राणियों की प्रवृत्ति ही ऐसी है। परन्तु उससे निवृत्त होना महाफलदायी है।

प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं तथैव च ।
चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वशः ॥ ५७ ॥

अब चारों वर्णों की प्रेतशुद्धि और द्रव्यशुद्धि यथा क्रम से कहता हूँ।

दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिते ।
अशुद्धा बान्धवाः सर्वे सूतके च तथोच्यते ॥ ५८ ॥

दाँत निकल जाने पर और दाँत निकलने के पीछे चूड़ाकरण और उपनयन के अनन्तर बालक की मृत्यु होने पर सपिण्ड और समानोदक बान्धव अशुचि होते हैं और किसी का जन्म होने पर भी उन्हें अशौच होता है।

दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते ।
अर्वाक् संचयनादस्थ्नां त्र्यहमेकाहमेव च ॥ ५९ ॥

दायादों को दस दिन तक मरना शौच होता है। अथवा अस्थि संचय के पूर्व तीन दिन या एक दिन-रात अशौच होता है।

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते ।
समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने ॥ ६० ॥

सातवें पुस्त सपिण्डता निवृत्ति होती है। जन्म और नाम के न जानने पर समानोदक-भाव निवृत्त होता है।

यथेदं शावमाशौचं सपण्डिेषु विधीयते ।
जननेऽप्येवमेव स्यान्निपुणं शुद्धिमिच्छताम् ॥ ६१ ॥

सपिण्ड दायादों को जैसे दस दिन का मृतक अशौच का विधान है वैसे ही शुद्धि चाहने वाले सपण्डिों के लिये जन्म-सम्बन्धी अशौच का भी विधान है।

सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु सूतकम् ।
सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥ ६२ ॥

मृताशौच सभी सपण्डिों को होता है, जनाना शौच मां-बाप को ही होता है। किन्तु माता रात तक अपवित्र रहती है, और पिता स्नानमात्र से ही शुद्ध[1] होता है।

---

१. जाते पुत्रे पितुः स्नानं सचैलं तु विधीयते ।
माता - शुद्ध्यदशाहेन स्नानानु स्पर्शनं पितुः ॥ इति संवर्तः॥

निरस्य तु पुमाच्छुक्रमुपस्पृश्यैव शुद्ध्यति।
बैजिकादभिसम्बन्धादनुरुन्ध्यादघं त्र्यहम्॥६३॥

इच्छा से वीर्यस्खलन कर पुरुष स्नान करने से शुद्ध होता है। बीज के सम्बन्ध से परस्त्री में सन्तानोत्पत्ति होने पर तीन दिन तक अशौच होता है।

अह्ना चैकेन रात्र्या च त्रिरात्रैरेव च त्रिभिः।
शवस्पृशो विशुद्ध्यन्ति त्र्यहादुदकदायिनः॥६४॥

जो एक या तीन दिन के अशौचाधिकारी हैं, वे यदि मोहवश शवस्पर्श करें तो वे दस दिन में शुद्ध होते हैं और समानोदक तीन दिन में।

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन्।
प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुद्ध्यति॥६५॥

गुरु के मरने पर उनका विगोत्र शिष्य दाहादि क्रिया करे तो वह उनके दाहक-वाहक सपिण्डों के समान दस रात में शुद्ध होता है।

रात्रिभिर्मासतुल्याभिर्गर्भस्रावे विशुध्यति।
रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला॥६६॥

गर्भस्राव होने पर जितने महीने का गर्भ हो उतने संख्यक रात में स्त्री शुद्ध होती है। (यह व्यवस्था छः महीने तक के लिये है)। रजस्वला साध्वी स्त्री रज निवृत्त होने पर स्नान से शुद्ध होती है।

नृणामकृतचूडानां विशुद्धिर्नैशिकी स्मृता।
निर्वृत्तचूडकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते॥६७॥

मुंडन के पूर्व बालक की मृत्यु होने से दायादों को एक अहोरात्र और मुण्डन के बाद उपनयन के पूर्व मृत्यु होने से तीन राततक अशौच होता है।

ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं निदध्युर्बान्धवा बहिः।
अलंकृत्य शुचौ भूमावस्थिसंचयनादृते॥६८॥

दो वर्ष से कम उम्र का बालक मर जाय तो बन्धुवर्ग उसे फूलमालाओं से अलंकृत कर गाँव के बाहर पवित्र भूमि में रखें। उसका अस्थिसंचय न करें।

नास्य कार्योऽग्निसंस्कारो न च कार्योदकक्रिया।
अरण्ये काष्ठवत्त्यक्त्वा क्षपेयुस्त्र्यहमेव च॥६९॥

इसका अग्निसंस्कार न करें, और न इसकी उदकक्रिया ही करें, उसे जंगल में लकड़ी की तरह त्याग[1] कर तीन दिनतक अशौच मानें।

---

१. यद्यपि मनुजी ने त्यागमात्र करने को कहा है तथापि 'ऊनद्विवार्षिकं निखनेत्' याज्ञवल्क्य के इस वचन के अनुसार उसे विशुद्ध भूमि में गाड़ देना चाहिये। व्यवहार भी ऐसा ही है।

नात्रिवर्षस्य कर्तव्या बान्धवैरुदकक्रिया ।
जातदन्तस्य वा कुर्युर्नाम्नि वापि कृते सति ॥७०॥

तीन वर्ष से कम उम्र के बालक के मरने पर उसे जलाञ्जलि न दे। जिसके दाँत निकल आये हों और नामकरण हो गया हो उसकी उदक-क्रिया और अग्निसंस्कार करे।

सब्रह्मचारिण्येकाहमतीते क्षपणं स्मृतम् ।
जन्मन्येकोदकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥७१॥

सहपाठी (ब्रह्मचर्य के साथी) की मृत्यु से एक दिन अशौच होता है। समानोदकों के यहाँ पुत्रजन्म होने से तीन दिन अशौच होता है।

स्त्रीणामसंस्कृतानां तु त्र्यहाच्छुद्ध्यन्ति बान्धवा ।
यथोक्तेनैव कल्पेन शुद्ध्यन्ति तु सनाभयः ॥७२॥

अविवाहिता कन्या वाग्दान के अनन्तर मर जाय तो उसका भावी पति और देवर आदि तीन दिन में शुद्ध होते हैं, और उसके पितृ पक्षवाले भी उसी पूर्वोक्त व्यवस्था के अनुसार अर्थात् तीन दिन में शुद्ध होते हैं।

अक्षारलवणान्नाः स्युर्निमज्जयेयुश्च ते त्र्यहम् ।
मांसाशनं च नाश्नीयुः शयीरंश्च पृथक् क्षितौ ॥७३॥

मृताशौच में क्षार लवण (कृत्रिम नमक) न खाय, तीनों दिन नदी या झील में स्नान करे, मांस न खाय, धरती पर अकेला सोये।

सन्निधावेष वै कल्पः शावाशौचस्य कीर्तितः ।
असन्निधावयं ज्ञेयो विधिः सम्बन्धिबान्धवैः ॥७४॥

मृताशौच की यह विधि मृतपुरुष के सन्निधि (अर्थात् एक स्थान में) रहने वालों के लिये कही गयी दूरस्थ बन्धु-बान्धवों के लिये अशौच की विधि यह है –

विगतं तु विदेशस्थं शृणुयाद्यो ह्यनिर्दशम् ।
यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत् ॥७५॥

दशाहाशौच के भीतर विदेशस्थ दायाद की मृत्युवार्ता सुनने पर दशाह में जितने दिन बाकी रहें उतने दिन अशौच होता है।

अतिक्रान्ते दशाहे च त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।
संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवापो विशुद्ध्यति ॥७६॥

दशाह बीत जाने पर मृत्युवार्ता होने से त्रिरात्रि शौच होता है। वर्ष बीत जाने पर स्नान करने से ही शुद्धि होती है।

निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च ।
सवासा जलमाप्लुत्य शुद्धो भवति मानवः ॥७७॥

दशाह के अनन्तर सपिण्ड दायाद का मरण या पुत्रजन्म समाचार सुनकर मनुष्य उस समय शरीर में जो कपड़े हों, उनके सहित जल में स्नान कर लेने से शुद्ध हो जाता है।

बाले देशान्तरस्थे च पृथक्पिण्डे च संस्थिते ।
सवासा जलमाप्लुत्य सद्य एव विशुद्ध्यति ॥७८॥

असपिण्ड (समानोदक) बालक के देशान्तर में मारे जाने की वार्ता पाकर तुरन्त वस्त्र सहित स्नान करने से शुद्ध होता है।

अन्तर्दशाहे स्यातां चेत्पुनर्मरणजन्मनी ।
तावत्स्यादशुचिर्विप्रो यावत्तत्स्यादनिर्दशम् ॥७९॥

दश दिन के भीतर यदि मरणाशौच में पुनः दूसरा मरण और जननाशौच में दूसरा जन्म हो जाय तो ब्राह्मण जब तक पूर्व के दशाहाशौच के पूरा होने तक अशुद्ध रहता है।

त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्ये संस्थिते सति ।
तस्य पुत्रे च पत्न्यां च दिवारात्रमिति स्थितिः ॥८०॥

आचार्य के मरने पर तीन दिन अशौच कहा है। किन्तु उनके पुत्र या स्त्री की मृत्यु होने पर एक अहोरात्र (एक दिन रात) अशौच होता है, शास्त्र की आज्ञा है।

श्रोत्रिये तूपसंपन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।
मातुले पक्षिणीं रात्रिं शिष्यर्त्विग्बान्धवेषु च ॥८१॥

वेद-शास्त्र का जानने वाला कोई पुरुष किसी के घर पर मर जाय तो उसको त्रिरात्राशौच होता है। मामा, यज्ञपुरोहित, बान्धव और शिष्य की मृत्यु होने पर पक्षिणी अर्थात् दो दिन और एक रात अशौच होता है।

प्रेते राजनि सज्योतिर्यस्य स्याद्विषये स्थितिः ।
अश्रोत्रिये त्वहः कृत्स्नमनूचाने तथा गुरौ ॥८२॥

जिसके राज्य में ब्राह्मण निवास करते हों उस राजा की मृत्यु होने की वार्ता दिन को मिले तो सूर्यदर्शन पर्यन्त और रात को मिले तो तारे जब तक दिखायी दें तब तक अशौच होता है। वेदशास्त्र न जानने वाला दिन को जिसके घर पर मरे उसे सारा दिन और रात में मरे तो सारी रात अशौच होता है। साङ्ग वेदाध्यायी गुरु के मरने पर भी ऐसे ही एक दिन या एक रात अशौच जानना।

शुद्ध्येद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः ।
वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुद्ध्यति ॥८३॥

सपिण्ड के मरण या जन्म में ब्राह्मण दश दिन में, क्षत्रिय बारह दिन में, वैश्य पन्द्रह दिन में और शूद्र एक मास में शुद्ध होता है।

न वर्धयेदघाहानि प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः ।
न च तत्कर्म कुर्वाणः सनाभ्योप्यऽशुचिर्भवेत् ॥८४॥

अशौच के दिन न बढ़ाने चाहिये और अग्निहोत्र की क्रिया में बाधा नहीं डालनी चाहिये। उस कर्म को करता हुआ सपिण्ड भी अपवित्र नहीं होता।

दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा ।
शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति ॥८५॥

चाण्डाल, रजस्वला, पतित, प्रसूतिका, शव (मुर्दा) और शव के स्पर्शकर्ता को छूकर स्नान से शुद्धि होती है।

आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने ।
सौरान्मन्त्रान्यथोत्साहं पावमानीश्च शक्तितः ॥८६॥

स्नान आचमन आदि करने के बाद यदि चाण्डाल आदि अपवित्र लोगों पर दृष्टि पड़े तो वह यथा साध्य सूर्य का मन्त्र (उदुत्यं जातवेदसमित्यादि) और यथाशक्ति पावमानी (पुनन्तु मां इत्यादि) मन्त्र जपे।

नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुद्ध्यति ।
आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा ॥८७॥

मनुष्य की मज्जा सहित हड्डी छूकर ब्राह्मण स्नान करने से शुद्ध होता है। सूखी हड्डी छूने पर आचमन करके, गाय का स्पर्श कर या सूर्य को देखकर शुद्ध होता है।

आदिष्टी नोदकं कुर्यादाव्रतस्य समापनात् ।
समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रेणैव शुद्ध्यति ॥८८॥

ब्रह्मचारी अपने व्रत की समाप्ति पर्यन्त प्रेत की उदकक्रिया न करे। ब्रह्मचर्य समाप्त होने पर वह प्रेत को जलाञ्जलि देकर तीन रात में शुद्ध होता है।

वृथासङ्करजातानां प्रव्रज्यासु च तिष्ठताम् ।
आत्मनस्त्यागिनां चैव निवर्तेतोदकक्रिया ॥८९॥

जिन्होंने अपने धर्म को छोड़ दिया हो, जो प्रतिलोभ वर्णशंकर हों, जो संन्यासी हो गये हों, जिन्होंने स्वेच्छा से आत्महत्या कर ली हो, उनको जलाञ्जलि न देनी चाहिये।

पाषण्डमाश्रितानां च चरन्तीनां च कामतः ।
गर्भभर्तृद्रुहां चैव सुरापीनां च योषिताम् ॥९०॥

जो स्त्रियाँ पाखण्डी हो, स्वेच्छाचारिणी हों, गर्भ नष्ट करने वाली तथा पति से द्रोह करने वाली हों और मद्य पीती हों, उनकी उदक क्रिया न करे।

आचार्यं स्वमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम् ।
निर्हृत्य तु व्रती प्रेतान्न व्रतेन वियुज्यते ॥९१॥

अपने आचार्य, उपाध्याय, पिता, माता, गुरु इनके शव (मृतक शरीर) ढोने से ब्रह्मचारी का व्रत लोप नहीं होता।

दक्षिणेन मृतं शूद्रं पुरद्वारेण निर्हरेत् ।
पश्चिमोत्तरपूर्वैस्तु यथायोगं द्विजन्मनः ॥९२॥

मृत शूद्र को नगर के दक्षिण द्वार से, वैश्य को पश्चिम, क्षत्रिय को उत्तर और ब्राह्मण को पूर्व द्वार से श्मशान ले जाय।

न राज्ञामघदोषोऽस्ति व्रतिनां न च सत्रिणाम् ।
ऐन्द्रं स्थानमुपासीना ब्रह्मभूता हि ते सदा ॥९३॥

राजाओं को सपिण्ड के मरण-जनन के अशौच का दोष नहीं होता, क्योंकि वे इन्द्र के स्थान का अधिकार पाये रहते हैं। व्रती (ब्रह्मचारी और चान्द्रायण आदि व्रत करने वाले) और यज्ञ करने वाले को अशौच नहीं होता, क्योंकि ब्राह्मण के समान ये निष्पाप होते हैं।

राज्ञो माहात्मिके स्थाने सद्यः शौचं विधीयते ।
प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणम् ॥९४॥

राजसिंहासन पर विराजमान् होने के कारण राजा की सद्यः शुद्धि कही गयी है। प्रजाओं की रक्षा के लिए राजसिंहासन पर बैठना ही इसका कारण जानना चाहिये।

डिम्भाहवहतानां च विद्युता पार्थिवेन च ।
गोब्राह्मणस्य चैवार्थे यस्य चेच्छति पार्थिवः ॥९५॥

जिस युद्ध में राजा नहीं होता ऐसे युद्ध में जो मारे गये हों, वज्रपात से जिसकी मृत्यु हो, राजा ने जिन्हें प्राणदण्ड दिया हो, गाय और ब्राह्मण के रक्षार्थ जिन्होंने प्राण दे दिया हो और राजा जिन्हें चाहता हो कि अशौच न हो तो उन्हें सद्यःशौच होता है।

सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च ।
अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः ॥९६॥

चन्द्रमा, अग्नि, सूर्य, वायु, इन्द्र, कुबेर, वरुण और यम इन आठों लोकपालों का वास राजा के शरीर में रहता है।

लोकेशाधिष्ठितो राजा नास्याशौचं विधीयते ।
शौचाशौचं हि मर्त्यानां लोकेशप्रभवाप्ययम् ॥९७॥

राजा के शरीर में लोकपालों का अंश अधिष्ठित होने के कारण उसे अशौच का दोष नहीं होता, कारण मनुष्य का जो शौच-अशौच है लोकपालों से ही उत्पन्न होता और नाश होता है।

उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च ।
सद्यः संतिष्ठते यज्ञस्तथाशौचमिति स्थितिः ॥९८॥

युद्ध में शस्त्रों के द्वारा क्षात्र-धर्म से जो मारा जाता है, उसे उसी क्षण यज्ञ का फल और सद्यः शुद्धि प्राप्त होती है, ऐसा शास्त्र का सिद्धान्त है।

विप्रः शुद्ध्यत्यपः स्पृष्ट्वा क्षत्रियो वाहनायुधम् ।
वैश्यः प्रतोदं रश्मीन्वा यष्टिं शूद्रः कृतक्रियः ॥९९॥

ब्राह्मण श्राद्धादि कर्म करके दाहिने हाथ से जल छूकर, क्षत्रिय वाहन और अस्त्र, वैश्य चाबुक या लगाम और शूद्र बाँस की लाठी छूने से शुद्ध होता है।

एतद्वोऽभिहितं शौचं सपिण्डेषु द्विजोत्तमाः ।
असपिण्डेषु सर्वेषु प्रेतशुद्धिं निबोधत ॥१००॥

हे मुनिगण ! यह अशौच मैंने सपिण्डों के मरने का कहा। अब असपिण्डों की प्रेत शुद्धि कहता हूँ, सो सुनिये।

असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हृत्य बन्धुवत् ।
विशुध्यति त्रिरात्रेण मातुराप्तांश्च बान्धवान् ॥१०१॥

असपिण्ड ब्राह्मण के शव को बान्धव की भाँति ढोने से और मातृपक्ष के समीपी सम्बन्धी (मामा, मौसी, बहन आदि) का शव ढोने से तीन रात में शुद्धि होती है।

यद्यन्नमत्ति तेषां तु दशाहेनैव शुद्ध्यति ।
अनदन्न - न्नमह्नैव न चेत्तस्मिन्गृहे वसेत् ॥१०२॥

मृतक को उठाने वाला यदि उसके सपिण्ड का अन्न खावे तो वह दश दिन में शुद्ध होता है। यदि अशौचान्न न खाये और उसके घर पर न रहे, तो वह एक अहोरात्र में शुद्ध होता है।

अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव च ।
स्नात्वा सचैलः स्पृष्ट्वाग्निं घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥१०३॥

सपिण्ड या असपिण्ड मृतक के पीछे-पीछे कोई अपनी इच्छा से जाय तो सचैल स्नान के बाद अग्नि का स्पर्श और घी खा लेने से शुद्ध हो जाता है।

न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृतं शूद्रेण नाययेत्।
अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंस्पर्शदूषिता ॥१०४॥

आत्मीय लोगों के रहते हुए मरे हुए ब्राह्मण को शूद्र से न उठवावें, क्योंकि शूद्र के स्पर्श से दूषित होने के कारण मृतक का वह दह्य शरीर स्वर्ग निमित्तक नहीं होता।

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम्।
वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेःकर्तॄणि देहिनाम् ॥१०५॥

ज्ञान, तप, अग्नि, भोजन, मिट्टी, मन, जल, उपलेपन, वायु, कर्म, सूर्य और काल, देहधारियों को पवित्र करने वाले होते हैं।

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥१०६॥

सब शौचों में अर्थ शौच को महर्षियों ने श्रेष्ठ कहा है जो अर्थ (द्रव्य) सम्बन्ध में शुद्ध है। केवल मृत्तिका और जल से शुद्ध भी शुद्ध नहीं है।

क्षान्त्या शुद्ध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः।
प्रच्छन्नपापा जायेन तपसा वेदवित्तमाः ॥१०७॥

क्षमा से विद्वान्, दान से अकर्म करने वाले, जप से गुप्तपातक और तप से वेद जानने वाले शुद्ध होते हैं।

मृत्तोयैः शुद्ध्यते शोध्यं नदी वेगेन शुद्ध्यति।
रजसा स्त्री मनोदुष्टा संन्यासेन द्विजोत्तमाः ॥१०८॥

मल से दूषित पदार्थ मिट्टी और जल से शुद्ध होता है। नदी अपने प्रवाह के वेग से शुद्ध होती है। दूषित मनवाली स्त्री रज से और ब्राह्मण संन्यास धर्म के आचरण से शुद्ध होता है।

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेनशुद्ध्यति ॥१०९॥

शरीर जल से, मन सत्य से, जीवात्मा विद्या और तप से और बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है।

एष शौचस्य वः प्रोक्तः शारीरस्य विनिर्णयः।
नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेः शृणुत निर्णयम् ॥११०॥

यह शरीर-सम्बन्धी शौच की व्यवस्था कही। अब विविध प्रकार के द्रव्यों की शुद्धि जैसे होती है, उसका निर्णय कहता हूँ, सुनिये।

तैजसानां मणीनां च सर्वस्याश्ममयस्य च।
भस्मनाऽद्भिर्मृदा चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ॥१११॥

सुवर्ण आदि धातुओं, मणियों और पत्थर के बने सब पदार्थों की शुद्धि भस्म, जल और मिट्टी से होती है, ऐसा पण्डितों ने कहा है।

निर्लेपं काञ्चनं भाण्डमद्भिरेव विशुद्ध्यति।
अब्जमश्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम् ॥११२॥

सोने का बर्तन चिन्ना कलई का जल से उत्पन्न होनेवाला शंख और मूंगा आदि पत्थरों के बने पात्र, चाँदी के सादे बर्तन केवल पानी से ही शुद्ध होते हैं।

अपामग्नेश्च संयोगाद्धेमं रौप्यं च निर्बभौ।
तस्मात्तयोः स्वयोन्यैव निर्णेको गुणवत्तरः ॥११३॥

अग्नि और जल के संयोग से सोना और चाँदी उत्पन्न होता है इसलिए दोनों की शुद्धि अपने उत्पादक (जल और अग्नि) के द्वारा ही श्रेष्ठ होती है।

ताम्रायः कांस्यरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च।
शौचं यथार्हं कर्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः ॥११४॥

ताँबा, लोहा, काँसा, पीतल, राङ्गा, और सीसा, इनकी यथायोग्य खार, खटाई और जल से शुद्धि करनी चाहिये।

द्रवाणां चैव सर्वेषां शुद्धिरुत्पवनं स्मृतम्।
प्रोक्षणं संहतानां च दारवाणां च तक्षणम् ॥११५॥

द्रव (घी, तेल आदि) पदार्थों की शुद्धि उत्पवन से अर्थात् पवित्र कुश द्वारा उसके ऊपर का कुछ भाग फेंक देने से, दरी कम्बल आदि की शुद्धि जल के द्वारा पोंछने से और काठ की बनी वस्तुओं की शुद्धि उस पर रंदा फेर देने से होती है।

मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिनां यज्ञकर्मणि।
चमसानां ग्रहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु ॥११६॥

यज्ञ पात्रों की शुद्धि हाथ से झाड़ देने से होती है। यज्ञ कर्म में चमस, ग्रह आदि पात्रों की शुद्धि धोने से होती है।

चरूणां स्रुक्स्रुवाणां च शुद्धिरुष्णेन वारिणा।
स्फ्यशूर्पशकटानां च मुसलोलूखलस्य च ॥११७॥

चरु अर्थात् हवि बनाने का पात्र, स्रुक् और स्रुवा तथा स्फ्य (खड्गाकार काष्ठनिर्मित पात्र विशेष) शूर्प, शकट, ऊखल और मूसल की शुद्धि गरम पानी के धोने से होती है।

अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम्।
प्रक्षालनेन त्वल्पानामद्भिः शौचं विधीयते ॥११८॥

अन्न और वस्त्रों का ढेर स्पर्शादि दोष से दूषित होने पर जल छिड़कने से शुद्ध होता है और थोड़ा रहे तो उनकी शुद्धि धोने से होती है।

चैलवच्चर्मणां शुद्धिर्वैदलानां तथैव च।
शाकमूलफलानां च धान्यवच्छुद्धिरिष्यते ॥११९॥

स्पृश्य चमड़ों की और बाँस आदि के पत्तों की बनी वस्तुओं की शुद्धि वस्त्र की तरह और साग, फल, मूल की शुद्धि अन्न की तरह होती है।

कौशेयाविकयोरूषैः कुतपानामरिष्टकैः।
श्रीफलैरंशुपट्टानां क्षौमाणां गौरसर्षपैः ॥१२०॥

रेशमी और ऊनी कपड़ों की शुद्धि खारी मिट्टी से, नेपाली कम्बलों की रीठों से, सन के बने वस्त्रों की शुद्धि बेल से और अलसी के बने वस्त्रों की शुद्धि पीली सरसों के चूर्ण से होती है।

क्षौमवच्छङ्खशृङ्गाणामस्थिदन्तमयस्य च।
शुद्धिर्विजानता कार्या गोमूत्रेणोकदेन वा ॥१२१॥

शंख और सींग, हड्डी तथा हाथी के दाँतों की शुद्धि तीसी से, सन निर्मित वस्त्र के समान ही है इसमें गोमूत्र या जल का योग करना चाहिये।

प्रोक्षणात्तृणकाष्ठं च पलालं चैव शुद्ध्यति।
मार्जनोपाञ्जनैर्वेश्म पुनः पाकेन मृन्मयम् ॥१२२॥

तिनके, लकड़ी और पुआल की शुद्धि जल छींटने से होती है। घर बुहारने और लीपने से और मिट्टी का बर्तन पुनः आग में पकाने से शुद्ध होता है।

मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैर्वाष्ठीवनैः पूयशोणितैः।
संस्पृष्टं नैव शुद्ध्येत पुनः पाकेन मृन्मयम् ॥१२३॥

किन्तु जिस मिट्टी के बर्तन में मद्य, मूत्र, विष्ठा, थूक, लहू और मवाद लग जाय, वह पुनः आग से भी शुद्ध नहीं होता।

संमार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च।
गवां च परिवासेन भूमिः शुद्ध्यति पञ्चभिः ॥१२४॥

झाड़ने-बुहारने, लीपने, गोमूत्र, या गंगाजल आदि छिड़कने, ऊपर की कुछ मिट्टी खोदकर फेंक देने और गौओं को रखने से—इन पाँच प्रकार से भूमि शुद्ध होती है।

पक्षिजग्धं गवाघ्रातमवधूतमवक्षुतम् ।
दूषितं केशकीटैश्च मृत्प्रक्षेपेण शुद्ध्यति ॥ १२५॥

जिस अन्न को साधारण पक्षियों ने जूठा कर दिया हो, गाय ने जिसे सूँघा हो, जिस पर किसी ने छींका हो, जिसमें केश और कीड़े पड़ गये हों, वह मिट्टी डालने से शुद्ध होता है।

यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद् गन्धो लेपश्च तत्कृतः ।
तावन्मृद्वारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ॥ १२६॥

किसी कपड़े आदि में विष्ठादिक अपवित्र वस्तु लग जाय, तो जब तक उसका दाग और गन्ध दूर न हो, तब तक मिट्टी और पानी से उसे शुद्ध करना चाहिये।

त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन् ।
अदृष्टमद्भिर्निर्णिक्तं यच्च वाचा प्रशस्यते ॥ १२७॥

देवताओं ने ब्राह्मण के लिये इन तीन वस्तुओं को शुद्ध कहा है। जिसकी अपवित्रता आँख से न देखी हो, जो जल से धोयी हो और जो ब्राह्मण की वाणी से प्रशस्त कही गयी हो।

आपः शुद्धा भूमिगता वैतृष्ण्यं यासु गोर्भवेत् ।
अव्याप्ताश्चेदमेध्येन गन्धवर्णरसान्विताः ॥ १२८॥

धरती पर का जल, यदि अपवित्र वस्तुओं से मिला हुआ न हो, गन्ध, वर्ण और रस से युक्त हो और जो इतना हो कि गाय अपनी प्यास बुझा सके तो उसे शुद्ध समझना चाहिये।

नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पण्ये यच्च प्रसारितम् ।
ब्रह्मचारिगतं भैक्ष्यं नित्यं मेध्यमिति स्थितिः ॥ १२९॥

माली का हाथ, बाजार में पसारकर रखे हुए पदार्थ और ब्रह्मचारियों को प्राप्त भिक्षा ये सदा शुद्ध हैं।

नित्यमास्यं शुचि स्त्रीणां शकुनिः फलपातने ।
प्रस्रवे च शुचिर्वत्सः श्वा मृगग्रहणे शुचिः ॥ १३०॥

स्त्रियों का मुख सदा शुद्ध होता है। पक्षियों द्वारा चोंच मारकर गिराया हुआ फल, दूध दूहने में बछड़े का मुँह और हिरन पकड़ने में कुत्ता शुद्ध होता है।

श्वभिर्हतस्य यन्मांसं शुचिस्तन्मनुरब्रवीत्।
क्रव्याद्भिश्च हतस्यान्यैश्चण्डालाद्यैश्च दस्युभिः ॥१३१॥

कुत्तों के द्वारा मारे गये हिरन आदि का मांस और कच्चा मांस खाने वाले हिंस्र जन्तुओं तथा चाण्डाल-व्याध आदि के द्वारा जो हिरन आदि पशु मारा जाता है, उसका मांस शुद्ध है, यह मनुजी ने कहा है।

ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः।
यान्यधस्तान्यमेध्यानि देहाच्चैव मलाश्च्युताः ॥१३२॥

नाभी के ऊपर शरीर के जितने छिद्र हैं वे सब शुद्ध हैं, और उसके नीचे वाले सभी छिद्र अशुद्ध हैं। देह से निकले हुए मैल भी अशुद्ध होते हैं।

मक्षिका विप्रुषश्छाया गौरश्वः सूर्यरश्मयः।
रजो भूर्वायुरग्निश्च स्पर्शे मेध्यानि निर्दिशेत् ॥१३३॥

मक्खी, के मुँह से निकले हुए छोटे जलकण, छाया, गौ, घोड़ा, सूर्य की किरण, धूल, धरती, वायु और अग्नि, स्पर्श में अशुद्ध नहीं होते।

विण्मूत्रोत्सर्गशुद्ध्यर्थं मृद्वार्यादेयमर्थवत्।
दैहिकानां मलानां च शुद्धिषु द्वादशस्वपि ॥१३४॥

मल-मूत्र त्याग करने पर, देह से उत्पन्न बारह मलों की शुद्धि के लिये प्रयोजन के अनुसार मिट्टी और जल लेना चाहिये।

वसा शुक्रमसृङ्मज्जा मूत्रविट् घ्राणकर्णविट्।
श्लेष्माश्रु दुषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः ॥१३५॥

चर्बी, वीर्य, लहू, मज्जा, पेशाब, विष्ठा, नाक-कान के मल, कफ, आँसू, आँखों का कीच और पसीना ये मनुष्यों के बारह दैहिक मल हैं।

एका लिङ्गे गुदे तिस्रस्तथैकत्र करे दश।
उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता ॥१३६॥

शुद्धि चाहने वाले को चाहिये कि लिङ्ग में एक बार और मलद्वार में तीन बार, बाँये हाथ में दस बार और दोनों हाथों में सात बार मिट्टी लगा कर जल से धोये।

एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम्।
त्रिगुणं स्याद्वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम् ॥१३७॥

यह शौच गृहस्थों का है, ब्रह्मचारियों को इसका दुगुना, वानप्रस्थों को तिगुना और संन्यासियों को चौगुना शौच करना चाहिये।

कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा स्वान्याचान्त उपस्पृशेत्।
वेदमध्येष्यमाणश्च अन्नमश्नंश्च सर्वदा ॥१३८॥

मूत्र या मल करके शौचादि से निवृत्त हो, जो वेद पढ़ना, भोजन करना चाहे, तो आचमन करके इन्द्रियों के छिद्रों (आँख, कान आदि) को स्पर्श करे।

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विःप्रमृज्यात्ततो मुखम्।
शरीरं शौचमिच्छन् हि स्त्री शूद्रस्तु सकृत्सकृत् ॥१३९॥

शरीर के शुद्ध्यर्थ पुरुष पहले तीन बार आचमन करे और दो बार मुँह धोये, किन्तु स्त्री और शूद्र एक-एक बार करे।

शूद्राणां मासिकं कार्यं वपनं न्यायवर्तिनाम्।
वैश्यवच्छौचकल्पश्च द्विजोच्छिष्टं च भोजनम् ॥१४०॥

शास्त्रोक्त नियम के अनुसार रहने वाले शूद्रों को महीने-महीने सिर के बार बनवाने चाहिये, जनन-मरण में वैश्य के समान शौच क्रिया करनी चाहिये और द्विज का उच्छिष्ट खाना चाहिये।

नोच्छिष्टं कुर्वते मुख्या विप्रुषोऽङ्गे पतन्ति याः।
न श्मश्रूणि गतान्यास्यं न दन्तान्तरधिष्ठितम् ॥१४१॥

मुख से निकले जलकण देह पर पड़े, तो उनसे शरीर-जूठा नहीं होता। दाढ़ी मूँछ के बाल मुँह में प्रविष्ट होने पर वे जूठे नहीं होते, और दाँतों के बीच में अटका हुआ अन्न मुँह को जूठा नहीं करता।

स्पृशन्ति बिन्दवः पादौ य आचामयतः परान्।
भौमिकैस्ते समा ज्ञेया न तैराप्रयतो भवेत् ॥१४२॥

दूसरों को आचमन कराते समय पैरों पर जल के छींटे पड़ें, तो उन्हें भूमिष्ठ जल के समान जाने, उससे शरीर अशुद्ध नहीं होता।

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथंचन।
अनिधायैव तद्द्रव्यमाचान्तः शुचितामियात् ॥१४३॥

हाथ में कोई चीज लिये रहते यदि जूठे मुँह वाले से किसी तरह स्पर्श हो जाय तो उस चीज को बिना रखे ही आचमन करने से शुद्धि होती है।

वान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु घृतप्राशनमाचरेत्।
आचामेदेव भुक्त्वान्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ॥१४४॥

वमन और विरेचन (जुलाब) होने पर स्नान करके घी पीये। भोजन के

पीछे वमन होने से केवल आचमन करे। ऋतुमती स्त्री के साथ रमण करने पर स्नान करना चाहिये।

सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्ठीव्योक्त्वाऽनृतानि च।
पीत्वापोऽध्येष्यमाणश्च आचमेत्प्रयतोऽपि सन् ॥१४५॥

वेद पढ़ने की इच्छा वाला, सोने, छींकने, खाने, थूकने, झूठ बोलने और पानी पीने के अनन्तर पवित्र हो तो भी आचमन करे।

एष शौचविधिः कृत्स्नो द्रव्यशुद्धिस्तथैव च।
उक्तो वः सर्ववर्णानां स्त्रीणां धर्मान्निबोधत ॥१४६॥

यह सब वर्णों के अशौच की व्यवस्था और द्रव्य शुद्धि की विधि आप लोगों से कही। अब स्त्रियों के धर्म सुनिये।

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वाऽपि योषिता।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किञ्चित्कार्यं गृहेष्वपि ॥१४७॥

बालिका हो या युवती या वृद्धा स्त्री को स्वतन्त्रता पूर्वक घर का कोई काम नहीं करना चाहिये।

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥१४८॥

स्त्री बाल्यकाल में पिता के, यौवनावस्था में पति के और पति का परलोक होने पर पुत्रों के अधीन होकर रहे। कभी स्वतन्त्र होकर न रहे।

पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः।
एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले ॥१४९॥

पिता, पति या पुत्र से पृथक् रहने की इच्छा न करे। क्योंकि इनसे अलग रहने वाली स्त्री दोनों कुलों (पति-पितृ) को निन्दित करती है।

सदाप्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥१५०॥

स्त्री को सदा प्रसन्न रहकर दक्षता के साथ घर के कामों को संभालना चाहिये। नित्य व्यवहार में आने वाली सामग्रियों (आभूषण, बर्तन इत्यादि) को साफ रखना चाहिये और जहाँ तक हो सके कम खर्च करना चाहिये।

यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता वाऽनुमते पितुः।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत् ॥१५१॥

पिता या पिता की आज्ञा से भाई जिस पुरुष का हाथ धरा दे, जीवित

अवस्था में उसकी शुद्ध हृदय से सेवा करे और उसके मरने पर धर्म का उलंघन न करे।

मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः ।
प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम् ॥ १५२॥

विवाह में इन दोनों पति-पत्नियों के लिये स्वस्त्ययन और प्रजापति के उद्देश से जो हवन किया जाता है, वह उनके कल्याण निमित्तक कर्म है। परन्तु वाग्दान के अनन्तर स्त्री पर स्वामी का अधिकार हो जाता है।

अनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्कारकृत्पतिः ।
सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः ॥ १५३॥

मन्त्र-संस्कार द्वारा प्राप्त पति ऋतुकाल में और अनृतुकाल में स्त्री को यहाँ नित्य सुख देता है और परलोक में भी सुख देने वाला होता है।

विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः ।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः ॥ १५४॥

यदि पति अनाचारी हो या परस्त्री में अनुरक्त हो, या विद्यादि गुणों से रहित हो, तो भी साध्वी स्त्री को सर्वदा देवता की तरह अपने पति की सेवा करनी चाहिये।

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम् ।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥ १५५॥

स्त्रियों के लिये न अलग यज्ञ है, न व्रत है और न उपवास है। पति की सेवा से ही वह स्वर्गलोक में पूजित होती है।

पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा ।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किञ्चिदप्रियम् ॥ १५६॥

स्वर्गलोक पाने की इच्छा वाली सुशीला स्त्री, अपने जीते या मरे पति के लिये कुछ भी अप्रिय कर्म न करे।

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः ।
न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥ १५७॥

पति के मरने पर स्त्री पवित्र फल-फूल और मूल खाकर देह को क्षीण करे, परन्तु पर पुरुष का कभी नाम न ले।

आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी ।
यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम् ॥ १५८॥

विधवा स्त्री पतिव्रता के उत्तम धर्मों को चाहती हुई मरते दम तक क्षमायुक्त और नियम पूर्वक ब्रह्मचारिणी होकर रहे।

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्।
दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम्॥१५९॥

हजारों अविवाहित ब्रह्मचारी ब्राह्मण वंशवृद्धि के लिये पुत्र का उत्पादन न करके भी स्वर्गलोक को गये हैं।

मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः॥१६०॥

जो पतिव्रता स्त्री पति के मरने पर ब्रह्मचर्य में स्थिर रहती है, वह पुत्रहीना होने पर भी ब्रह्मचारी पुरुषों की भाँति स्वर्गलोक को जाती है।

अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते।
सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते॥१६१॥

जो स्त्री सन्तान के लोभ से पति का अतिक्रमण करती है (अर्थात् पर पुरुष के साथ व्यभिचार करती है) इस लोक में उसकी निन्दा होती है और वह परलोक से भी भ्रष्ट होती है।

नान्योत्पन्ना प्रजास्तीह न चाप्यन्यपरिग्रहे।
न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोपदिश्यते॥१६२॥

अन्य पुरुष से उत्पन्न वह सन्तान शास्त्र सम्मत नहीं है। और दूसरे की स्त्री में उत्पादित सन्तान भी उत्पादक की नहीं होती। पतिव्रता स्त्रियों को दूसरे पति का उपदेश कहीं नहीं किया गया है।

पतिं हित्वाऽपकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते।
निन्द्यैव सा भवेल्लोके परपूर्वेति चोच्यते॥१६३॥

जो अपने गुणहीन पति को छोड़कर किसी अन्य श्रेष्ठ पुरुष को स्वीकार करती है वह समाज में निन्दनीय होती है। लोग उसे व्यभिचारिणी कहकर निन्दा करते हैं।

व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोकेप्राप्नोति निन्द्यताम्।
श‍ृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते॥१६४॥

परपुरुष के साथ व्यभिचार करने से स्त्री संसार में निन्दित समझी जाती है और मरने पर शृगाल (गीदड़) होती है तथा कुष्ठादि रोगों से पीड़ित होती है।

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयुता ।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥१६५॥

जो मन वचन और क्रिया से पति के विरुद्ध आचरण नहीं करती, वह पतिलोक को पाती है और इस लोक में अच्छे लोग पतिव्रता कहकर उसकी प्रशंसा करते हैं।

अनेन नारीवृत्तेन मनोवाग्देहसंयुता ।
इहाग्र्यां कीर्तिमाप्नोति पतिलोकं परत्र च ॥१६६॥

इस नारीधर्म के अनुसार जो स्त्री तन, मन, वचन से पति की सेवा करती है, वह इस लोक में सुयश पाती है और मरने पर पति के साथ स्वर्ग सुख भोगती है।

एवं वृत्तां सवर्णां स्त्री द्विजातिः पूर्वमारिणीम् ।
दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित् ॥१६७॥

शास्त्रोक्त विधि से चलने वाली सजातीया स्त्री यदि पहले मर जाय, तो धर्मज्ञ द्विज अग्निहोत्र और यज्ञपात्रों के द्वारा उसकी दाह क्रिया करें।

भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्त्वाग्नीनन्त्यकर्मणि ।
पुनर्दारक्रियां कुर्यात्पुनराधानमेव च ॥१६८॥

पति के पूर्व मरने वाली स्त्री को अन्त कर्म में अग्नि दे चुकने के पीछे वह पुरुष पुनर्विवाह करके (श्रौत या स्मार्त) अग्निहोत्र ले।

अनेन विधिना नित्यं पञ्चयज्ञान्न हापयेत् ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥१६९॥

इस विधि से यथाशक्ति पञ्चयज्ञों को नित्य नियमपूर्वक करे, कभी उसे छोड़े नहीं और जीवन के दूसरे भाग में विवाह कर गृहस्थाश्रम में रहे।

इति पञ्चम अध्याय समाप्त ।

षष्ठोऽध्यायः (६)

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥१॥

इस प्रकार स्नातक द्विज विधिवत् गृहधर्म का पालन करे, पश्चात् जितेन्द्रिय होकर नियमपूर्वक धर्म का अनुष्ठान करता हुआ वन में निवास करे।

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत् ॥२॥

गृहस्थ जब देखे कि अपने शरीर पर झुरियाँ पड़ गई हैं, केश श्वेत हो गये हैं और अपने पुत्र के भी पुत्र हो चुके हैं, तब वन में आश्रय करे।

सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥३॥

ग्राम्य आहार (चावल, आटा आदि) और वस्त्रालंकारादि को त्याग कर स्त्री को पुत्र के सुपुर्द कर अथवा अपने साथ ले, वन में जाय।

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् ।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निसवेन्नियतेन्द्रियः ॥४॥

घर की होमाग्नि और उसके उपकरण (स्रुक् स्रुवा आदि) लेकर गाँव से निकल संयतेन्द्रिय होकर वन में निवास करे।

मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा ।
एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥५॥

वानप्रस्थ होने पर वन में मुनियों के अन्न (नीवार आदि) से अथवा शाक, फल, मूलों से विधिपूर्वक पञ्चमहायज्ञों को करे।

वसीत चर्म-चीरं वा सायं स्नायात्प्रगे तथा ।
जटाश्च विभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च ॥६॥

मृगचर्म या बल्कल पहने, प्रातः और सायंकाल स्नान करे। जटा दाढ़ी, मूँछ और नख इनको नित्य धारण करे।

यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद् बलिं भिक्षां च शक्तितः ।
अप्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान् ॥७॥

आश्रम के जो विहित भोजन हों, उसीमें से यथाशक्ति बलि और भिक्षा दे। आश्रम में आये हुए अतिथि को जल मूल, फल की भिक्षा से पूजित करे।

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद् दान्तो मैत्रः समाहितः ।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥८॥

वेदाध्ययन में नित्य लगा रहे, जाड़ा गर्मी को सहे, सबका उपकार करे मन को अपने वश में रख, नित्य दान करे, पर आप प्रतिग्रह न ले और सब जीवों पर दया रखे।

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि ।
दर्शमस्कन्दयन्पर्वं पौर्णमासं च योगतः ॥९॥

अमावस्या और पूर्णिमा, दोनों पर्वों के यज्ञों को न छोड़ता हुआ समय पर यथोक्त विधि से वैतानिक अग्निहोत्र करे।

ऋक्षेष्ट्याग्रयणं चैव चातुर्मास्यानि चाहरेत् ।
तुरायणं च क्रमशो दाक्षस्यायनमेव च ॥१०॥

नक्षत्रेष्ठि, आग्रयण, चातुर्मास्य, तुरायण और दाक्षायण, इन वेदकर्मों को क्रमशः करे।

वासन्तशारदैर्मेध्यैर्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः ।
पुरोडाशांश्चरूंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथक् ॥११॥

स्वयं बोये हुए वसन्त और शरदृऋतु के पवित्र मुन्यन्नों (नीवार आदि) से यथाविधि पुरोडाश और चरु अलग-अलग बनावे।

देवताभ्यस्तु तद्धुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः ।
शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च स्वयं कृतम् ॥१२॥

वह वन्य, अति पवित्र हवि देवताओं के निमित्त अग्नि में हवन कर शेष अपने उपयोग में लावे और नमक भी अपने हाथ का निकाला खाय।

स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च ।
मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात्स्नेहांश्च फलसम्भवान् ॥१३॥

स्थल और जल में उपजे साग और विशुद्ध वृक्षों के फूल, मूल और फल खाय। फलों से निकले हुए तेल भी खावे।

वर्जयेन्मधु मांसं च भौमानि कवकानि च ।
भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च ॥१४॥

मधु, माँस, गोबरछत्ता, भूस्तृण, शिग्रुक, श्लेष्मातक, ये सब न खाय।

त्यजेदाश्वयुजे मासि मुन्यन्नं पूर्वसञ्चितम् ।
जीर्णानि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च ॥१५॥

पूर्व वर्ष का संचित किया मुन्यन्न (निवार आदि अन्न) पुराने वस्त्र और साग, मूल, फल कुआर महीने में न खाय।

न फालकृष्टमश्नीयादुत्सृष्टमपि केनचित्।
न ग्रामजातान्यार्तोऽपि मूलानि च फलानि च ॥१६॥

खेत का उपजाया हुआ अनाज किसी का दिया हुआ भी न खाय। गाँव में जो फल मूल उत्पन्न हुए हों, उन्हें क्षुधार्त होने पर भी न खाय।

अग्निपक्वाशनो वा स्यातत् कालपक्वभुगेव वा।
अश्मकुट्टो भवेद्वाऽपि दन्तोलूखलिकोऽपि वा ॥१७॥

आग से पकाया हुआ वन का अन्न या समयानुसार पके हुए फल या पत्थर से कूटा हुआ अन्न खाय, अथवा दाँत मुँह को ही ऊखल मूसल बना ले।

सद्यः प्रक्षालको वा स्यान्माससञ्चयिकोऽपि वा।
षण्मासनिचयो वा स्यात्समानिचय एव वा ॥१८॥

भोजन करके बर्तन धोकर रख दिया जाय इतना ही (अर्थात् एक बार भोजन के योग्य) अन्न संग्रह करे, अथवा एक महीने या छः महीने या (अधिक से अधिक) एक वर्ष के जीवन निर्वाह योग्य अन्न संचित करे।

नक्तं चान्नं समश्नीयाद्दिवा वाऽऽहृत्य शक्तितः।
चतुर्थकालिको वा स्यात्स्याद्वाप्यष्टमकालिकः ॥१९॥

यथाशक्ति दिन में अन्न इकट्ठा कर प्रदोषकाल में भोजन करे, किंवा एक दिन उपवास कर दूसरे दिन नियमित समय पर एक बार भोजन करे, अथवा दो दिन उपवास कर तीसरे दिन एक बार भोजन करे।

चान्द्रायणविधानैर्वा शुक्लकृष्णे च वर्तयेत्।
पक्षान्तयोर्वाऽप्यश्नीयाद्यवागूं कथितां सकृत् ॥२०॥

चान्द्रायण व्रत के विधान से शुक्ल-कृष्ण पक्ष में क्रमशः भोजन की मात्रा को बढ़ावे-घटावे या पक्ष के अन्त में एक बार औटा हुआ यवागू[१] पीये।

पुष्पमूलफलैर्वाऽपि केवलैर्वर्तयेत् सदा।
कालपक्वैः स्वयंशीर्णैर्वैखानसमते स्थितः ॥२१॥

अथवा वानप्रस्थ धर्म में रहकर शुद्ध फल, फूल, मूल जो समय पर पककर आपही गिरें, उन्हीं से जीवन-निर्वाह करे।

---

१. षड्गुणजलपक्वघनद्रवद्रव्यविशेषः।

भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद्वा प्रपदैर्दिनम् ।
स्थानासनाभ्यां विहरेत्सवनेषूपयन्नपः ॥ २२॥

भूमि पर लोट-पोट करता हुआ पड़ा रहे या दिनभर दोनों पैरों के अग्र भाग पर खड़ा रहे। अथवा अपने स्थान और आसन पर कुछ काल खड़ा रहे और कुछ काल बैठे तथा त्रिकाल स्नान करे।

ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद्वर्षास्वभ्रावकाशिकः ।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः ॥ २३॥

ग्रीष्म में पञ्चाग्नि से अपने को तपावे, वर्षा में जहाँ वर्षा होती हो वहाँ मैदान में रहे और हेमन्त में भीगा कपड़ा पहन कर क्रम से तप को बढ़ावे।

उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितृन्देवांश्च तर्पयेत् ।
तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद् देहमात्मनः ॥ २४॥

प्रात:मध्याह्न और सायंकाल में स्नान कर देव, ऋषि और पितरों का तर्पण करे और तीव्र तपश्चर्या करके अपने शरीर को सुखावे।

अग्नीनात्मनि वैतानान्समारोप्य यथाविधि ।
अनग्निरनिकेतः स्यान्मुनिर्मूलफलाशनः ॥ २५॥

वैतान अग्नि को यथाविधि से अपने में समारोपित कर (अर्थात् लौकिक अग्नि और गृह को त्याग कर) मौनव्रत धारण करे और कन्दमूल खाकर निर्वाह करे।

अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः ।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥ २६॥

शारीरिक सुख भोगने के लिये यत्न न करे, ब्रह्मचारी हो (अर्थात् आठों[1] प्रकार के मैथुनों को त्याग दे) भूमि पर सोवे, निवासस्थान में ममता रहित होकर पेड़ के नीचे रहे।

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत् ।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥ २७॥

(फल मूल न मिलने पर) तपस्वी ब्राह्मणों से ही प्राणरक्षार्थ भिक्षा ग्रहण करे, इसके अभाव में अन्य वनवासी गृहस्थ ब्राह्मणों से भिक्षा ले।

ग्रामादाहृत्य वाऽश्नीयादष्टौ ग्रासान्वने वसन् ।
प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा ॥ २८॥

---

१. स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥

अथवा गाँव से भिक्षा लावे और वन में बैठकर उनमें से आठ कौर पत्ते या खपड़े से या हाथ से उठाकर खाय।

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥ २९ ॥

दीक्षित ब्राह्मण वन में रहता हुआ इन पूर्वोक्त और अन्य नियमों का पालन और वेद के विविध उपनिषदों को आत्मज्ञान के निमित्त मनोयोग पूर्वक पढ़े।

ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविताः।
विद्यातपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये ॥ ३० ॥

कारण ऋषि, ब्राह्मण और गृहस्थों ने शरीर शुद्धि और विद्या तप की वृद्धि के लिये उपरोक्त नियमों का सेवन किया है।

अपराजितां वास्थाय ब्रजेद्दिशमजिह्मगः।
आनिपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिलाशनः ॥ ३१ ॥

असाध्य रोगों के होने पर ईशान दिशा की ओर मुँह करके सरल गति से योगनिष्ठ होकर जल, वायु भक्षण करता हुआ शरीर छूट जाने तक बराबर गमन करता रहे।

आसां महर्षिचर्याणां त्यक्त्वाऽन्यतमया तनुम्।
वीतशोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते ॥ ३२ ॥

इन ऋषियों के दिनचर्या के अनुसार अनुष्ठानादि करता हुआ जो ब्राह्मण शोक-भय से रहित होकर शरीर त्याग करता है वह ब्रह्मलोक में पूजित होता है।

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत् ॥ ३३ ॥

आयु के तीसरे भाग को वन में बिताकर आयु के चौथे भाग में सर्व-संग परित्याग कर संन्यास ग्रहण करे।

आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः।
भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन्प्रेत्य वर्धते ॥ ३४ ॥

आश्रम से आश्रम में जाकर जितेन्द्रिय हो भिक्षा बलि-वैश्वदेव और अग्निहोत्र आदि नित्य कर्म करते-करते थक जाने पर जो अन्त में संन्यास ग्रहण करके देह त्याग करता है वह परलोक में महान् कल्याण लाभ करना है।

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥ ३५ ॥

तीनों ऋणों (अर्थात् देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण) से मुक्त होकर मन को मोक्ष में लगावे। ऋण-शोधन किये बिना जो मोक्षार्थी होता है वह नरकगामी होता है।

अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ ३६ ॥

विधिपूर्वक वेदों को पढ़कर धर्म से पुत्रों को उत्पन्न कर और यथाशक्ति यज्ञों का अनुष्ठान करके तब चतुर्थ आश्रम में मन को लगावे।

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान् ।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः ॥ ३७ ॥

जो द्विज वेदों को न पढ़कर तथा पुत्रों की उत्पत्ति और यज्ञों का अनुष्ठान न कर (अकृत ऋषिऋण, पितृऋण, और देवऋण से उत्तीर्ण हुए बिना) संन्यास धारण की इच्छा करता है वह नीच गति को प्राप्त होता है।

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥ ३८ ॥

प्राजापत्य यज्ञ (जिसमें सर्वस्व दक्षिणा दी जाती है) को शास्त्रोक्त विधि से पूरा करके अपने से अग्नि को समारोपित कर ब्राह्मण संन्यास ग्रहण करने के लिए घर से निकले।

यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् ।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ ३९ ॥

जो सब प्राणियों को अभय देकर घर से संन्यास के लिये जाता है, उस ब्रह्मवादी को तेजोमय लोक प्राप्त होते हैं।

यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम् ।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥ ४० ॥

जिससे प्राणियों को अणुमात्र भी भय उत्पन्न नहीं होता, उस देह से मुक्त पुरुष को कहीं किसी का भी भय नहीं रहता।

अगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः ।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ४१ ॥

घर से निकल कर दण्ड कमण्डलु आदि पवित्र पदार्थों को साथ में ले, किसी से वृथा भाषण न करे और सुस्वादु भोज्य पदार्थों की भी कोई इच्छा न करके भ्रमण करे।

एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान्।
सिद्धिमेकस्य संपश्यन्न जहाति न हीयते ॥४२॥

मोक्ष की सिद्धि के लिए असहाय होकर अकेला ही नित्य भ्रमण करे। वह न किसी को छोड़ता है और न किसी से छोड़ा जाता है (अर्थात् न उसे किसी को छोड़ने से दुःख होता है और न किसी से न छोड़े जाने का ही)।

अनग्निरनिकेतः स्यात् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत्।
उपेक्षकोऽसंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥४३॥

अग्नि और गृह से रहित होकर रहें। रोगादि की परवाह न करे। स्थिर बुद्धि और मौन हो विशुद्ध भाव से ब्रह्म का मनन करता हुआ भोजन के लिये गाँव में जाय।

कपालं वृक्षमूलानि कुचेलमसहायता।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥४४॥

खप्पर (भोजन के लिये), वृक्ष के जड़ (रहने के लिये), मोटा-पुराना कपड़ा (पहनने के लिये), किसी सहायक का न रहना और सर्वत्र समभाव रखना, यह मुक्त पुरुष के लक्षण हैं।

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥४५॥

मरने की इच्छा न करे न जीने की ही इच्छा करे। किन्तु जैसे सेवक अपने प्रभु की आज्ञा की प्रतीक्षा करता है उसी प्रकार संन्यासी काल की प्रतीक्षा करे।

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥४६॥

आँख से जमीन को देखकर पैर रखे, वस्त्र से छानकर जल पीये, सत्य वचन बोले और पवित्र मन से कार्य करे।

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥४७॥

कोई अत्यन्त वाद-विवाद करे तो उसे सह ले, पर किसी का अपमान न करे इस देह का आश्रय कर किसी के साथ शत्रुता न करे।

क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुद्ध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥४८॥

क्रोध में भरे हुए मनुष्य का जवाब क्रोधित होकर न दे, कोई निन्दा

करे तो भद्र वचन ही कहे। (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि) इन सात द्वारों से ग्रहण किये जाने वाले विषयों की चर्चा न करे। (केवल ब्रह्मविषयक सत्य वचन बोले।)

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥४९॥

सदा आत्मा के ही चिन्तन में लगा रहे। विषयों की इच्छा से रहित निरामिष होकर एक देहमात्र की सहायता से मोक्ष सुख का अभिलाषी होकर संसार में बिचरे।

न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया ।
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् ॥५०॥

(धूम्रकेतु आदि) उत्पात, नेत्र-स्फुरण आदि निमित्त, तिथि-नक्षत्र के योग्य अयोग्य आदि फलाफल कहकर अथवा नीति का उपदेश या शास्त्र की बात सुनाकर भिक्षा लेने की कभी इच्छा न करे।

न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः ।
आकीर्णं भिक्षुकैर्वाऽन्यैरगारमुपसंव्रजेत् ॥५१॥

तपस्वी ब्राह्मणों से, चिड़ियों से, कुत्तों से या अन्य भिक्षुकों से जिसका घर भरा हो, उसके घर भिक्षा के लिये न जाय।

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥५२॥

सिर के केश, दाढ़ी, मूँछ और नखों को कटाना चाहिये। भिक्षापात्र और दण्ड, कमण्डलु साथ रखने चाहिये। और सभी प्राणियों को बिना दुःख दिये नित्य नियम पूर्वक भ्रमण करना चाहिये।

अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च ।
तेषामद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे ॥५३॥

संन्यासियों के भिक्षापात्र धातु के न हों और न उनमें छिद्र ही हों। इन पात्रों की शुद्धि यज्ञ के चमसों (हवन के उपकरणों) की भाँति जल से ही होती है।

अलावुं दारुपात्रं च मृन्मयं वैदलं तथा ।
एतानि यतिपात्राणि मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥५४॥

संन्यासी का भिक्षा पात्र कद्दू के फल का, काठ का, मिट्टी का, या बाँस के खण्ड का बना होना चाहिये, यह स्वायम्भुव मनु ने कहा है।

एककालं चरेद्भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे।
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति॥५५॥

एक बार भिक्षा माँगनी चाहिये। भिक्षा का विस्तार न करे। बहुत भिक्षा में आसक्त संन्यासी विषयों में भी आसक्त हो सकता है।

विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
वृत्ते शरावसम्पाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत्॥५६॥

जब धुआँ न होता हो, मूसल का शब्द न सुनायी देता हो, आग बुझ गयी हो, घर के सब लोग खा-पी चुके हों, जूठे बर्तन अलग कर दिये गये हों, ऐसे समय संन्यासी भिक्षा के लिये नित्य गृहस्थों के घर जाय।

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत्।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः॥५७॥

भिक्षा न मिलने पर विषाद न करे और मिलने पर हर्ष भी न करे। प्राणयात्रा रक्षार्थ भिक्षान्न से जीवन निर्वाह करे, दण्ड-कमण्डलु में भी आसक्ति न रखे।

अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः।
अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्ध्यते॥५८॥

आदर के साथ भिक्षा स्वीकार करने को सब काल में बुरा समझे। क्योंकि पूजित होने पर भिक्षा ग्रहण करने वाला संन्यासी मुक्त होकर भी बद्ध हो जाता है।

अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च।
ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत्॥५९॥

अल्पाहार और एकान्त निवास इन दो उपायों से. विषयों द्वारा खींची जाने वाली इन्द्रियों को वश में करे।

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्त्वाय कल्पते॥६०॥

इन्द्रियों के नियन्त्रण से और रागद्वेष के त्याग तथा प्राणियों की अहिंसा से संन्यासी मोक्ष को पाता है।

अवेक्षेत गतीर्नृणां कर्मदोषसमुद्भवाः।
निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्षये॥६१॥

मनुष्यों के कर्म की गति, नरक में गिरने और यमलोक की विविध यातनायें—इनका विचार करना चाहिये।

विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगं च तथाऽप्रियैः ।
जरया चाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ॥ ६२ ॥

प्रियों का वियोग, अप्रियों का सुयोग, बुढ़ापे में होने वाला क्षय आदि रोगों से कष्ट, (कर्म-दोष के) इन परिणामों को सोचे।

देहादुत्क्रमणं चास्मात्पुनर्गर्भे च सम्भवम् ।
यो हि कोटिसहस्रेषु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः ॥ ६३ ॥

इस शरीर से फिर गर्भ में प्रवेश, प्राणों का वियोग और अनन्त कोटि योनियों में भ्रमण करना यह सब अपने ही कर्म-दोष का फल है।

अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम् ।
धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम् ॥ ६४ ॥

शरीरधारियों के सब दुःख अधर्म से होते हैं और अक्षय सुख का संयोग धर्म से होता है।

सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः ।
देहेषु च समुत्पत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च ॥ ६५ ॥

योग द्वारा परमात्मा की सूक्ष्मता का विचार करे और कर्म-दोष से उत्तम-अधम देहों में जन्म होने की बात सोचे।

दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः ।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ ६६ ॥

जिस किसी आश्रम में रहता हुआ किसी दोष से दूषित होने पर भी सब प्राणियों को समान दृष्टि से देखता हुआ धर्मानुष्ठान करे। किसी आश्रम के चिह्न ही उस आश्रम धर्म के कारण नहीं होते।

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् ।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥ ६७ ॥

यद्यपि निर्मली का फल जल को स्वच्छ करने वाला होता है। किंतु केवल उनका नाम लेने से ही जल स्वच्छ नहीं होता।

संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा ।
शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत् ॥ ६८ ॥

शरीर के अस्वस्थता में जीवों के प्राणरक्षार्थ, दिन हो या रात, सदा पृथ्वी को देखकर पैर रखे।

अह्ना रात्र्या च याञ्जन्तून् हिनस्त्यज्ञानतो यतिः ।
तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान् षडाचरेत् ॥६९॥

बिना जाने दिन या रात में छोटे जीवों की (पैरों के नीचे दबकर) हिंसा हो जाय तो उस पाप से विशुद्ध होने के लिये वह संन्यासी स्नान करके छः प्राणायाम[१] करे।

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः ।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥७०॥

व्याहृति और प्रणव सहित यथाविधि तीन प्राणायाम ही ब्राह्मण के लिये परम तप जानना चाहिये।

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥७१॥

आग में तपाने से जैसे धातुओं का मैल जल जाता है, वैसे ही प्राणवायु के निग्रह (प्राणायाम) से इन्द्रियों के दोष दग्ध हो जाते हैं।

प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ॥७२॥

प्राणायाम से रोगादि दोषों का, धारण[२] से पाप का, प्रत्याहार[३] से संसर्ग का और ध्यान से अनीश्वर गुणों (क्रोध, लोभ, अयूसा आदि) का नाश करे।

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः ।
ध्यानयोगेन सम्पश्येद् गतिमस्यान्तरात्मनः ॥७३॥

प्राणियों का उच्च-नीच योनियों में जाने का कारण जो अज्ञानियों के लिये बहुत ही कठिन है उसे ध्यान योग से देखे। (अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ होकर देखे)।

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबद्ध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥७४॥

ब्रह्म का सम्यक् दर्शन करने वाला कर्मों से बद्ध नहीं होता, किन्तु ब्रह्मदर्शन से विहीन पुरुष संसारी होकर जन्म-मरण के फेर में पड़ता है।

---

१. सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते।। इति वशिष्ठः।।

२. परब्रह्म में मन को स्थिर करने का नाम धारणा है।

३. विषयों से इन्द्रियों के खींचने को प्रत्याहार कहते हैं।

अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥७५॥

साधक अहिंसा, इन्द्रिय संयम, वैदिक कर्मों के अनुष्ठान और कठिन तपश्चर्या से ब्रह्मपद को प्राप्त होते हैं।

अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् ।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धिपूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥७६॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥७७॥

हड्डी के खंभे वाली, शिशुओं से युत, मांस और रुधिर से लेप की हुई, चमड़े से ढकी हुई मलमूत्र भरी और दुर्गन्धयुक्त जरा और शोक से आक्रान्त रोगी का घर भूख-प्यास से व्याकुल भोगाभिलाषी और क्षणभंगुररूपी शरीर को ऐसे प्राणियों के घर को त्याग ही देना चाहिये।(अर्थात् जिसमें इस आत्मा को पुनर्देह सम्बन्ध न हो ऐसा यत्न करना चाहिये।)

नदीकूलं यथा वृक्षो वृक्षं वा शकुनिर्यथा ।
तथा त्यजेन्निमं देहं कृच्छ्राद् ग्राहाद्विमुच्यते ॥७८॥

जैसे वृक्ष नदी के किनारे को और जैसे पक्षी वृक्ष को त्याग देता है वैसे संन्यासी इस देह को त्यागकर सांसारिक दुःखरूप ग्राह से मुक्त होता है।

प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम् ।
विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येति सनातनम् ॥७९॥

ज्ञानी अपने हितैषियों में अपना पुण्य और शत्रुओं में अपना पाप छोड़कर ध्यान योग से सनातन ब्रह्म में लीन होता है।

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः ।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥८०॥

पारमार्थिक विचार से विषयों को दोषपूर्ण समझकर जब उनसे विरत होता है तब वह इस लोक में संतोष-सुख और परलोक में अविनाशी मोक्ष-सुख पाता है।

अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गाञ्छनैः शनैः ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥८१॥

इस प्रकार (पुत्र-कलत्र आदि की) सारी आशक्तियों को धीरे-धीरे त्याग कर और (मानापमानादिक) सभी द्वन्द्वों से विमुक्त होकर वह ब्रह्म में लीन हो जाता है।

ध्यानिकं सर्वमेवैतद्यदेतदभिशब्दितम् ।
न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुते ॥८२॥

यह सब जो कहा गया है वह आत्मध्यान से ही होता है, (अर्थात् ध्यान द्वारा परमात्मा में मगन होने वाले को किसी में ममता या मानापमान का दु:ख नहीं होता।) इस आध्यात्मिक विषय को न जानने वाला ब्रह्मध्यानात्मक क्रिया का फल नहीं पाता।

अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च ।
आध्यात्मिकं च सततं वेदान्ताभिहितं च यत् ॥८३॥

यज्ञ और देवता सम्बन्धी वेद मंत्रों और वेदान्तों में कहे आध्यात्मिक विषयों का सदा जप करे।

इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम् ।
इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम् ॥८४॥

यह (वेदसंज्ञक ब्रह्म) वेदार्थ को जानने वाले अज्ञों की भी गति है। स्वर्ग और मोक्ष चाहने वाले विद्वानों का भी वेद ही शरण है।

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः ।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥८५॥

इस क्रमयोग से जो द्विज संन्यास-आश्रम को ग्रहण करता है वह इस संसार में सब पापों से छूटकर परब्रह्म में मिल जाता है।

एष धर्मोऽनुशिष्टो वो यतीनां नियतात्मनाम् ।
वेदसंन्यासिकानां तु कर्मयोगं निबोधत ॥८६॥

यह धर्म संयतात्मा संन्यासियों का कहा, अब वेद संन्यासियों का कर्मयोग कहता हूँ, सुनिये।

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा ।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥८७॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और संन्यासी, ये चारों आश्रम गृहस्थाश्रम से ही उत्पन्न होते हैं।

सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः ।
यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥८८॥

ये चारों आश्रम क्रमशः शास्त्रोक्त विधि से अनुष्ठित होने पर अनुष्ठान करने वाले ब्राह्मणों को परमपद को ले जाते हैं।

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्ति हि ॥८९॥

इन सभी आश्रमों में वेद और स्मृति की विधि के अनुसार चलने वाला गृहस्थ श्रेष्ठ कहा गया है, क्योंकि वह (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी) आश्रमों की रक्षा करता है।

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वेगृहस्थे यान्ति संस्थितम् ॥९०॥

जैसे सभी नदी-नद समुद्र में ही आश्रय पाते हैं वैसे ही सभी आश्रमी गृहस्थाश्रम से ही सहारा पाते हैं।

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥९१॥

इन ब्रह्मचारी आदि चारों आश्रमी द्विजों को सदा यत्नपूर्वक (आगे कहे) दश विध धर्मों का सेवन करना चाहिये।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥९२॥

सन्तोष, क्षमा, मन को दबाना, अन्याय से किसी की वस्तु न लेना शारीरिक पवित्रता, इन्द्रियों का निग्रह (विषयों से उन्हें रोकना) बुद्धि (शास्त्रादि तत्त्व का ज्ञान), विद्या (आत्मबोध), सत्य (यथार्थ कथन), क्रोध न करना, ये दश धर्म के लक्षण हैं।

दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते ।
अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥९३॥

जो ब्राह्मण दश-विध धर्मों को समझने का यत्न करते हैं और समझ कर उनका अनुष्ठान करते हैं वे परम गति को प्राप्त होते हैं।

दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्समाहितः।
वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः ॥९४॥

एकाग्रचित्त होकर दश-विध धर्मों का अनुष्ठान करता हुआ, विधिपूर्वक वेदान्त सुनकर ऋणमुक्त द्विज संन्यास ग्रहण करे।

संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन्।
नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत् ॥९५॥

सब कर्मों को छोड़, प्राणायाम आदि द्वारा कर्मदोषों का भी नाश करता हुआ नियत चित्त से उपनिषदों का अभ्यास कर अपने भोजनादि का भार पुत्र को सौंपकर आप निश्चिन्त हो सुख से घर पर रहे, (यह वेद-संन्यास) है।

एवं संन्यस्य कर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृहः।
संन्यासेनापहत्यैनः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥९६॥

इस प्रकार कर्मों को त्याग कर, विषय-वासना से रहित हो, आत्मज्ञान के साधन में लगा हुआ पुरुष संन्यास के द्वारा पापों का नाश करके परमगति (मोक्ष) पाता है।

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः।
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत ॥९७॥

ये ब्राह्मण के चार प्रकार के आश्रम-धर्म आप लोगों से कहे, ये पुनीत और परलोक में अक्षय फल देनेवाले हैं। अब राजधर्म सुनिये।

इति षष्ठ अध्याय समाप्त।

●

सप्तमोऽध्यायः (७)

राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः ।
सम्भवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥ १ ॥

राज्याभिषिक्त राजा का आचार राज्य की उत्पत्ति और जिस प्रकार से उसे परम सिद्धि होती है उन सब राजधर्मों को कहता हूँ।

ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि ।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम् ॥ २ ॥

यथाविधि यज्ञोपवीत संस्कार पाये हुए क्षत्रिय राजा को न्यायपूर्वक सभी प्रजाओं की रक्षा करनी चाहिये।

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥ ३ ॥

इस संसार में राजा के न रहने से सर्वत्र भय से हाहाकार मचने लगा। इसलिये इस जगत् के रक्षार्थ ईश्वर ने राजा को बनाया।

इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ ४ ॥

ईश्वर ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर इन आठों देवताओं का सारभूत अंश लेकर राजा को उत्पन्न किया है।

यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥ ५ ॥

जैसे इन इन्द्रादि देवताओं के अंशों से राजा उत्पन्न होता है, वैसे ही वह अपने तेज से सब प्राणियों को अपने वश में रखता है।

तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च ।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥ ६ ॥

वह सूर्य की भाँति नेत्र और मन को तपाता है। इसलिए संसार में कोई भी इसे आँख उठाकर नहीं देख सकता।

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥ ७ ॥

वह राजा अपने प्रभाव से अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, यम, कुबेर, वरुण और इन्द्र, इनमें जब जिसका चाहता है उसका स्वरूप धारण करता है।

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ८ ॥

राजा बालक भी हो तो भी उसे साधारण मनुष्य समझ अपमान न करे, क्योंकि वह कोई विशेष देवता नररूप में स्थित है।

एकमेव दहत्यग्निर्नरं दुरुपसर्पिणम् ।
कुलं दहति राजाग्निः सपशुद्रव्यसञ्चयम् ॥ ९ ॥

आग में जो गिरता है आग उसी एक को जलाती है। किन्तु राजा की क्रोधाग्नि अपराधी के चिरसंचित परिवार सहित धन, सम्पत्ति और पशु को जलाकर खाककर डालती है।

कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्त्वतः ।
कुरुते धर्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः ॥ १० ॥

राजा अपनी शक्ति, देशकाल और कार्य को भलीभाँति बार-बार विचार कर धर्मसिद्धि के निमित्त अनेक रूप धारण करता है।

यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे ।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः ॥ ११ ॥

जिसकी प्रसन्नता में महती लक्ष्मी, पराक्रम में विजय और क्रोध में काल रहता है, इसलिए वह राजा सर्वतेजोमय है।

तं यस्तु द्वेष्टि सम्मोहात्स विनश्यत्यसंशयम् ।
तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः ॥ १२ ॥

अज्ञानवश जो राजा के साथ शत्रुता करता है, वह निःसंदेह नाश को प्राप्त होता है। उसके विनाशार्थ राजा शीघ्र ही अपने मन को नियुक्त करता है।

तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः ।
अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत् ॥ १३ ॥

इसलिए वह राजा भले लोगों के लिए जो इष्ट धर्म और बुरे लोगों के लिये जो अनिष्ट धर्म को निर्दिष्ट करे, उसका अनादर न करना चाहिये।

तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥ १४ ॥

ईश्वर ने सभी प्राणियों के रक्षक राजा के सभी कार्यों की सिद्धि के लिये ब्रह्मजोमय, धर्म, पुत्ररूप दण्ड को पहले निर्माण किया।

तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च ॥१५॥

उस दण्ड के भय से चर अचर सभी प्राणी सुख भोगने में समर्थ होते हैं और अपने धर्म से विचलित नहीं होते।

तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः ।
यथार्हतः सम्प्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु ॥१६॥

उस दण्ड को देश, काल और दण्ड की शक्ति तथा किस अपराध में क्या दण्ड देना चाहिये इत्यादि का शास्त्रीय ज्ञान-इनका तत्त्वतः विचार करके अपराधियों के लिये यथायोग्य दण्ड का विधान करे।

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः ।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥१७॥

वही दण्ड राजा है, वही पुरुष है, वही नेता और शासक है और वही चारों आश्रमों के धर्म का प्रतिभू (जामिन) कहा गया है।

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्डएवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥१८॥

दण्ड सभी प्रजाओं का शासन करता है दण्ड ही सबका रक्षा करता है। दण्ड ही सोते हुए को जगाता है। इसलिए ज्ञानी पुरुष दण्ड को ही धर्म कहते हैं।

समीक्ष्य स धृतः सम्यक्सर्वा रञ्जयति प्रजाः ।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥१९॥

विचारपूर्वक दिया हुआ दण्ड सभी प्रजाओं को प्रसन्न करता है पर बिना विचार किये दण्ड का विधान करने से वह सब प्रकार से नाश करता है।

यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः ।
शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः ॥२०॥

यदि राजा आलस्य छोड़कर दण्ड देने योग्य अपराधी को यथार्थ दण्ड न दे तो बलवान् दुर्बलों को लोहे के काँटे में पकड़ी हुई मछलियों की तरह भूनकर खा जाय।

अद्यात्काकः पुरोडाशं श्वा च लिह्याद्धविस्तथा ।
स्वाम्यं च न स्यात्कस्मिंश्चित्प्रवर्तताधरोत्तरम् ॥२१॥

(यदि राजा दण्ड न दे तो) कौआ यज्ञ का पुरोडाश खा जाय और कुत्ता पायसादि हवि चाट जाय। कहीं किसी का कोई अधिकार ही न रहे। नीच ही बड़े बन जायँ।

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः ।
दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते ॥ २२॥

सारा संसार दण्ड के अधीन है। शुद्ध साधु मनुष्य बिरला ही होता है। दण्ड के भय से ही संसार के प्राणी अपना-अपना भोग-भोगने में समर्थ होते हैं।

देवदानवगन्धर्वा रक्षांसि पतगोरगाः ।
तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ॥ २३॥

देवता, दानव, गन्धर्व, राक्षस, पक्षी और नागगण, ये सभी दण्ड भंय से ही पीड़ित होकर नियम का पालन करते हैं।

दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः ।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात् ॥ २४॥

दण्ड का उचित उपयोग न हो तो सभी वर्ण दूषित हो जायँ, धर्म के सभी बाँध टूट जायँ और सब लोगों में विद्रोह फैल जाय।

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा ।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेतां चेत्साधु पश्यति ॥ २५॥

जहाँ पापनाशक श्यामवर्ण (भयानक) और रक्तनेत्र (तेजस्वी) दण्ड चलता है वहाँ दण्ड देने वाला यदि न्याय से अपना कार्य करे तो प्रजा कभी व्याकुल नहीं होती।

तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥ २६॥

उस दण्ड का प्रवर्तन करने वाले सत्यवादी समीक्षा करने वाले बुद्धिमान् राजा को धर्म, अर्थ और काम का ज्ञाता कहा है।

तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते ।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥ २७॥

उस दण्ड का यथार्थ रीति से विधान करता हुआ राजा धर्म, अर्थ, काम इन तीनों से वृद्धि को प्राप्त होता है, जो राजा विषयासक्त, क्रोधी, खोटे विचार का होता है वह उसी दण्ड से मारा जाता है।

दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥ २८॥

दण्ड महान् तेज है। किन्तु अनभिज्ञों के लिए उसे धारण करना बड़ा कठिन है। वह धर्म भ्रष्ट राजा को सबान्धव नष्ट कर देता है।

ततो दुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम् ।
अन्तरिक्षगतांश्चैव मुनीन्देवांश्च पीडयेत् ॥ २९ ॥

वह दण्ड गिरि, दुर्ग, देश, स्थावर, जंगम जीव तथा अन्तरिक्ष स्थित ऋषि और देवताओं को भी कष्ट देता है।

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ ३० ॥

जो राजा मन्त्री सेनापति आदि सहायकों से रहित है, मूर्ख है, लोभी है, शास्त्रज्ञान विहीन है और विषयासक्त है वह इस दण्ड को न्यायपूर्वक नहीं चला सकता।

शुचिना सत्यसंधेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥ ३१ ॥

जो राजा हृदय का पवित्र, सत्यनिष्ठ, शास्त्र के अनुसार चलनेवाला, बुद्धिमान् और अच्छे सहायकों वाला हो वह इस दण्ड-धर्म को चला सकता है।

स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद् भृशदण्डश्च शत्रुषु ।
सुहृत्स्वजिह्मः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ॥ ३२ ॥

शत्रुओं को कठोर दण्ड दे, स्नेह सम्पन्न मित्रों के साथ निश्छल व्यवहार रखे और ब्राह्मणों के साथ क्षमा शील रहे।

एवं वृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः ।
विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३३ ॥

ऐसे आचरण वाले राजा को यदि शिलोञ्छवृत्ति से भी जीवन निर्वाह करना पड़े तो भी उसका यश संसार में उसी तरह फैलता है जैसे पानी में तेल का बूँद फैलता है।

अतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजितात्मनः ।
संक्षिप्यते यशो लोके घृतबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३४ ॥

इससे विपरीत चलने वाले अजितेन्द्रिय राजा का यश घृत बिन्दु की भाँति संसार में संकुचित होता है।

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः ।
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥ ३५ ॥

अपने-अपने धर्म में स्थित रहने वाले सभी वर्णों और आश्रमों की रक्षा करने के लिये ब्रह्मा ने राजा को बनाया है।

तेन यद्यत्सभृत्येन कर्तव्यं रक्षता प्रजाः ।
तत्तद्वोऽहं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ३६ ॥

मन्त्री आदि नौकरों के साथ प्रजाओं की रक्षा करते हुए अमात्यादि सेवकों सहित राजा का जो कर्तव्य है, वह सब मैं यथाक्रम आप लोगों से कहता हूँ।

ब्राह्मणान्पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः ।
त्रैविद्यवृद्धान्विदुषस्तिष्ठेत्तेषां च शासने ॥ ३७ ॥

राजा प्रति दिन सबेरे उठकर तीनों वेदों के अर्थ जानने वाले नीति शास्त्रज्ञ श्रेष्ठ ब्राह्मणों की सेवा करे और उनकी आज्ञा के अनुसार कार्य करे।

वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः शुचीन् ।
वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते ॥ ३८ ॥

वेदज्ञ और पवित्रात्मा वृद्ध ब्राह्मणों की नित्य सेवा करे। क्योंकि वृद्धों की सेवा करने वाला पुरुष राक्षसों से भी सदा पूजित होता है।

तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः ।
विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित् ॥ ३९ ॥

विनयशील राजा भी नित्य उन ब्राह्मणों से विनय की शिक्षा ग्रहण करे। क्योंकि विनीतात्मा राजा नाश को नहीं प्राप्त होता।

बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः ।
वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ॥ ४० ॥

बहुत से अविनयी राजा राज्यश्री के साथ (कोश-बल-वाहन सहित) नष्ट हो गये और कितने ही वनस्थ होकर भी विनय से राज्य पा लिया।

वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः ।
सुदाः पैजवनश्चैव सुमुखो निमिरेव च ॥ ४१ ॥

वेन, राजा नहुष, पिजवन का पुत्र सुदा, सुमुख और निमि, ये सब अविनय से नष्ट हो गये।

पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान्मनुरेव च ।
कुबेरश्च धनैश्वर्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः ॥ ४२ ॥

विनय से पृथु और मनु ने राज्य, कुबेर ने धन, ऐश्वर्य और विश्वामित्र ने ब्राह्मणत्व पाया।

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः ॥ ४३ ॥

तीनों वेदों के जानने वालों से तीनों वेद, (नीतिज्ञों से) सनातन दण्डनीति, (तार्किकों से) तर्कविद्या, (योगियों से) आत्मविद्या और (व्यवहारज्ञ) लोगों से व्यवहार समझ ले।

इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम्।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥४४॥

इन्द्रियों को वश में रखने के लिये सदा योग का साधन करता रहे। क्योंकि जितेन्द्रिय राजा ही प्रजाओं को वश में रख सकता है।

दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥४५॥

काम से दश और क्रोध से आठ व्यसन उत्पन्न होते हैं जो अन्त में बड़े ही दुःखदायी होते हैं। इसलिए इनका यत्न से परित्याग करे।

कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥४६॥

जो राजा काम से उत्पन्न व्यसनों में आसक्त होता है, वह धन-धर्म से रहित होता है। क्रोध से उत्पन्न व्यसनों में आसक्त राजा अपने शरीर को ही खो बैठता है।

मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥४७॥

शिकार खेलना, जूआ, दिन में सोना, दूसरों के दोष का वर्णन, स्त्रियों का सहवास, मद्य का मद, नाचना, गाना, बजाना और वृथा घूमना, ये काम से उत्पन्न दश व्यसन हैं।

पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥४८॥

किसी का अज्ञात दोष प्रकट करना, साहस अर्थात् बुरे कामों में पराक्रम दिखलाना, द्रोह, ईर्ष्या (अर्थात् दूसरे के गुण को न सहना), असूया (अर्थात् दूसरे के गुणों में दोष देखना), अर्थदोष (अर्थात् अग्राह्य द्रव्य लेना और देय द्रव्य न देना), कठोर भाषण और क्रूर ताड़न, ये आठ क्रोध से उत्पन्न व्यसन हैं।

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥४९॥

पण्डितों ने इन दोनों (काम-क्रोधोत्पन्न व्यसनों का) मूल जिस लोभ को बताया है, उस लोभ को यत्नपूर्वक जीते। क्योंकि ये दोनों उसी लोभ से उत्पन्न होते हैं।

पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम्।
एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥५०॥

काम से उत्पन्न होने वाले दुर्गुणों में मद्यपान, जूआ, स्त्री-सेवन और आखेट ये चार यथाक्रम बड़े ही दुःखदायी होते हैं।

दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा ॥५१॥

दण्ड देना, क्रूर वचन कहना और धन का अपहरण करना, ये तीन व्यसन क्रोधोत्पन्न व्यसनों में विशेष कष्टप्रद हैं।

सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषङ्गिणः।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्व्यसनमात्मवान् ॥५२॥

मद्यपानादिक आनुषंगिक सात व्यसनों में (जो प्रायः सब राजकुलों में होते हैं) बुद्धिमान् राजा उपरोक्त व्यसनों में से पूर्व-पूर्व व्यसन को कष्टतर जाने (जैसे अर्थ के अपहरण से कठोर भाषण, कठोर भाषण से दण्ड प्रहार, दण्ड प्रहार से आखेट, आखेट से स्त्री-सेवा और स्त्री सेवा से भी विशेष कष्टतर मद्यपान है)।

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥५३॥

मृत्यु और व्यसन में व्यसन को ही कष्ट कहा है। क्योंकि व्यसनी मरने पर नरक में गिरता है और अव्यसनी मरने पर स्वर्ग को जाता है।

मौलाञ्छास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान्कुलोद्भवान्।
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥५४॥

जो अपने यहाँ वंशपरम्परा से सेवा करते आ रहे हों, शास्त्रज्ञ हों, शूर हों, युद्धविद्या में कुशल हों, जिनका कुल शुद्ध हो, ऐसा परखे हुए सात या आठ मंत्रियों का राजा नियुक्त करे।

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
विशेषतोऽसहायेन किं तु राज्यं महोदयम् ॥५५॥

जो कर्म सहज में होने वाला है, वह भी एक से होना कठिन होता है।

तो बड़े-बड़े उत्तरदायी राजकार्य को सहायकों के बिना अकेले राजा कैसे सम्पादन कर सकता है ?

तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम् ।
स्थानं समुचयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥५६॥

राजा उन मंत्रियों के साथ नित्य सामान्य सन्धि, विग्रह स्थान (दण्ड, कोश, पुर, राष्ट्रविषयक), समुदय (अर्थात् धान्य और सुवर्ण आदि के उत्पत्ति-स्थान), रक्षा और प्राप्त वस्तुओं को सत्पात्रों में अर्पण करने का विचार करे।

तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक् ।
समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः ॥५७॥

उन मंत्रियों में सबका अलग-अलग अभिप्राय एकान्त स्थान में जानकर फिर एक साथ सबका अभिप्राय जाने, इसके बाद जिसमें अपनी भलाई देखे वह कार्य करे।

सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता ।
मन्त्रयेत्परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम् ॥५८॥

मन्त्रियों में जो ब्राह्मण विशेष विद्वान् और विशिष्ट हो। राजा उसके साथ सन्धि विग्रह आदि छः गुणों से युक्त परम मन्त्रणा करे।

नित्यं तस्मिन्समाश्वस्तः सर्वकार्याणि निःक्षिपेत् ।
तेन सार्धं विनिश्चित्य ततः कर्म समारभेत् ॥५९॥

राजा उस ब्राह्मण सचिव में सदा विश्वास करते हुए सब कामों का भार उस पर छोड़कर उसके साथ निश्चय कार्यारम्भ करे।

अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान् ।
सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान्सुपरीक्षितान् ॥६०॥

अन्य भी पवित्र सच्चे स्वभाव वाले, बुद्धिमान् व्यवस्थित चित्त वाले और न्यायपूर्वक धनोपार्जन करने वाले, सुपरीक्षित मन्त्रियों को नियुक्त करे।

निर्वर्ततास्य यावद्भिरितिकर्तव्यता नृभिः ।
तावतोऽतन्द्रितान्दक्षान्प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥६१॥

राजा को अपने कार्यों के सम्पादन करने के लिये जितने मनुष्यों की आवश्यकता हो, उतने आलस्य रहित, कार्यदक्ष, प्रवीण व्यक्तियों को रखे।

तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान्दक्षान्कुलोद्गतान् ।
शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने ॥६२॥

उनमें जो शूर, दक्ष और पवित्र व्यवहार के हों उन्हें सोने-चाँदी की खान और अन्नादि संचय स्थान में नियुक्त करे और जो भीरुस्वभाव के हों उन्हें राजभवन के किसी हलके काम पर नियुक्त करे।

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥ ६३ ॥

जो सब शास्त्रों में कुशल, इङ्गित (इशारा), आकार (मुखनेत्र के भाव) और चेष्टा से मन का भाव समझने वाला, पवित्र चरित्र, चतुर और कुलीन हो, उसे राजदूत बनावे।

अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान्देशकालवित् ।
वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥ ६४ ॥

लोगों पर प्रेम करने वाला, सच्चरित्र, चतुर, मेधावी, देशकाल को जानने वाला, स्वरूपवान्, निर्भीक और वक्ता ऐसा राजदूत राजा से प्रशंसनीय होता है।

अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया ।
नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते सन्धिविपर्ययौ ॥ ६५ ॥

सेनापति की अधीनता में दण्ड होता है। विनयरूप क्रिया दण्ड के अधीन होती है। कोश और राष्ट्र राजा के अधीन होते हैं। तथा सन्धि और विग्रह दूत के अधीन होते हैं।

दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान् ।
दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः ॥ ६६ ॥

दूत ही बिगड़े हुओं को मिलाता है और मिले हुओं को फोड़ता है, दूत ऐसा काम करता है जिससे (शत्रु पक्ष का) जन-बल छिन्न-भिन्न हो जाय।

स विद्यादस्य कृत्येषु निगूढेङ्गितचेष्टितैः ।
आकारमिङ्गितं चेष्टां भृत्येषु च चिकीर्षितम् ॥ ६७ ॥

दूत प्रतिपक्षी राजा के कार्यों में नियुक्त सेवकों के इंगित और चेष्टा से उनके प्रति आकार इंगित और चेष्टा जाने, और सेवकों के प्रति उस राजा का कैसा भाव है, यह भी जान ले।

बुद्ध्वा च सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम् ।
तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथाऽऽत्मानं न पीडयेत् ॥ ६८ ॥

प्रतिपक्षी राजा के मन के भाव को भली-भाँति जानकर ऐसा यत्न करे जिसमें अपने ऊपर कोई संकट न आये।

जाङ्गलं सस्यसम्पन्नमार्यप्रायमनाविलम् ।
रम्यमानतसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत् ॥६९॥

जो देश प्रचुर धान्यादिक से सम्पन्न हों, जहाँ धार्मिक लोग बसते हों, निरोगादि से निरुपद्रव और रमणीय स्थान, जहाँ आस-पास के रहने वाले लोग विनीत हों, जहाँ सुलभ जीविका हो ऐसे देश में राजा को निवास करना चाहिए।

धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा ।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥७०॥

धनुदुर्ग (मरुवेष्टित), महीदुर्ग (पाषाणखण्ड वेष्टित), जलदुर्ग, वृक्षदुर्ग, नृदुर्ग या गिरिदुर्ग का आश्रय लेकर नगर का वास करे।

सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत् ।
एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते ॥७१॥

पूर्वोक्त छः प्रकार के किलों में से प्रयत्न करके गिरिदुर्ग का ही आश्रय करे, इन सभी दुर्गों में अधिक गुणों से युक्त होने के कारण गिरिदुर्ग का ही विशेषता है।

त्रीण्याद्यान्याश्रितास्त्वेषां मृगगर्ताश्रयाऽप्सराः ।
त्रीण्युत्तराणि क्रमशः प्लवङ्गमनरामराः ॥७२॥

इन दुर्गों में से प्रथम तीन दुर्गों में (यथाक्रम) मृग आदि चूहे आदि और मगर और जलचार आश्रय लेते हैं। तथा शेष तीन किलों में वृक्षदुर्ग के आश्रित बानर, मनुष्य और पशु-पक्षी गण तथा गिरिदुर्ग के आश्रित देवता होते हैं।

यथा दुर्गाश्रितानेतान्नोपहिंसन्ति शत्रवः ।
तथाऽरयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम् ॥७३॥

जैसे किले के आश्रित इन मृगादि जीवों को इनके शत्रु नहीं मार सकते, वैसे ही दुर्ग के आश्रित राजा को भी शत्रु नहीं मार सकते।

एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
शतं दशसहस्राणि तस्माद् दुर्गं विधीयते ॥७४॥

किले में रहने वाला एक धनुर्धारी बाहर वाले सौ योद्धाओं का सामना कर सकता है और किले की एक सौ सेना दस सहस्र सेना के साथ युद्ध कर सकती है, इसलिए दुर्ग अवश्य बनाना चाहिये।

तत्स्यादायुधसम्पन्नं धनधान्येन वाहनैः ।
ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ॥७५॥

वह किला अस्त्र-शस्त्र, धन, धान्य, वाहन, ब्राह्मण, शिल्पी, यन्त्र, तृण और जल से परिपूर्ण रहना चाहिये।

तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद् गृहमात्मनः।
गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम् ॥७६॥

ऐसे दुर्ग के बीच में पर्याप्त खाई और सब प्रकार ऋतुओं के फल-फूल और निर्मल जल से भरे हुए कुओं और बावलियों से युक्त अपना राजभवन बनवावे।

तदध्यास्योद्वहेद्भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्।
कुले महति सम्भूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम् ॥७७॥

उस राजभवन में रहकर अपनी जाति के उच्चकुल में उत्पन्न शुभ लक्षण और रूप गुणों से युक्त कन्या के साथ ब्याह करे।

पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजः।
तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च ॥७८॥

पुरोहित को नियुक्त करके और ऋत्वजों को कर्म करने के लिये वरण करे, वे गृह्यसूत्र के अनुसार राजा के शान्ति-कर्मादि करें।

यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः।
धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद्भोगान्धनानि च ॥७९॥

राजा धर्म के निमित्त बहुदक्षिणायुक्त विविध प्रकार के यज्ञ करे और ब्राह्मणों को भोग्य पदार्थ और धन दे।

सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद् बलिम्।
स्याच्चाम्नायपरो लोके वर्तेत हितवन्नृषु ॥८०॥

राजा शास्त्र के अनुसार राज्य-कर्मचारियों द्वारा प्रजाओं से वार्षिक कर वसूल करावे और उनके साथ पिता के समान व्यवहार करे।

अध्यक्षान्विविधान्कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः।
तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्नृणां कार्याणि कुर्वताम् ॥८१॥

भिन्न-भिन्न कार्यों की देखभाल के लिये भिन्न-भिन्न कार्यकुशल व्यक्तियों को अध्यक्ष नियुक्त करे। ये अध्यक्ष उन सब कामों में नियुक्त राजकर्मचारियों के काम की देखभाल करें।

आवृतानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत्।
नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते ॥८२॥

राजा को गुरुकुल से लौटकर आये हुए ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिये क्योंकि राजाओं की यह ब्रह्मनिष्ठ निधि अक्षय कही गयी है।

न तं स्तेना न चामित्रा हरन्ति न च नश्यति ।
तस्माद्राज्ञा निधातव्यो ब्राह्मणेष्वक्षयो निधिः ॥८३॥

उस निधि को चोर नहीं चुरा सकते, शत्रु नहीं हरण कर सकते हैं और न वह कभी नष्ट हो सकती है। इसलिये राजा को ब्राह्मणों में यह अक्षय निधि स्थापन करनी चाहिये।

न स्कन्दते न व्यथते न विनश्यति कर्हिचित् ।
वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम् ॥८४॥

अग्नि में किये गये हवन की अपेक्षा ब्राह्मणों के मुँह में किया गया होम श्रेष्ठ है। क्योंकि यह हवि इधर-उधर नहीं गिरती न सूखती है और न कभी नष्ट होती है।

सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे ।
प्राधीते शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे ॥८५॥

ब्राह्मणेतर को दान देने के फल से दूना फल अपने को सिर्फ ब्राह्मण कहने वाले ब्राह्मण को देने से होता है। विद्वान् ब्राह्मण को दान देने से दान का लाख गुना और वेदपारंगत ब्राह्मण को दिये दान का फल अनन्त गुना होता है।

पात्रस्य हि विशेषेण श्रद्दधानतयैव च ।
अल्पं वा बहु वा प्रेत्य दानस्य फलमश्नुते ॥८६॥

पात्र की विशेषता और श्रद्धा के तारतम्य से दान का फल परलोक में थोड़ा या बहुत मिलता है।

समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन्प्रजाः ।
न निवर्तेत संग्रामात्क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥८७॥

प्रजा का पालन करता हुआ क्षात्रधर्म के अनुसार सम बल, अधिक बल या कम ही बल वाले राजा से युद्धार्थ बुलाये जाने पर युद्ध से मुँह न मोड़े।

संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम् ।
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥८८॥

युद्ध में पीठ न दिखाना, प्रजाओं का पालन और ब्राह्मणों की सेवा ये राजाओं के लिये परम कल्याणकारक हैं।

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः ।
युध्यमानः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥८९॥

युद्ध में परस्पर एक दूसरे को मारने की इच्छा करने वाले और सम्पूर्ण शक्ति लगाकर लड़ने वाले राजा युद्ध में पीठ न दिखाकर सीधे स्वर्ग को जाते हैं।

न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून् ।
न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः ॥९०॥

युद्ध में लड़ते हुये शत्रुओं को कूट शस्त्रों से, कर्णिका के आकार सदृश फलक वाले, विष से बुझे हुए और अग्निदीप्त बाणों से न मारे।

न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् ।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥९१॥

(आप तो सवारी पर हो और शत्रु) पृथ्वी पर खड़ा हो, तो उसे न मारे। जो नपुंसक हो, या जो हाथ जोड़े सामने खड़ा हो, जिसके बाल खुले हों, या जो नीचे बैठा हो, या जो "मैं तुम्हारा हूँ" ऐसा कह रहा हो, ऐसे शत्रु को न मारे।

न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् ।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥९२॥

सोये हुए, युद्धोपयोगी जिरह बख्तरादि न धारण किये हुए, नंगे, निःशस्त्र, जो लड़ना न चाहता हो, जो दर्शक हो, या दूसरे के साथ लड़ रहा हो, उसे न मारे।

नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम् ।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥९३॥

जिसका आयुध टूट गया हो, जो शोकाकुल हो, जो अत्यन्त घायल हो, जो भयभीत हो, जो युद्ध से भागा हो, ऐसे शत्रु को शिष्ट क्षत्रियों का धर्म स्मरण कर न मारे।

यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः ।
भर्तुर्यद् दुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥९४॥

जो युद्ध में डर से भागता हुआ शत्रु से मारा जाता है वह अपने स्वामी के लिये इन सभी पापों का बोझ अपने सिर पर लेता है।

यच्चास्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थमुपार्जितम् ।
भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥९५॥

युद्ध में भागने वाले के परलोक के लिये संचित सभी पुण्य उसके स्वामी को प्राप्त होता है।

रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशूंस्त्रियः ।
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत् ॥९६॥

रथ, घोड़े, हाथी, छत्र, धन, धान्य, पशु, दासी, गुड़, नमक आदि द्रव्य और ताँबा, पीतल आदि के बर्तन, इनमें जिस वस्तु को जो जीतकर लाता है वह उसी की होती है।

राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः ।
राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम् ॥९७॥

युद्ध में जीते हुए हाथी, घोड़े, रथ आदि सब कुछ राजा को अर्पित कर दे। यह वेद का वचन है, सभी सैनिकों द्वारा एक साथ जीता हुआ जो धन हो उसे राजा सैनिकों में बाँट दे।

एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो योधधर्मः सनातनः ।
अस्माद्धर्मान्न च्यवेत क्षत्रियो घ्नन् रणे रिपून् ॥९८॥

यह अनिन्दित सनातन योद्धाओं का धर्म कहा। युद्ध में शत्रुओं को मारने वाला क्षत्रिय इस धर्म से च्युत न हो।

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः ।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥९९॥

जो पदार्थ (भूमि, रत्न आदि) प्राप्त न हो उसे पाने की इच्छा करे, जो सम्पत्ति जीतकर लाया हो उसकी यत्न पूर्वक रक्षा करे, रक्षित धन को बढ़ाने की चेष्टा करे और बढ़ा हुआ धन सुपात्रों में बाँट दे।

एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थप्रयोजनम् ।
अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः ॥१००॥

पूर्वोक्त चार बातों को पुरुषार्थ का साधन समझे और निरालस्य होकर सदा सावधानी से उनका अनुष्ठान करे।

अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया ।
रक्षितं वर्धयेद् वृद्ध्या वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥१०१॥

अप्राप्त पदार्थ को दण्ड (चतुरङ्गिणी सेना) बल से पाने की इच्छा करे, जो सम्पत्ति जीतकर लाया हो उसकी देख-रेख से रक्षा करे, रक्षित धन को वाणिज्य-व्यवसाय द्वारा बढ़ावे, और बढ़े हुए धन को शास्त्रीय विभाग के अनुसार पात्रों में दान कर दे।

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः ।
नित्यं संवृत - संवार्यो नित्यं छिद्रानुसार्यरिः ॥१०२॥

सर्वदा सेना को तैयार रखे, नित्य अपने पुरुषार्थ को दिखलावे अपना मंत्र सदा गुप्त रखे और शत्रु के छिद्रों का नित्य पता लगाता रहे।

नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत् ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥१०३॥

हमेशा सेना को तैयार रखने वाले राजा से सारा संसार डरता है। इसलिये सभी प्राणियों को दण्ड बल से ही अपने अधीन करे।

अमाययैव वर्तेत न कथञ्चन मायया ।
बुद्ध्येतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं स्वसंवृतः ॥१०४॥

मंत्रियों के साथ कभी कपट से व्यवहार न करे, अपनी रक्षा का पूरा प्रबन्ध करता हुआ शत्रु की माया को (चरों के द्वारा) जानता रहे।

नास्य छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु ।
गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥१०५॥

शत्रु उसके छिद्र को न जाने, किंतु वह शत्रु के छिद्र को जान ले। कछुआ जैसे अपने अंङ्गों को छिपाता है, वैसे राजा भी अपने अमात्यादि अङ्गों को (दान-सम्मान से) अपने हाथ में रखते हुए अपने छिद्र को न प्रकट होने दे।

बकवच्चिन्ततेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत् ।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥१०६॥

बगुले की तरह धन लेने की चिंता करे, सिंह के समान पराक्रम करे, भेड़िये की भाँति अवसर पाकर शत्रु को मार डाले और (बलवान् शत्रु से घिर जाने पर) खरहे की तरह निकल भागे।

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः ।
तानानयेद्वशं सर्वान्सामादिभिरुपक्रमैः ॥१०७॥

इस प्रकार विजयी राजा सामादि उपायों से अपने सभी शत्रुओं को वश में ले आवे।

यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः ।
दण्डेनैव प्रसह्यैतांश्छनकैर्वशमानयेत् ॥१०८॥

यदि ये वे पहले (साम, दाम, भेद) तीनों उपायों से वश में न आवे तो उनके राज्य पर चढ़ाई कर थोड़ा या बहुत दण्ड सैन्य द्वारा देकर उन्हें वश में ले आवे।

सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पण्डिताः ।
सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये ॥१०९॥

पण्डित लोग सामादिक चार उपायों में-से राष्ट्र-वृद्धि के लिये साम और दण्ड की ही सदा प्रशंसा करते हैं।

यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति।
तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ॥११०॥

जैसे खेतिहर तृण को उखाड़कर फेंक देता है और धान्य की रक्षा करता है, वैसे राजा शत्रुओं का नाश करे और राष्ट्र की रक्षा करे।

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया।
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ॥१११॥

जो राजा अज्ञान से अपनी प्रजा को सताता है, वह शीघ्र ही अपने बान्धवों सहित राज्य और जीवन से हाथ धो बैठता है।

शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा।
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात् ॥११२॥

जैसे शरीर के क्षीण होने से प्राणियों के प्राण नष्ट होते हैं, वैसे राजाओं के प्राण प्रजापीड़न से नष्ट होते हैं।

राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत्।
सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते ॥११३॥

राष्ट्र रक्षा के लिये राजा सदा यह उपाय करे। भलीभाँति अपने राष्ट्र की रक्षा करने वाला राजा सुख भोगता है।

द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम्।
तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ॥११४॥

दो या तीन या पाँच या सौ गाँवों के बीच में राज्य की रक्षा के लिये रक्षक-समूह को नियुक्त करे।

ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा।
विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च ॥११५॥

प्रत्येक गाँव में एक-एक ग्राम का अधिकारी नियुक्त करे। फिर दस, बीस, सौ और सहस्र गाँवों का एक-एक अधिकारी पृथक् नियुक्त करे।

ग्रामदोषान्समुत्पन्नान्ग्रामिकः शनकैः स्वयम्।
शंसेद् ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिने ॥११६॥
विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत्।
शंसेद् ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम् ॥११७॥

उत्पन्न हुए ग्राम के दोष को यदि ग्रामाधिपति उसके निवारण में असमर्थ हो तो उसके शमन के लिए ग्रामाधिपति देशग्रामाधिपति से कहे। (यदि यह

उसका उपाय न करें तो) वह विंशति ग्रामाधिपति से कहे, उसी प्रकार उत्तरोत्तर विंशतिपति शतपति से और शतपति सहस्रपति से निवेदन करे।

यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः ।
अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात् ॥११८॥

ग्रामवासियों से प्रतिदिन जो कुछ अन्न, पान, ईंधन आदि राजा को देने के लिए दिया जाय वह ग्रामाधिपति अपनी वृत्ति के लिये ले।

दशी कुलं तु भुञ्जीत विंशी पञ्च कुलानि च ।
ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः सहस्राधिपतिः पुरम् ॥११९॥

दशग्रामाधिपति एक कुल को [1]बीस गाँवों का अधिपति पाँच कुला को, सौ गाँवों का अधिपति एक गाँव को और सहस्राधिपति एक साधारण नगर को राजाज्ञा से अपने निर्वाह के लिये ले।

तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि ।
राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः ॥१२०॥

उन ग्रामों के निवासियों के परस्पर किये हुए कार्यों को और अलग किये हुए कार्यों को राजा के हित साधन में नियुक्त मन्त्री को आलस्य रहित होकर देखना चाहिये।

नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम् ।
उच्चैःस्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥१२१॥

प्रत्येक नगरों में सभी प्रकार के कार्यों को देखने वाले भयानक तेजस्वी अधिकारी नियुक्त करे, जैसे नक्षत्रों में शुक्र आदि ग्रह।

स ताननुपरिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयम् ।
तेषां वृत्तं परिणयेत्सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः ॥१२२॥

वह अधिकारी उन सब ग्रामाधिकारियों की सदा स्वयं देखभाल करे और (राजा) अपने गुप्तचरों (जासूसों) द्वारा सभी पदाधिकारियों के और प्रजाओं के आचार-व्यवहार को अच्छी तरह जाने।

P **राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः ।**
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥१२३॥

---

१. छः बैलों का एक मध्यम हल होता है। ऐसे दो हलों से जितनी भूमि जोती जाय उसे कुल कहते हैं।

अष्टागवं धर्महलं षड्गवं जीवितार्थिनाम् ।
चतुर्गवं गृहस्थानां त्रिगवं ब्रह्मघातिनाम् ॥

क्योंकि प्राय: राजा के वे रक्षाधिकार अधिकतर दूसरे के धन को हरण करने वाले और वञ्चक होते हैं, इसलिये (राजा) उन लोगों से प्रजाओं की रक्षा करे।

ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः ।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम् ॥१२४॥

जो पापात्मा कर्मचारी कर्मचारियों से घूस लें, राजा उनका सर्वस्व हरण करे, उन्हें अपने देश से निकाल दे।

राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च ।
प्रत्यहं कल्पयेद् वृत्तिं स्थानं कर्मानुरूपतः ॥१२५॥

राजा कार्यों में नियुक्त दास-दासियों को उनके कर्म के अनुसार प्रतिदिन वृत्ति और पद निश्चित करे।

पणो देयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम् ।
षाण्मासिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः ॥१२६॥

नीच कर्म करने वाले को एक पण और अच्छे काम करने वाले को प्रतिदिन छ: पण प्रत्येक मास एक द्रोण[१] अन्न तथा छः महीने पर दो वस्त्र देना चाहिये।

क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् ।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान् ॥१२७॥

व्यापारी के माल की खरीद व बिक्री तथा पूरा खाने-पीने का खर्च माल के हिफाजत में जो खर्च हुआ इन सब बातों का विचार कर राजा उनसे कर लेवे।

यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम् ।
तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रं कल्पयेत्सततं करान् ॥१२८॥

जिससे राजा और व्यापार कृषि आदि करने वाले व्यवसासियों को लाभ हो, इसका विचार कर राजा सदा कर की कल्पना करे।

यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः ।
तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः ॥१२९॥

जिस प्रकार जोंक, बछड़ा और भ्रमर थोड़ा-थोड़ा अपना भक्ष्य खाते हैं उसी प्रकार राजा को प्रजाओं से थोड़ा-थोड़ा ही वार्षिक कर लेना चाहिये।

---

१. अष्टमुष्ठिर्भवेत् किंचित् किंचिदष्टा च पुष्कलम् । पुष्कलानि तु चत्वारि आढकः परिकीर्तितः। चतुराढको भवेद् द्रोण .... इति ॥
आठ मुट्ठी का एक किंचित्, आठ किंचित् का एक पुष्कल, चार पुष्कल का एक आढ़क और चार आढ़क का एक द्रोण होता है।

पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः ।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा ॥१३०॥

राजा को व्यापारियों से पशु और सोने के लाभ का पचासवाँ भाग और कृषकों से अन्न का छठा, आठवाँ या बारहवाँ भाग लेना चाहिये।

आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम् ।
गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च ॥१३१॥
पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वै दलस्य च ।
मृन्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च ॥१३२॥

पेड़, मांस, मधु, घी, गन्ध, औषधि, रस, फूल, फल, कन्दमूल, पत्ते, साग, तृण, चमड़ा, बाँस के बर्तन, मिट्टी और पत्थर के बर्तन, इन सबके लाभ का छठा भाग लेना चाहिये।

म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम् ।
न च क्षुधाऽस्य संसीदेच्छ्रोत्रियो विषये वसन् ॥१३३॥

राजा दरिद्र हो जाने पर भी श्रोत्रिय ब्राह्मण से कर न ले, और उसके राज्य में रहने वाला वेदाध्यायी ब्राह्मण भूख से पीड़ित न होने पावे।

यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा ।
तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति ॥१३४॥

जिस राजा के राज्य में वैदिक ब्राह्मण भूख से दुःख पाता है, उस राजा का राज्य भी उसकी क्षुधा से शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

श्रुतवृत्ते विदित्वाऽस्य वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् ।
संरक्षेत्सर्वतश्चैनं पिता पुत्रमिवौरसम् ॥१३५॥

राजा उसके वृत्तान्त को सुनकर उसके कालभेद के लिये धर्मरूप वृत्ति नियत कर दे और जिस प्रकार पिता अपने औरस पुत्र की रक्षा करता है, उसी प्रकार सर्वतोभावेन उसकी रक्षा करे।

संरक्ष्यमाणो राज्ञा यं कुरुते धर्ममन्वहम् ।
तेनायुर्वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च ॥१३६॥

राजा से सुरक्षित वह ब्राह्मण प्रतिदिन जो कुछ धर्मानुष्ठान करता है उससे राजा की आयु, धन और राज्य की बृद्धि होती है।

यत्किञ्चिदपि वर्षस्य दापयेत्करसंज्ञितम् ।
व्यवहारेण जीवन्तं राजा राष्ट्रे पृथग्जनम् ॥१३७॥

राजा अपने राज्य में छोटे व्यापार से जीने वाले व्यापारियों से भी कुछ न कुछ वार्षिक कर लिया करे।

कारुकाञ्छिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः ।
एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः ॥१३८॥

कारीगरी का काम करके जीने वाले, लोहार, बेलदार, और बोझा ढोने वाले आदि मजदूरों से कर स्वरूप महीने में एक दिन काम करा ले।

नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया ।
उच्छिन्दन्ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत् ॥१३९॥

(कर न लेकर) अपने मूल का उच्छेद न करे और अधिक लोभवश प्रजा का भी मूलोच्छेद न करे क्योंकि अपने और उनके मूलोच्छेद से अपने और प्रजा को पीड़ा होती है।

तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात्कार्यं वीक्ष्य महीपतिः ।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति सम्मतः ॥१४०॥

कार्य को देखकर कोमल और कठोर होना चाहिये, क्योंकि समयानुसार राजा का कोमल या कठोर होना सभी को अच्छा लगता है।

अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्गतम् ।
स्थापयेदासने तस्मिन्खिन्नः कार्येक्षणे नृणाम् ॥१४१॥

यदि प्रजाओं का कार्य देखने में मन न लगता हो तो राजा अपने स्थान पर धर्मज्ञ, प्रवीण, जितेन्द्रिय, सत्यशील, कुलीन और श्रेष्ठ मंत्री को नियुक्त करें।

एवं सर्वं विधायेदमितिकर्तव्यमात्मनः ।
युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः ॥१४२॥

इस प्रकार अपने सभी कार्यों की व्यवस्था करके दक्षता और सावधानी के साथ अपनी प्रजा की रक्षा करे।

विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद् ध्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः ।
सम्पश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति ॥१४३॥

जिस राज्य में राजा और मंत्रियों के सामने राज्य की प्रजा रक्षा के लिये चिल्लाती हुई भी डाकुओं से लुट जाती है वह राजा जीता हुआ भी मरे हुए के समान है।

क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम् ।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥१४४॥

क्षत्रिय का परम धर्म प्रजाओं का पालन करना ही है, क्योंकि प्रजाओं से निर्दिष्ट फल भोगने के कारण राजा उस धर्म से संबद्ध होता है।

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः ।
हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्य प्रविशेत्स शुभां सभाम् ॥१४५॥

रात के पिछले पहर उठकर, शौचादि क्रिया से निवृत्त हो, संयत चित्त से अग्नि में हवन और ब्राह्मणों का पूजन कर, राजा अपनी सुन्दर राजसभा में प्रवेश करे।

तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत् ।
विसृज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत्सह मन्त्रिभिः ॥१४६॥

सभा में उपस्थित प्रजाओं को संभाषणादि से प्रसन्न कर विदा कर दे। प्रजाओं के चले जाने पर मंत्रियों के साथ मंत्रणा करे।

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ।
अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः ॥१४७॥

पहाड़ पर या निर्जन राजमहल के एकान्त स्थान में अथवा वन में सतर्क होकर मंत्रणा करे।

यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः ।
स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः ॥१४८॥

जिस राजा के विचार को और अन्य लोग एक होकर भी नहीं जानते, वह राजा दरिद्र होने पर भी सारी पृथिवी को भोगता है।

जडमूकान्धबधिरांस्तैर्यग्योनान्वयोतिगान् ।
स्त्रीम्लेच्छव्याधितव्यङ्गान्मन्त्रकालेऽपसारयेत् ॥१४९॥

बुद्धिहीन, गूंगा, अन्धा, बहरा, शुक-सारिकादिक पक्षी, बूढ़ा, स्त्री, म्लेच्छ, रोगी, और अङ्गहीन, इन सबको मंत्रणा करते समय हटा देना चाहिये।

भिन्दन्त्यवमता मन्त्रं तैर्यग्योनास्तथैव च ।
स्त्रियश्चैव विशेषेण तस्मात्तत्रादृतो भवेत् ॥१५०॥

ये लोग अपमानित होने पर गुप्त मन्त्रणा प्रकट कर देते हैं। वैसे ही शुकसारिकादि पक्षी और विशेषकर स्त्रियाँ गुप्त मन्त्र प्रकट कर देती हैं, इसलिये राजा इन सबको मन्त्रणा स्थान से दूर रखे।

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्लमः ।
चिन्तयेद्धर्मकामार्थान्सार्थं तैरेक एव वा ॥१५१॥

मध्य दिन में या आधी रात को, अथवा जब चित्त शांत हो और शरीर क्लेश रहित हो, तब राजा मंत्रियों के साथ या अकेला ही धर्म, अर्थ और काम का चिन्तन करे।

परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम् ।
कन्यानां संप्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ॥१५२॥

परस्पर विरुद्ध रहने वाले धर्मों का (परिहार पूर्वक) उपार्जन करे। कन्याओं का दान और कुमारों की रक्षा करने की उपाय सोचे।

दूतसंप्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च ।
अन्तःपुरप्रचारं च प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥१५३॥

दूसरे राज्यों में दूत भेजना और प्रत्येक कार्य के समाप्त करने के विषय में विचार करे। मुहल्ला में रहने वाली स्त्रियों के कार्यों पर निगाह रखे और दूसरे राज्य में भेजे हुए गुप्त दूतों का भेद लगाने के लिये दूसरे दूतों को नियुक्त करे।

कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पञ्चवर्गं च तत्त्वतः ।
अनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च ॥१५४॥

आठ[1] प्रकार के कर्म, पञ्चवर्ग[2] अनुराग, विरोध और राजाओं का रङ्ग-ढङ्ग यह सब अच्छी तरह सोचे (अर्थात् किस राजा से सन्धि, किससे विग्रह, उनका प्रतीकार कैसे करना चाहिये, इन बातों का विचार करे)।

---

१. आदाने च विसर्गे च तथा प्रेषनिषेधयोः। पंचमे चार्थ वचने व्यवहारस्य चेक्षणे।। दण्डशुद्ध्योः सदायुक्तस्तेनाष्टगतिको नृपः।। १. प्रजाओं से कर आदि लेना, २. भृत्य और याचकों को यथायोग्य धन देना, ३. मन्त्रियों को किसी काम से भेजना, ४. अनावश्यक कार्यों को रोकना, ५. कार्य में संदेह होने पर राजा की आज्ञा को ही सर्वश्रेष्ठ मानना, ६. व्यवहारिक कामों को देखना, ७. पराजितों से उचित धन लेना, ८. किसी पाप के लिए प्रायश्चित्त करना ये आठ प्रकार के कर्म हैं।

२. पंचवर्ग–अर्थात् पाँच प्रकार के चर यथाः—
१. कापटिक, २. उदास्थित, ३. गृहस्थ, ४. वाणिजक, ५. तापस ।
कापटिक-जो कपटी हो, दूसरे के मर्म को जानने वाला और अपने वेश को छिपाने में चतुर हो, राजा ऐसे चतुर के साथ एकान्त में बात करे।
उदास्थित-भ्रष्ट संन्यासी के रूप हो उसे वैरी तथा प्रजा का सच्चा भेद देने के लिए नियुक्त करके राजा एकान्त में उससे सभी भेदों को जाने।
गृहस्थ-जो साधारण स्थिति का होने पर भी चतुर पवित्रात्मा हो राजा उसकी वृत्ति निश्चित कर अपना गुप्तचर नियुक्त करे।

मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम्।
उदासीनप्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः ॥१५५॥

मध्यम[1] का प्रचार विजिगीषू[2] की चेष्टा और उदासीन[3] तथा शत्रु का प्रयत्न इन सब बातों को बड़े यत्न से सोचे।

एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः।
अष्टौ चान्याः समाख्याता द्वादशैव तु ताः स्मृताः ॥१५६॥

ये मध्यम आदि संक्षेप से प्रकृतियाँ राजमण्डल की मूल हैं, इनके अतिरिक्त आठ[4] और प्रकृतियाँ हैं। इस प्रकार मिलकर दोनों १२ प्रकृतियाँ शास्त्र में कही गयी हैं।

अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्याः पञ्च चापराः।
प्रत्येकं कथिता ह्येताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः ॥१५७॥

प्रत्येक भेदों के मंत्री, देश, कोश और सैन्य, ये पाँच प्रभेद और होते हैं संक्षेप से सब मिलकर ७२ कहे गये हैं।

अनन्तरमरिं विद्यादरिसेविनमेव च।
अरेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयोः परम् ॥१५८॥

राजा को अपने राज्य की सीमाओं से सम्बद्धित राज्यों के राजाओं और उनके सेवकों को शत्रु-प्रकृति जानना चाहिए। इनसे मिले राजाओं के जो

वाणिजक-जिस बनिये को पूंजी न हो, किन्तु व्यापार करने में चतुर हो, उसे धन देकर व्यापार के बहाने अपने देश में या अपने देश के बाहर भेजकर उसके द्वारा गुप्त भेद लेना चाहिये।

तापस-जो संन्यासी नितिज्ञ हो और जीविका से हीन हो उसे वृत्ति देकर उसे अपना गुप्त दूत नियुक्त करे और वह अपने कपटी शिष्यों के साथ त्रिकालज्ञ बना हुआ राजा के प्रति लोगों के मनोभाव जानकर एकान्त में राजा से कहे।

१. जो शत्रु की विजय की इच्छा करने वाले राजा की भूमि से तटस्थ हो और उन दोनों के मिल जाने पर अनुग्रह करने में और उन दोनों में विभिन्नता होने से दण्ड देने में समर्थ हो वह मध्यम है।
२. बुद्धि, उत्साह गुण और स्वभाव में जो दृढ़ हो उसे विजिगीषू कहते हैं।
३. जो विजिगीषू और मध्यम के मिले रहने पर अनुग्रह करने में और उनके न मिले रहने पर निग्रह करने में समर्थ हो वह उदासीन है।
४. १. मित्र, २. अरिमित्र, ३. मित्रमित्र, ४. अरिमित्रमित्र, ५. पार्ष्णिग्राह, ६. आक्रन्द, ७. पार्ष्णिग्राहासार, ८. आक्रन्दासार, ये आठ प्रकृतियाँ हैं।

राज्य हों उन्हें मित्र प्रकृति जानना चाहिये और इन दोनों के पर जो राजा हो उन्हें उदासीन प्रकृति जानना चाहिये।

तान्सर्वानभिसंदध्यात्सामादिभिरुपक्रमैः ।
व्यस्तैश्चैव समस्तैश्च पौरुषेण नयेन च ॥१५९॥

उन सभी राजाओं को साम, दाम, दण्ड और विभेद आदि उपायों से वश में करे अथवा केवल दण्ड से या केवल साम से उन्हें अपने वश में करे।

संधिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च ।
द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत्सदा ॥१६०॥

सन्धि (मेल), विग्रह (विरोध), यान (शत्रु के देश पर चढ़ाई करना), आसन (उपेक्षण), द्वैधीभाव (बल का दो भागों में बाँटना) और संश्रय (शत्रु से सताये जाने पर प्रबल राजा का आश्रय लेना), इन छः गुणों को सदा सोचना चाहिये।

आसनं चैव यानं च संधिं विग्रहमेव च ।
कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥१६१॥

कर्तव्य के अनुसार ही आसन, आक्रमण, सन्धि, विग्रह, विभेद, और संश्रय का प्रयोग करे।

संधिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च ।
उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥१६२॥

संधि, विग्रह, यान, आसन, विभेद और संश्रय ये दो प्रकार के होते हैं।

समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च ।
तदा त्वायतिसंयुक्तः संधिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः ॥१६३॥

वर्तमान अथवा भविष्य में होने वाले लाभ की आशा से दूसरे राजा के साथ मिलकर जो आक्रमण किया जाता है वह समान-यानकर्मा और दोनों आपस में मिलकर अलग-अलग होकर जो आक्रमण करते हैं वह असमानयान-सन्धि है। यह दो प्रकार की सन्धियाँ हैं।

स्वयं कृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा ।
मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः ॥१६४॥

कार्य की सिद्धि के लिये यथोक्त समय पर या असमय में ही शत्रु के जीतने की इच्छा से जो युद्ध किया जाता है वह एक प्रकार का विग्रह है, अपने मित्र का किसी के द्वारा अपकार होने पर जो युद्ध किया जाता है। वह दूसरे प्रकार का विग्रह है, उसका बदला लेने के लिये विग्रह है।

एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया ।
संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते ॥१६५॥

यान भी दो प्रकार के होते हैं अत्यन्त आवश्यक कार्य में फँसे हुए शत्रु को देख उस पर अकेले आक्रमण करना अथवा स्वयं शक्य होने पर मित्र के साथ मिलकर चढ़ाई करना।

क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात्पूर्वकृतेन वा ।
मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥१६६॥

दुर्भाग्य से अथवा पूर्व जन्म के पाप से जिस राजा की सम्पत्ति नष्ट हो गई हो वह राजा शत्रु की उपेक्षा करे यह एक "आसन" है, और समृद्धशाली होते हुये भी मित्रों के अनुरोध से (मित्रों के लाभार्थ) शत्रु की उपेक्षा करे यह दूसरा "आसन" है। इस प्रकार दो प्रकार का आसन कहा गया है।

बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये ।
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः ॥१६७॥

कार्य और धन दोनों की सिद्धि के लिये सेनापति और राजा की स्थिति को द्विधा करना। इस द्वैध को (संधि आदि) छः गुणों के जानने वालों ने दो प्रकार का कहा है।

अर्थसंपादनार्थं च पीड्यमानस्य शत्रुभिः ।
साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥१६८॥

शत्रुओं से सताये जाने पर कार्य और अर्थ के सिद्धि के लिये किसी बलवान् राजा का आश्रय लेना अथवा किसी शत्रु से सताये जाने की आशङ्का से किसी बलवान् राजा का आश्रय घोषित कर देना-यह दो प्रकार का संश्रय कहा गया है।

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः ।
तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा संधिं समाश्रयेत् ॥१६९॥

यदि निश्चयरूप से संधि करने में ही अपनी वृद्धि समझे तो थोड़ा कष्ट और हानि सहकर भी सन्धि कर ले।

यदा प्रहृष्टा मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम् ।
अत्युच्छ्रितं तथाऽऽत्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम् ॥१७०॥

जब अपनी सारी प्रकृति (अर्थात् मन्त्री आदि अधिकारी वर्ग) पूरे तौर पर संतुष्ट हों और अपने शत्रु से बल में सब प्रकार से बढ़े हों तब विग्रह अर्थात् युद्ध करे।

यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम्।
परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति ॥१७१॥

जब अपने सेनापति इत्यादि को भलीभाँति हृष्ट-पुष्ट समझे और अपने शत्रु को इसके विपरीत जाने, तब उस पर आक्रमण करे।

यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च।
तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सांत्वयन्नरीन् ॥१७२॥

जब राजा अपने वाहन और सैन्य बल से क्षीण हो जाय तो साम-दानादि नीति से शत्रुओं को धीरे-धीरे शान्त करे।

मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम्।
तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मनः ॥१७३॥

जब राजा सब प्रकार से शत्रु को बलवान् जाने तब सेना को दो भागों में विभाजित कर एक भाग को किले में रखे और दूसरे भाग को शत्रु से लड़ने को भेजकर अपना कार्य-साधन करे।

यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत्।
तदा तु संश्रयेत्क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम् ॥१७४॥

राजा जब अपने को शत्रुसेना के हाथ में जाने वाला ही समझे, तब वह शीघ्र ही किसी धार्मिक बलिष्ट राजा के आश्रय में चला जाय।

निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद्योऽरिबलस्य च।
उपसेयेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुं यथा ॥१७५॥

जिन दोषों से राजा को ऐसी विपत्ति उत्पन्न हुई है और जिस शत्रु सैन्य से भय उत्पन्न हुआ हो, इन दोनों को निग्रह करने वाले राजा का आश्रय करके उसकी गुरु की भाँति सब प्रकार सेवा करे।

यदि तत्रापि संपश्येद्दोषं संश्रयकारितम्।
सुयुद्धमेव तत्रापि निर्विशङ्कः समाचरेत् ॥१७६॥

यदि संश्रय करने पर भी अपनी रक्षा न सके तो निःशङ्क होकर युद्ध ही करे।

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञैः पृथिवीपतिः।
यथाऽस्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥१७७॥

नीतिज्ञ राजा सभी उपायों से ऐसा कर्म करे जिसमें उसके मित्र, उदासीन और शत्रु की संख्या न बढ़ने पावे।

आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत्।
अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः ॥१७८॥

उस समय भूत और भविष्यकाल के सभी कार्यों के गुण दोष को राजा खूब ध्यान से विचार करे।

आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः।
अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥१७९॥

भविष्य के गुण-दोषों को, उपस्थित कार्यों का निश्चय कर शीघ्र पूर्ण करने वाला और बीती हुई बातों के शेष भाग को समझने वाला राजा कभी शत्रुओं से पराजित नहीं होता।

यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः।
तथा सर्वं संविदध्यादेष सामासिको नयः ॥१८०॥

जिस नियम से मित्र, उदासीन और शत्रु, कोई कभी उसे कष्ट न दे सके। ऐसे ही नियम से चलना चाहिये संक्षेप में यही नीति है।

यदा तु यानमातिष्ठेदरिराष्ट्रं प्रति प्रभुः।
तदाऽनेन विधानेन यायादरिपुरं शनैः ॥१८१॥

जब राजा शत्रु के राज्य पर चढ़ाई करने की तैयारी करे तो आगे कहे हुए नियमों के अनुसार शत्रु राज्य पर धीरे-धीरे चढ़ाई करे।

मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपतिः।
फाल्गुनं वाऽथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथाबलम् ॥१८२॥

राजा शुभ अगहन के महीने में यात्रा करे अथवा जैसी अपनी शक्ति के अनुसार फाल्गुन या चैत के महीने में शत्रु राज्य पर चढ़ाई करे।

अन्येष्वपि तु कालेषु यदा पश्येद् ध्रुवं जयम्।
तदा यायाद्विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः ॥१८३॥

जब अन्य महीनों में भी अपने विजय को निश्चित देखे और शत्रु संकट में फँसा हो तब अन्य महीने में भी युद्ध-यात्रा कर देवे।

कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि।
उपगृह्यास्पदं चैव चारान्सम्यग्विधाय च ॥१८४॥
संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम्।
सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः ॥१८५॥

अपने दुर्ग और देश की रक्षा के लिये सेना के एक दल का प्रबन्ध कर, यात्रा के उपयुक्त सभी समान साथ ले, शत्रु राज्य में भेद लेने के लिये दूतों को भेजकर त्रिविध मार्ग (जङ्गल, आनूप, आटविस) का संशोधन करके और छः प्रकार के अपने सैन्य को सन्तुष्ट करके रांग्रामनीति से धीरे-धीरे शत्रु की नगरी पर आक्रमण करने के लिये यात्रा करे।

शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेत्।
गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः ॥१८६॥

जो मित्र छिपे-छिपे शत्रु की सेवा करता हो और जो नौकर पहले रूठकर चला गया हो। और पीछे आया हो, इससे सावधान रहना चाहिये, क्योंकि ये बड़े कठिन शत्रु होते हैं।

दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा।
वाराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा ॥१८७॥

युद्धमार्ग में राजा दण्डव्यूह, शकटव्यूह, वराहव्यूह, करव्यूह, सूची-व्यूह या गरुड़व्यूह रच कर चले।

यतश्च भयमाशङ्केत्ततो विस्तारयेद् बलम्।
पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम् ॥१८८॥

जिधर से राजा को भय की आशंका हो, उस ओर अपनी सेना को विशेषरूप से नियोजित करे और स्वयं पद्मव्यूह रचकर उसमें रहे।

सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत्।
यतश्च भयमाशङ्केत्प्राचीं तां कल्पयेद्दिशम् ॥१८९॥

सेनापति और सेनाध्यक्षों को सब दिशाओं में नियुक्त करे और जिस दिशा से भय की आशंका हो उसी को पूर्व दिशा माने (अर्थात् उसी दिशा में आगे बढ़े)।

गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान्कृतसंज्ञान्समंततः।
स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूनविकारिणः ॥१९०॥

आप्त पुरुषों से युक्त सैन्य का एक भाग जिसमें युद्ध के संकेत जानने वाले और युद्ध विद्या में कुशल तथा डरपोक और विश्वासघाती न हों ऐसे योद्धाओं को शेष सैन्य के चारों तरफ शत्रुओं से रक्षा के हेतु और शत्रु के चेष्टा को जानने के लिये नियुक्त करे।

संहतान्योधयेदल्पान्कामं विस्तारयेद् बहून्।
सूच्या वज्रेण चैवेतान्व्यूहेन व्यूह्य योधयेत् ॥१९१॥

यदि सैन्य संख्या कम हो तो सबको एक साथ जुटाकर और संख्या अधिक हो तो उसे फैलाकर सूची-व्यूह तथा वज्र-व्यूह रचकर उससे युद्ध करावे।

स्यन्दनाश्वैः समे युद्ध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥१९२॥

समतल भूमि में रथी और घुड़सवार सेना से, अनूप (जलमय) देश में नाव और हाथी पर सवार होकर, पेड़-पौधों और लताओं से भरे हुए स्थान में धनुषबाण से और स्थल भाग से ढाल, तलवार और बर्छी से युद्ध करे।

कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पाञ्चालाञ्शूरसेनजान्।
दीर्घाल्लघूंश्चैव नरानग्रानीकेषु योजयेत् ॥१९३॥

कुरुक्षेत्री, मत्स्यदेशीय, पाञ्चाल और माथुर सैनिक, ये लम्बे हों या नाटे, इन्हें सेना के आगे नियुक्त करे।

प्रहर्षयेद्बलं व्यूह्य तांश्च सम्यक्परीक्षयेत्।
चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन्योधयतामपि ॥१९४॥

सेना की रचना करके सेना को विजय से कर्म का लाभ, युद्ध में सन्मुख मरने से स्वर्ग की प्राप्ति, भागने से नरक में पतन इत्यादि बातों से हर्षित करे और उसकी परीक्षा करे, शत्रु-सेना से लड़ते समय भी अपने सैनिकों की चेष्टा को देखे।

उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत्।
दुषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ॥१९५॥

शत्रु के नगर के चारों ओर घेरा डाल दे, उसके राज्यों को हर तरह से पीड़ा पहुँचावे। निरन्तर वहाँ का तृण, अन्न, जल और ईंधन नष्ट-भ्रष्ट करता रहे।

भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा।
समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा ॥१९६॥

शत्रु के काम में आने वाले ताड़ागादि जलाशयों का नाश करे, किले की दीवार को तोड़-फोड़ डाले, परिखा (खाई) आदि को मिट्टी से भर दे, इस प्रकार शत्रु को शक्ति शून्य करे और रात को भी नगाड़ा आदि बजाकर उसे भयभीत करे।

उपजप्यानुपजपेद् बुध्येतैव च तत्कृतम्।
युक्ते च दैवे युध्येत जयप्रेप्सुरपेतभीः ॥१९७॥

शत्रुपक्ष के जो अमात्यादि लोग फोड़ लेने योग्य हों उन्हें अपने वश में करके और उनके कार्य को जाने। विजय चाहने वाला राजा भय रहित होकर शुभ समय में युद्ध आरम्भ करे।

साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन ॥१९८॥

(जहाँ तक हो) शत्रु को साम, दाम या भेद, इनमें से किसी उपाय से या इन सभी उपायों से जीतने का प्रयत्न करे युद्ध से जीतने का प्रयत्न कभी न करे।

अनित्यो विजयो यस्माद् दृश्यते युध्यमानयोः।
पराजयश्च संग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत् ॥१९९॥

युद्ध करते हुए दोनों पक्षों में से जीत और हार का संग्राम में कोई निश्चय नहीं रहता। इसलिये युद्ध न करना चाहिये।

त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तनामसम्भवे।
तथा युध्येत सम्पन्नो विजयेत रिपून्यथा ॥२००॥

(परन्तु) पूर्वोक्त तीनों उपाय (साम, दाम और भेद) असम्भव हों तब शक्ति सम्पन्न होकर, इस प्रकार युद्ध करे कि शत्रु को जीत सके।

जित्वा संपूजयेद् देवान्ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान्।
प्रदद्यात्परिहारांश्च ख्यापयेदभयानि च ॥२०१॥

शत्रु को जीतकर देवता तथा धार्मिक ब्राह्मणों की पूजा करे और उन्हें भेंट देकर सर्वत्र अभय की स्थापना करे।

सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन चिकीर्षितम्।
स्थापयेत्तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम् ॥२०२॥

(जीते हुए राज्य के मन्त्री आदिकों के) संक्षेप से अभिप्राय को जानकर उस राज्य की राजगद्दी पर उसी राजा के किसी वंशज को बिठावे और उस समय के उपर्युक्त कामों को करे।

प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान्यथोदितान्।
रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह ॥२०३॥

उस राज्य की प्रजाओं के यथोचित कामों का प्रमाण माने। नये अभिषिक्त राजा और प्रधान मंत्रियों को रत्नादि की भेंट दे।

आदानमप्रियकरं दानं च प्रियकारकम्।
अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते ॥२०४॥

किसी की कोई चीज ले लेना अप्रियकर और दे देना प्रियकर होता है तथापि समयानुसार लेना और देना दोनों श्रेष्ठ होते हैं।

सर्वं कर्मेदमायत्तं विधाने दैवमानुषे।
तयोर्दैवमचिन्त्यं तु मानुषे विद्यते क्रिया॥२०५॥

संसार के सभी कार्य दैव और मानुष कर्मविधान के अधीन हैं। इन दोनों में दैव कर्मविधान अचिंत्य है, पर मानुष का विचार कर सकते हैं।

सह वाऽपि व्रजेद्युक्तः संधिं कृत्वा प्रयत्नतः।
मित्रं हिरण्यं भूमिं वा संपश्यंस्त्रिविधं फलम्॥२०६॥

यदि शत्रु मित्र बनता हो, सुवर्ण देता हो, भूमिका कुछ भाग अर्पण करता हो तो इस त्रिविध फल को पाकर सन्धि से युक्त होकर राजा वहाँ से लौट आवे।

पार्ष्णिग्राहं च संप्रेक्ष्य तथाक्रन्दं च मण्डले।
मित्रादथाप्यमित्राद्वा यात्राफलमवाप्नुयात्॥२०७॥

राजमण्डल में पार्ष्णिग्राह[1] और आक्रन्द[2] पर अच्छी तरह विचार कर यात्रा करे। मित्र से या शत्रु से, यात्रा का फल लेना ही चाहिये।

हिरण्यभूमिसंप्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते।
यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम्॥२०८॥

सुवर्ण और भूमि को पाकर राजा वैसे वृद्धि को नहीं पाता है जैसे किसी तत्काल में दुर्बल किंतु आगे बढ़ने वाले ध्रुव मित्र को पाकर होता है।

धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च।
अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते॥२०९॥

धार्मिक, कृतज्ञ, प्रसन्न चित्त प्रेमी और जो दृढ़ता से कार्यारम्भ करने वाला मित्र छोटा भी हो तो वह उत्तम है।

प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च।
कृतज्ञं धृतिमन्तं च कष्टमाहुररिं बुधाः॥२१०॥

---

१. विजयेच्छु राजा को शत्रु के ऊपर चढ़ाई करने के समय, पीठ वाला राजा जो उसके देश पर चढ़ाई करता है, उसे पार्ष्णिग्राह कहते हैं।

२. ऐसा करने वालों को रोकने वाला राजा आक्रन्द कहलाता है।

विद्वान्, कुलीन, वीर, चतुर, दाता, कृतज्ञ और धैर्य्यवान् शत्रु को जीतना बड़ा ही कठिन होता है ऐसा पण्डितों ने कहा है।

आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता ।
स्थौललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः ॥ २११ ॥

साधुता, सत्-असत् पुरुषों की पहचान, शूरता, निरन्तर दयालुता और दानशीलता ये सब उदासीन के गुण हैं।

क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि ।
परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन् ॥ २१२ ॥

जो भूमि अपने को सुखदायक हो, उपजाऊ हो, पशुओं को वृद्धिकारी हो, उस भूमि को अपने कल्याण के निमित्त राजा बिना विचारे ही छोड़ दे।

आपदर्थं धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ २१३ ॥

(कारण) आपत्ति से बचने के लिये धन की रक्षा करे धन से अधिक स्त्री की रक्षा करे और धन तथा स्त्री से अधिक सदा आत्मरक्षा करनी चाहिये।

सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदो भृशम् ।
संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च सर्वोपायान्सृजेद् बुधः ॥ २१४ ॥

एक ही साथ अनेक भीषणरूप विपत्तियों के उपस्थित होने पर उनसे बुद्धिमान् विचलित न हो, किन्तु उनके प्रति सभी (सामादि) उपायों का एक साथ या अलग-अलग उपाय करे।

उपेतारमुपेयं च सर्वोपायांश्च कृत्स्नशः ।
एतत्त्रयं समाश्रित्य प्रयतेतार्थसिद्धये ॥ २१५ ॥

उपाय करने वाला, उपाय का फल और सब उपाय (साम-दानादि) इन तीनों का पूर्णरूप से विचार करके अपने कार्यसिद्धि के लिये प्रयत्न करना चाहिये।

एवं सर्वमिदं राजा सह संमन्त्र्य मन्त्रिभिः ।
व्यायम्याप्लुत्य मध्याह्ने भोक्तुमन्तःपुरं विशेत् ॥ २१६ ॥

इस प्रकार राजा मंत्रियों के साथ पूर्वोक्त सभी बातों को विचार करके नियमानुसार व्यायाम कर, मध्याह्नकालिक क्रिया से निवृत्त होकर भोजन करने के लिये अन्तःपुर में जाय।

तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्यैः परिचारकैः ।
सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान्मन्त्रैर्विषापहैः ॥२१७॥

वहाँ आत्मीय, कालज्ञ, अभेद्य रसोइयों के बनाये हुए सुपरीक्षित सुस्वादु अन्न विषनाशक मंत्रों से अभिमन्त्रित करके भोजन करे।

विषघ्नैरगदैश्चास्य सर्वद्रव्याणि योजयेत् ।
विषघ्नानि च रत्नानि नियतो धारयेत्सदा ॥२१८॥

निश्चयरूप से हमेशा खाने की सभी वस्तुओं में विषनाशक औषध मिलावे और विषनाशक रत्नों को धारण करे।

परीक्षिताः स्त्रियश्चैनं व्यजनोदकधूपनैः ।
वेषाभरणसंशुद्धाः स्पृशेयुः सुसमाहिताः ॥२१९॥

गुप्तचरों द्वारा जिनकी परीक्षा की जा चुकी है और जिनके पास कोई गुप्त शस्त्र और विषलिप्त आभूषण तो नहीं है यह संदेह नहीं रह गया है जिनके वेश और आभूषण शुद्ध हैं, ऐसी परीक्षित स्त्रियाँ बड़ी सावधानी से चामर, स्नान, पानादिक जल और धूप आदि से राजा की परिचर्या करें।

एवं प्रयत्नं कुर्वीत यानशय्यासनाशने ।
स्नाने प्रसाधने चैव सर्वालङ्कारकेषु च ॥२२०॥

इसी प्रकार वाहन, शय्या, आसन, भोजन, स्नान, अनुलेपन, सभी अलंकारों के सम्बन्ध में परीक्षा करनी चाहिये।

भुक्तवान्विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तःपुरे सह ।
विहृत्य तु यथाकालं पुनः कार्याणि चिन्तयेत् ॥२२१॥

भोजन करके अन्तःपुर के स्त्रियों के साथ कुछ समय तक बिहार कर फिर अपने राजकार्य की चिन्ता करे।

अलंकृतश्च सम्पश्येदायुधीयं पुनर्जनम् ।
वाहनानि च सर्वाणि शस्त्राण्याभरणानि च ॥२२२॥

राजा स्वयं वेश-भूषा पहनकर सैनिकों, वाहनों, सभी अस्त्र-शस्त्रों और अलंकारों का निरीक्षण करे।

संध्यां चोपास्य शृणुयादन्तर्वेश्मनि शस्त्रभृत् ।
रहस्याख्यायिनां चैव प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥२२३॥

गत्वा कक्षान्तरं त्वन्यत्समनुज्ञाप्य तं जनम् ।
प्रविशेद्भोजनार्थं च स्त्रीवृतोऽन्तःपुरं पुनः ॥२२४॥

इसके बाद संध्योपासन करके गृह के एकान्त स्थान में सशस्त्र बैठकर रहस्यभाषी चरों (जासूसों) का गुप्त संवाद सुने। इसके बाद उन्हें आज्ञा देकर वहाँ से बिदाकर दूसरे मकान में जा परिचारिका स्त्रियों के साथ भोजन के लिये पुनः अन्तःपुर में प्रवेश करे।

तत्र भुक्त्वा पुनः किञ्चित् तूर्यघोषैः प्रहर्षितः ।
संविशेत्तु यथाकालमुत्तिष्ठेच्च गतक्लमः ॥२२५॥

वहाँ बाजे के मधुर शब्दों से प्रसन्न होकर फिर कुछ भोजन करके ठीक समय पर सोवे भलीभाँति विश्राम करके यथा समय उठे।

एतद्विधानमातिष्ठेदरोगः पृथिवीपतिः ।
अस्वस्थः सर्वमेतत्तु भृत्येषु विनियोजयेत् ॥२२६॥

शरीर आरोग्य रहने पर राजा स्वयं इन सब कार्यों का सम्पादन करे, किन्तु अस्वस्थ होने पर यह सब कार्य भृत्य के हाथ में सौंपे।

इति सप्तम अध्याय समाप्त ।

●

अष्टमोऽध्यायः (८)

व्यवहारान्दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः ।
मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम् ॥ १ ॥

व्यावसायिक विषयों के ऊपर विचार करने की इच्छा से राजा ब्राह्मणों और विचारशील मंत्रियों के साथ विनीतभाव से राजसभा (दरबार) में प्रवेश करे।

तत्रासीनः स्थितो वाऽपि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम् ।
विनीतवेषाभरणः पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥ २ ॥

विनीत वेश और अलंकार से युक्त होकर राजा वहाँ बैठकर या खड़े होकर दाहिना हाथ कपड़े से बाहर निकाल काम करने वाले पुरुषों के कार्यों को देखे।

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः ।
अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक्पृथक् ॥ ३ ॥

ये कार्य अठारह भागों में हैं। इनका देशाचार (देश-जाती कुलादि) तथा शास्त्र-विचार (गवाह इत्यादि) प्राप्त हेतुओं से पृथक्-पृथक् नित्य विचार करे।

तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः ।
संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च ॥ ४ ॥
वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः ।
क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः ॥ ५ ॥
सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके ।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च ॥ ६ ॥
स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च ।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह ॥ ७ ॥

उनमें पहला १-ऋण लेना, २-किसी के पास थाती रखना, ३- बिना मालिक से पूछे किसी चीज को बेचना, ४-साझे का व्यवहार, ५-दी हुई वस्तु को फिर ले लेना, ६-वेतन न देना, ७-की हुई व्यवस्था से इन्कार करना, ८-खरीद-बिक्री में किसी बात का अन्तर पड़ जाना, ९-स्वामी और पशु-पालकों में विवाद, १०-सीमा की तकरार, ११-गाली-गलौज देना या मारपीट करना, १२-चोरी, १३- साहस अर्थात् जबरर्दस्ती किसी की चीज ले लेना, १४- पराये पुरुष के साथ स्त्री का सम्पर्क १५-पति-पत्नी के परस्पर धर्म की व्यवस्था १६-पैतृक आदि धन का विभाग, १७-जुआ, १८-पशु-पक्षियों को लड़ाना। व्यवहार के ये ही १८ स्थान हैं।

एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम् ।
धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात्कार्यविनिर्णयम् ॥८॥

इन १८ स्थानों में विवाद करने वाले मनुष्यों के धर्म का निर्णय परम्परागत धर्म का आश्रय करके करना चाहिये।

यदा स्वयं न कुयात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम् ।
तदा नियुज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥९॥

यदि स्वयं राजा काम न कर सके, तो उस काम पर किसी विद्वान्, नीति निपुण ब्राह्मण को नियुक्त करे।

सोऽस्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः ।
सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थित एव वा ॥१०॥

वह ब्राह्मण कार्य देखने में चतुर तीन अन्य ब्राह्मणों के साथ राजसभा में बैठकर या खड़े होकर राजा के कार्यों को भलीभाँति देखे।

यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः ।
राज्ञाश्चाधिकृतो विद्वान्ब्रह्मणस्तां सभां विदुः ॥११॥

जिस सभा में वेद जानने वाले तीन ब्राह्मण बैठते हैं और राजा का प्रतिनिधि विद्वान् ब्राह्मण बैठता है उस सभा को ब्रह्मसभा चतुर्मुख ब्रह्मा की सभा के तुल्य कहते हैं।

धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥१२॥

जहाँ सभा में धर्म (सत्य) अधर्म (असत्य) से विरुद्ध होकर आता है, यदि वहाँ सभासद अधर्म के शल्य को नहीं काटते हैं तो वे ही लोग उस अधर्म रूप काँटे से विद्ध होते हैं।

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।
अब्रुवन्विब्रुवन्वाऽपि नरो भवति किल्बिषी ॥१३॥

इसलिये या तो सभा में न जाय यदि जाय तो यथार्थ बोले। कुछ न बोलने या अधिक बोलने से मनुष्य पापभागी होता है।

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥१४॥

जिस सभा में सभासदों के सामने ही अधर्म से धर्म और असत्य से सत्य मारा जाता है, वहाँ उस पाप से सभासद ही नाश होते हैं।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥१५॥

नष्ट हुआ धर्म ही नाश करता है और रक्षित किया धर्म ही रक्षा करत है। "नष्ट हुआ धर्म कहीं हमें नष्ट न कर दे" इसलिए धर्म का कभी नाश न करना चाहिये।

वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥१६॥

(सभी कामनाओं की सिद्धि की वर्षा करने वालों को वृष कहते हैं) वृष यही भगवान् धर्म है ऐसे धर्म का जो नाश करता है उसे देवता वृषल कहत हैं। इसलिये धर्म का लोप न करे।

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥१७॥

एक धर्म ही ऐसा मित्र है जो मरने पर भी साथ जाता है और अन्य पदार्थ शरीर के साथ नष्ट हो जाते हैं।

पादोऽधमस्य कर्तारं पादः साक्षिणमृच्छति ।
पादः सभासदः सर्वान्पादो राजानमृच्छति ॥१८॥

अधर्म का चौथा भाग अधर्म करने वाले को और चौथा भाग साक्षी के चौथा भाग सब सभासदों को और चौथा भाग राजा को प्राप्त होता है।

राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः ।
एनो गच्छति कर्त्तारं निन्दाऽर्हो यत्र निन्द्यते ॥१९॥

जिस सभा में निंदनीय व्यक्ति की निंदा होती है, वहाँ राजा पापभागी नह होता और सभासद भी पाप से मुक्त होते हैं, किंतु पाप करने वाले को ह पाप का फल होता है।

जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद् ब्राह्मणब्रुवः ।
धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न तु शूद्रः कथञ्चन ॥२०॥

केवल जाति के नाम पर जीने वाला और केवल नाम भाव से ब्राह्मण कहलाने वाला ब्राह्मण भी राजा की ओर से धर्म प्रवक्ता हो सकता है परन्तु शूद्र कभी नहीं हो सकता।

यस्य शुद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम् ।
तस्य सीदति तद्राष्ट्रं पङ्के गौरिव पश्यतः ॥२१॥

जिस राजा के यहाँ शूद्र न्यायकर्ता होता है उस राजा का देश पङ्क में धँसी हुई गौ की भाँति क्लेश पाता है।

यद्राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्तमद्विजम् ।
विनश्यत्याशु तत्कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम् ॥ २२ ॥

जिस देश में शूद्र अधिक हों और नास्तिकों से आक्रान्त हो, जहाँ एक भी ब्राह्मण न हों वह सारा देश शीघ्र ही दुर्भिक्ष और रोग के पीड़ा से पीड़ित होकर नष्ट हो जाता है।

धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः ।
प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारभेत् ॥ २३ ॥

शरीर को आच्छादित करके न्यायासन पर बैठ एकाग्रचित हो लोकपालों को प्रणाम करके काम देखना आरम्भ करे।

अर्थानर्थावुभौ बुद्ध्वा धर्माधर्मौ च केवलौ ।
वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥ २४ ॥

अर्थ-अनर्थ दोनों को और केवल धर्म-अधर्म को अच्छी तरह जानकर वर्णक्रम से न्यायप्रार्थियों के सब कार्यों को देखे।

बाह्यैर्विभावयेल्लिङ्गैर्भावमन्तर्गतं नृणाम् ।
स्वरवर्णेङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च ॥ २५ ॥

मनुष्यों के स्वर, वर्ण, इङ्गित, आकार, नेत्र और चेष्टा आदि बाहरी चिह्नों से राजा उनके भीतर का भाव जाने।

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ २६ ॥

आकार, इङ्गित, गति, चेष्टा, भाषण, नेत्र और मुख के विकारों से मन के अन्तर्गत की बात को जानना चाहिये।

बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजाऽनुपालयेत् ।
यावत्स स्यात्समावृत्तो यावच्चातीतशैशवः ॥ २७ ॥

अनाथ बालक[१] (नाबालिक) के साम्पत्तिक अंश और धन की रक्षा राजा तब तक करे जब तक वह वेदाध्ययन की समाप्ति कर प्राप्त वयस्क (बालक) होकर गुरुकुल से लौटकर न आवे।

---

१. यहाँ १६ वर्ष की अवस्था तक बालक माना है।

वशाऽपुत्रासु चैव स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च।
पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥२८॥

वन्ध्या, पुत्रहीन स्त्री के कुल में कोई न हो, पतिव्रता, विधवा और रोगिणी स्त्री, इनके धन की रक्षा भी उसी प्रकार करे।

जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबान्धवाः।
ताञ्छिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः ॥२९॥

उन जीती हुई स्त्रियों का धन जो भी उनके बान्धव हरण कर लें तो धार्मिक राजा उन्हें चोर का दण्ड दे।

प्रणष्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत्।
अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परेण नृपतिर्हरेत् ॥३०॥

जिस धन का स्वामी नष्ट हो गया हो, राजा उस धन को तीन वर्ष तक अपने पास रखे। यदि तीन वर्ष के पहले उस धन का अधिकारी आ जाय तो उसे दे दे, अधिकारी न मिलने पर तीन वर्ष के बाद राजा उस धन को आप ले ले।

ममेदमिति यो ब्रूयात्सोऽनुयोज्यो यथाविधि।
संवाद्य रूपसंख्यादीन्स्वामी तद् द्रव्यमर्हति ॥३१॥

जो कोई कहे कि यह धन मेरा है तो उससे उस धन के सम्बन्ध में भली-भाँति ज्ञान करना चाहिये। यदि वह उस धन के रूप और संख्या आदि सब बतावे तो वह उस धन का स्वामी है और उनको लेने के योग्य है।

अवेदयानो नष्टस्य देशं कालं च तत्त्वतः।
वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति ॥३२॥

जो अच्छी तरह से नष्ट हुए धन का स्थान, कारण और समय न जानता हो और न उसका रूप आकार और संख्या को ही ठीक-ठीक जानता हो तो राजा उसे उस धन के बराबर दण्ड दे।

आददीतार्थ षड्भागं प्रणष्टाधिगतान्नृपः।
दशमं द्वादशं वाऽपि सतां धर्ममनुस्मरन् ॥३३॥

नष्ट धन के प्राप्त होने पर राजा सज्जनों के धर्म का स्मरण करता हुआ उसका छठाँ, दशमांश. या बारहवाँ भाग लेकर शेष उसके स्वामी को दे दे।

प्रणष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेद्युक्तैरधिष्ठितम्।
यांस्तत्र चौरान्गृह्णीयात्तान् राजेभेन घातयेत् ॥३४॥

किसी का नष्ट हुआ धन राजपुरुषों द्वारा प्राप्त हो तो राजा उसे सुरक्षित रूप में रखवा दे और उस द्रव्य के साथ जो चोर पकड़े जाँय उन्हें हाथी से कुचलवा दे।

ममायमिति यो ब्रूयान्निधिं सत्येन मानवः।
तस्याददीत षड्भागं राजा द्वादशमेव वा ॥ ३५॥

जो मनुष्य सच्चे प्रमाण के साथ कहे कि यह मेरा धन है, तो राजा उस धन का छठवाँ या बारहवाँ भाग लेकर शेष उसे दे।

अनृतं तु वदन्दण्ड्यः स्ववित्तस्यांशमष्टमम्।
तस्यैव वा निधानस्य संख्यायाल्पीयसी कलाम् ॥ ३६॥

जो झूठ ही कहे कि यह मेरा धन है। उससे राजा उसके धन का आठवाँ भाग दण्ड में अथवा उस धन की जो संख्या हो उसका कुछ अंश दण्ड करे।

विद्वांस्तु ब्राह्मणो दृष्ट्वा पूर्वोपनिहितं निधिम्।
अशेषतोऽप्याददीत सर्वस्याधिपतिर्हि सः ॥ ३७॥

विद्वान् ब्राह्मण पहले से रखे हुए धन को सम्पूर्ण ले ले, क्योंकि वह सबका स्वामी है।

यं तु पश्येन्निधिं राजा पुराणं निहितं क्षितौ।
तस्माद द्विजेभ्यो दत्त्वार्धमर्धं कोशे प्रवेशयेत् ॥ ३८॥

पृथ्वी में गड़े हुए प्राचीन धन को देखे तो राजा उसमें से आधा ब्राह्मणों को कर दे। आधा अपने खजाने में रखवा दे।

निधीनां तु पुराणानां धातूनामेव च क्षितौ।
अर्धभाग्रक्षणाद्राजा भूमेरधिपतिर्हि सः ॥ ३९॥

पृथ्वी में गड़े हुए पुराने द्रव्य और धातुओं की रक्षा करने के कारण आधे भाग का स्वामी राजा होता है क्योंकि वह भूमि का स्वामी है।

दातव्यं सर्ववर्णेभ्यो राज्ञा चौरैर्हृतं धनम्।
राजा तदुपयुञ्जानश्चौरस्याप्नोति किल्बिषम् ॥ ४०॥

चोरों से चुराये हुए धन को प्राप्तकर राजा सब वर्णों के स्वामी को दे दे। यदि राजा स्वयं उसका उपभोग करे तो उसे चोरी का पाप लगता है।

जातिजानपदान्धर्माञ्श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ४१॥

धर्मज्ञ राजा जातिधर्म, देशधर्म, श्रेणीधर्म तथा कुल धर्म की समीक्षा करके उनके अनुकूल ही अपने धर्म की व्यवस्था करे।

स्वानि कर्माणि कुर्वाणा दूरे सन्तोऽपि मानवाः ।
प्रिया भवन्ति लोकस्य स्वे स्वे कर्मण्यवस्थिताः ॥४२॥

अपने नित्य के कर्मों को करता हुआ मनुष्य दूर होते हुए भी अपने-अपने नित्य नैमित्तिक कार्यों में अवस्थित होने के कारण संसार का प्रिय होता है।

नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पूरुषः ।
न च प्रापितमन्येन ग्रसेदर्थं कथञ्चन ॥४३॥

राजा अथवा राजा का प्रतिनिधि (न्यायकर्ता) स्वयं मामला खड़ा न करे और दूसरे से धन पाने की इच्छा से कभी भी मुकदमें को खारिज न करे।

यथा नयत्यसृक्पातैर्मृगस्य मृगयुः पदम् ।
नयेत्तथाऽनुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम् ॥४४॥

जैसे व्याध गिरे हुए लहू के द्वारा मृग के स्थान तक पहुँच जाता है, वैसे राजा अनुमान के द्वारा धर्म के तत्त्व तक पहुँच जाय।

सत्यमर्थं च संपश्येदात्मानमथ साक्षिणः ।
देशं रूपं च कालं च व्यवहारविधौ स्थितः ॥४५॥

राजा न्यायासन पर स्थित होकर सत्य, धन, आत्मा साक्षी देश, रूप और काल, इन सबको देखे।

सद्भिराचरितं यत्स्याद्धार्मिकैश्च द्विजातिभिः ।
तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् ॥४६॥

धार्मिक, अच्छे द्विजातियों से जो आचरण किया गया हो, उसके तथा देश कुल जाति के अनुकूल धर्म की व्यवस्था करे।

अधमर्णार्थसिद्ध्यर्थमुत्तमर्णेन चोदितः ।
दापयेद्धनिकस्यार्थमधमर्णाद्विभावितम् ॥४७॥

कर्जा लेने वाले से धन दिलवा देने के लिए महाजन के प्रार्थना करने पर राजा महाजन का निमित्त धन कर्जदार से दिलवा दे।

यैर्यैरुपायैरर्थं स्वं प्राप्नुयादुत्तमर्णिकः ।
तैस्तैरुपायैः संगृह्य दापयेदधमर्णिकम् ॥४८॥

कर्जदार से जिन-जिन उपायों के द्वारा महाजन अपना धन प्राप्त कर सवे, उन उपायों के द्वारा ऋणी से उसके धन को लेकर उसको दे दे।

धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च ।
प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमेने बलेन च ॥४९॥

धर्म से, व्यवहार से, छल से, द्वार पर सिपाही इत्यादिकों के उपद्रवों से बल प्रयोग[१] से दिए हुए धन को प्राप्त करे।

यः स्वयं साधयेदर्थमुत्तमर्णोऽधमर्णिकात् ।
न स राज्ञाभियोक्तव्यः स्वकं संसाधयन्धनम् ॥५०॥

जो महाजन स्वयं ही अपना धन कर्जदार से वसूल करे, किन्तु राजा को सूचित न करे तो राजा इसमें उसे न रोके।

अर्थेऽपव्ययमानं तु करणेन विभावितम् ।
दापयेद्धनिकस्यार्थं दण्डलेशं च शक्तितः ॥५१॥

यदि ऋणी ऋण को स्वीकार न करे और धनी के प्रमाणों से उसका ऋण लेना साबित हो तो, राजा उससे धनी का धन दिलावे और यथाशक्ति उसे दण्ड भी दे।

अपह्नवेऽधमर्णस्य देहीत्युक्तस्य संसदि ।
अभियोक्तादिशेद्देश्यं करणं वाऽन्यदुद्दिशेत् ॥५२॥

सभा (न्यायालय) में ऋणी से ऋण माँगने पर यदि वह कहे कि "मैं इसका कुछ नहीं लिया हूँ" तो महाजन साक्षी द्वारा और पत्रादि प्रमाणों द्वारा सच्चा साबित करे।

आदेश्यं यश्च दिशति निर्दिश्यापह्नुते च यः ।
यश्चाधरोत्तरानर्थान्विगीतान्नावबुध्यते ॥५३॥
अपदिश्यापदेश्यं च पुनर्यस्त्वपधावति ।
सम्यक्प्रणिहितं चार्थं पृष्टः सन्नाभिनन्दति ॥५४॥
असंभाष्ये साक्षिभिश्च देशे संभाषते मिथः ।
निरुच्यमानं प्रश्नं च नेच्छेद्यश्चापि निष्पतेत् ॥५५॥
ब्रूहीत्युक्तश्च न ब्रूयादुक्तं च न विभावयेत् ।
न च पूर्वापरं विद्यात्तस्मादर्थात्स हीयते ॥५६॥

जो धनी ऋण देने वाले स्थान में ऋणी का रहना न बतावे अथवा कही हुई बात को स्वीकार न करे, पहले बात स्वीकार कर पीछे आप ही उसके विरुद्ध भाषण करे। एक बार कह कर दूसरी बार उसी बात को दूसरे ढंग से कहे, पूछे जाने पर भली-भाँति प्रतिज्ञा की हुई बातों का समर्थन करे, निर्जन स्थान में

---

१. बध्वा स्वगृहमानीय ताडनाद् यैरुपक्रमैः।
ऋणिको दाप्यते यत्र बलात्कारः प्रकीर्तितः।।

गवाहों के साथ बात करे, प्रश्नों का पूछा जाना पसन्द न करे, प्रश्नांतरों के डर से इधर-उधर घूमे या टालमटोल करे, 'कहो' यह कहने पर भी कुछ न कहे, कही हुई बातों को साबित न कर सके, जो पूर्वापर को न जाने वह ऋणी से धन पाने योग्य नहीं है। अर्थात् राजा उसे धन न दिलावे।

साक्षिणः सन्ति मेत्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिशेन्न यः।
धर्मस्थः कारणैरेतैर्हीनं तमपि निर्दिशेत् ॥५७॥

मेरे साक्षी हैं, यह कह कर जो साक्षी माँगने पर साक्षी न दे, उसे भी धर्मशील राजा इन सब कारणों से हीन कायम करे।

अभियोक्ता न चेद् ब्रूयाद् वध्यो दण्ड्यश्च धर्मतः।
न चेत्त्रिपक्षात्प्रब्रूयाद्धर्मं प्रति पराजितः ॥५८॥

जो अभियोगी (मुद्दई) अपने अभियोग के विषय में कुछ न बोले वह धर्मतः बन्धन या दण्ड के योग्य होता है। जो अभियुक्त (मुद्दालेह) तीन पक्ष के भीतर कुछ जवाब न दे तो उसे धर्मतः पराजित समझना चाहिये।

यो यावन्निह्नवीतार्थं मिथ्या यावति वा वदेत्।
तौ नृपेण ह्यधर्मज्ञौ दाप्यौ तद् द्विगुणं दमम् ॥५९॥

ऋणी ऋण लेकर जितना न लेने का बहाना करे और धनी ऋणी पर जितना अधिक झूठा दावा करे राजा दोनों अधर्मियों पर उसका दूना दण्ड करे।

पृष्टोऽपव्ययमानस्तु कृतावस्थो धनैषिणा।
त्र्यवरैः साक्षिभिर्भाव्यो नृपब्राह्मणसन्निधौ ॥६०॥

न्यायालय में धनी द्वारा बुलाकर पूछे जाने पर यदि ऋणी ऋण को अस्वीकार करे तो धनी राजनियुक्त विद्वान् ब्राह्मण के सम्मुख कम से कम तीन श्रेष्ठ साक्षियों को देकर अपना विचार करावे।

यादृशा धनिभिः कार्या व्यवहारेषु साक्षिणः।
तादृशान्संप्रवक्ष्यामि यथा वाच्यमृतं च तैः ॥६१॥

लेन-देन के व्यवहार में धनियों को जैसे गवाह करने चाहिये और उन गवाहों से जैसे सत्य बुलवाना चाहिए, वह अब कहता हूँ।

गृहिणः पुत्रिणो मौलाः क्षत्रविट्शूद्रयोनयः।
अर्थ्युक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति न ये केचिदनापदि ॥६२॥

गृहस्थ, पुत्रवान्, पड़ोस का रहने वाला क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, ये लोग अर्थी के कहे जाने पर साक्षी दे सकते हैं। निरापद अवस्था में जिस तिसकी गवाही नहीं ली जा सकती।

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः ।
सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतांस्तु वर्जयेत् ॥६३॥

जो सब वर्णों में यथार्थ वक्ता, सब धर्मों के ज्ञाता और लोभ रहित हों, वे लेन-देन के व्यवहार में साक्षी करने योग्य हैं, जो इनके विरुद्ध गुण वाले हों उन्हें छोड़ देना चाहिये।

नार्थसम्बन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः ।
न दृष्टदोषा कर्तव्या न व्याध्यार्ता न दूषिताः ॥६४॥

जो धनी से द्रव्य का लेन-देन करते हों, इष्ट-मित्र हों, सहायक हों, शत्रु हों, जो दोषों से (मिथ्याभाषण आदि), जो व्याधिपीड़ित हों और पाप से दूषित हों, उनसे साक्षी नहीं दिलानी चाहिये।

न साक्षी नृपतिः कार्यो न कारुककुशीलवौ ।
न श्रोत्रियो न लिङ्गस्थो न सङ्गेभ्यो विनिर्गतः ॥६५॥

राजा, कारीगर, नट, श्रोत्रिय (वेदाध्यायी कर्मपरायण) ब्रह्मचारी और संन्यासी, ये लोग गवाह न माने जाँय।

नाध्यधीनो न वक्तव्यो न दस्युर्न विकर्मकृत् ।
न वृद्धो न शिशुर्नैको नान्त्यो न विकलेन्द्रियः ॥६६॥

दास, जो समाज में निन्दनीय हो, क्रूरकर्मी, निषिद्ध कर्म करने वाला, बूढ़ा, अंत्यज और विकलेन्द्रिय तथा किसी एक ही व्यक्ति को गवाह न करे (अर्थात् कम से कम तीन गवाह करने चाहिये)।

नार्तो न मत्तो नोन्मत्तो न क्षुत्तृष्णोपपीडितः ।
न श्रमार्तो न कामार्तो न क्रुद्धो नापि तस्करः ॥६७॥

शोकार्त, मत्त, पागल, भूख-प्यास से पीड़ित, परिश्रम से थका हुआ, कामातुर, क्रोधी और चोर की साक्षी न करे।

स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः ।
शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोयनयः ॥६८॥

स्त्रियों के साक्षी के लिये स्त्रियों को गवाह करे, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के गवाह उनके सजातीय हों, शूद्रों के शूद्र और चांडाल आदि नीच जातियों के साक्षी उनकी जाति वाले ही हों।

अनुभावी तु यः कश्चित्कुर्यात्साक्ष्यं विवादिनाम् ।
अन्तर्वेश्मन्यरण्ये वा शरीरस्यापि चात्यये ॥६९॥

घर में या जंगल में उपद्रव होने पर या किसी के द्वारा शरीर पर चोट होने पर वहाँ पर जो कोई हो उसी को साक्षी करना चाहिये।

स्त्रियाऽप्यसम्भवे कार्यं बालेन स्थविरेण वा।
शिष्येण बन्धुना वाऽपि दासेन भृतकेन वा॥७०॥

पूर्वोक्त साक्षी न मिलने पर स्त्री, बालक, वृद्ध, शिष्य, बन्धु, टहलू, और कर्मचारी से भी गवाह का काम लिया जा सकता है।

बालवृद्धातुराणां च साक्ष्येषु वदतां मृषा।
जानीयादस्थिरां वाचमुत्सिक्तमनसा तथा॥७१॥

अस्थिर चित्त रहने के कारण बालक, वृद्ध और रोगी यदि गवाही देते समय कुछ झूठ बोलें तो राजा अनुमान द्वारा उनके कथन के सत्यांश को जान ले।

साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः॥७२॥

साहस के सभी काम, चोरी और स्त्रीसंग्रहण, वचन और दण्ड की कठोरता, इनमें साक्षियों की परीक्षा न करे।

बहुत्वं परिगृह्णीयात्साक्षिद्वैधे नराधिपः।
समेषु तु गुणोत्कृष्टान्गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान्॥७३॥

साक्षियों के परस्पर विरोध में बहुमत जिस बात में हो राजा उसी को प्रामाणिक माने। विरुद्ध भाषियों की संख्या बराबर होने पर विशेष गुणवान् साक्षी के कथन को ही प्रमाण माने। यदि दोनों गुणवान् हों तो उनमें जो क्रियावान् ब्राह्मण हो उसी का वचन प्रमाण माने।

समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिद्ध्यति।
तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते॥७४॥

आँख से देखी या कान से सुनी हुई ही बातों की साक्ष्य सिद्ध होती है। जो जैसा मालूम हो वैसा ही सच-सच कहने वाला साक्षी धर्म और अर्थ से हीन नहीं होता।

साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विब्रुवन्नार्यसंसदि।
अवाङ्नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते॥७५॥

श्रेष्ठ सभा में यदि आँख से देखी या सुनी बातों के विरुद्ध भाषण करे अर्थात् झूठ बोले तो वह मरने पर अधोमुख हो नरक में जाता है और स्वर्ग से वंचित होता है।

यत्रानिबद्धोऽपीक्षेत शृणुयाद्वाऽपि किञ्चन ।
पृष्टस्तत्रापि तद् ब्रूयाद्यथादृष्टं यथाश्रुतम् ॥७६॥

साक्षी न होते हुए भी (ऋण दानादि के विषय में जो देखा हो या सुना हो) यदि (न्याय सभा में) उससे कुछ पूछा जाय तो वह जो कुछ देखा सुना हो सब सच-सच कह दे।

एकोऽलुब्धस्तु साक्षी स्याद् बह्व्यः शुच्योऽपि न स्त्रियः ।
स्त्रीबुद्धेरस्थिरत्वात्तु दोषैश्चान्येऽपि ये वृताः ॥७७॥

एक भी निर्लोभी पुरुष साक्षी हो सकता है, परन्तु बहुत स्त्रियाँ पवित्र होने पर भी नहीं हो सकतीं, क्योंकि स्त्रियों की बुद्धि चंचल होती है और अन्य मनुष्य भी जो दोषों से घिरे हैं, साक्षी के योग्य नहीं होते।

स्वभावेनैव यद् ब्रूयुस्तद्ग्राह्यं व्यावहारिकम् ।
अतो यदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थकम् ॥७८॥

साक्षी के स्वभाव से ही जो कुछ कहे, वह व्यवहार के लिये स्वीकार करना चाहिये। इसके विरुद्ध अस्वाभाविक रीति से साक्षी द्वारा जो कुछ कहा जाय वह न्याय के लिये अग्राह्य है।

सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ ।
प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिना तेन सान्त्वयन् ॥७९॥

न्यायकर्ता सभा में वादी-प्रतिवादियों के सन्मुख, उपस्थित साक्षियों को इस प्रकार से शान्त्वना देते हुए प्रश्न करे।

यद् द्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिंश्चेष्टितं मिथः ।
तद् ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता ॥८०॥

इन दोनों वादी प्रतिवादियों के बीच इस विषय में जो कुछ व्यवहार हुआ है, तुम जानते हो, सब सच-सच कहो, क्योंकि इसमें तुम लोगों की गवाही है।

सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान् ।
इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥८१॥

गवाही देते समय सच बोलकर साक्षी अनेक उत्तम लोकों को पाता है। यहाँ भी अति उत्तम यश पाता है, क्योंकि सत्य वाणी का आदर ब्रह्मा भी करते हैं।

साक्ष्येऽनृतं वदन्पाशैर्बध्यते वारुणैर्भृशम् ।
विवशः शतमाजातीस्तस्मात्साक्ष्यं वदेदृतम् ॥८२॥

गवाही में झूठ बोलने वाला कठोर वरुणपाश में बद्ध सौ जन्म तक विवश होकर बहुत कष्ट पाता है इसलिए गवाह को सच बोलना चाहिये।

सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते।
तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥८३॥

सच बोलने से गवाह पवित्र हो जाता है। सत्य से धर्म की वृद्धि होती है। इसलिए सभी वर्णों के गवाहों को सत्य ही बोलना चाहिये।

आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथाऽऽत्मनः।
माऽवमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥८४॥

आत्मा ही अपने कर्मों का साक्षी है, आत्मा ही अपनी गति है, इसलिए मनुष्यों के बीच अपने उत्तम साक्षी आत्मा का (मिथ्या भाषण से) अपमान नहीं करना चाहिये।

मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीति नः।
तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः ॥८५॥

पाप करने वाले समझते हैं कि हमें कोई नहीं देखता है, परन्तु देवता और उनके अन्तर्गत आत्मास्वरूप पुरुष उन पापों को देखते रहते हैं।

द्यौर्भूमिरापो हृदयं चन्द्रार्काग्नियमानिलाः।
रात्रिः संध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम् ॥८६॥

आकाश, भूमि, जल, हृदय, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, यम, वायु, रात्रि, दोनों संध्यायें और धर्म ये सब प्राणियों के सब लोक जानते हैं।

देवब्राह्मणसान्निध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान्।
उदङ्मुखान्प्राङ्मुखान्वा पूर्वाह्णे वै शुचिः शुचीन् ॥८७॥

पूर्वाह्ण में न्यायकर्ता पवित्र होकर देवता और ब्राह्मणों के समीप उत्तर या पूर्व की ओर मुँह किये हुए पवित्र द्विजों से सच-सच गवाही देने को कहे।

ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत्सत्यं ब्रूहीति पार्थिवम्।
गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥८८॥

ब्राह्मण गवाह से केवल इतना कहे कि "कहो", क्षत्रिय से कहे कि "सत्य कहो", वैश्य से गौ, बीज और सोना चुराने के पाप की शपथ करावे, और शूद्र से सब पापों की शपथ कराकर साक्ष्य देने को कहे।

ब्रह्मघ्नो ये स्मृता लोका ये च स्त्रीबालघातिनः।
मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य ते ते स्युर्ब्रुवतो मृषा ॥८९॥

ब्रह्मघाती और स्त्री तथा बालकों के बध करने वाले को और मित्रद्रोही तथा कृतघ्न को जो-जो लोक (अर्थात् नरक) प्राप्त होते हैं, वे सब झूठी गवाही देने वाले को प्राप्त होते हैं।

जन्मप्रभृति यत्किञ्चित्पुण्यं भद्र ! त्वया कृतम् ।
तत्ते सर्वं शुनो गच्छेद्यदि ब्रूयास्त्वमन्यथा ॥९०॥

हे सज्जन, यदि तुम अन्यथा बोलेगे (अर्थात् झूठा गवाही दोगे) तो जन्म से आज तक तुमने जो कुछ धर्म किया है वह सब कुत्तों को मिलेगा।

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण ! मन्यसे ।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥९१॥

हे सौम्य, मैं अकेला ही हूँ ऐसा जो तुम मानते हो यह ठीक नहीं, क्योंकि पुण्य पाप को देखने वाला यह (परमात्मा)मुनि सदा तुम्हारे हृदय में स्थित है।

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः ।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गा मा कुरून् गमः ॥९२॥

तुम्हारे हृदय में जो (संयम करने वाला) यम (दण्डधारी) वैवस्वत और (तेजोरूप) देव बैठा हुआ है, उसके साथ यदि तुम्हारा विवाद नहीं है तो गङ्गा या कुरुक्षेत्र मत जाओ।

नग्नो मुण्डः कपालेन भिक्षार्थी क्षुत्पिपासितः ।
अन्धः शत्रुकुलं गच्छेद्यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥९३॥

जो झूठी गवाही देता है, वह अन्धा, शिर को मुड़ाये हुए, नंगा और भूखा-प्यासा होकर भीख माँगने के लिए शत्रु के यहाँ जाता है।

अवाक्शिरास्तमस्यन्धे किल्विषी नरकं व्रजेत् ।
यः प्रश्नं वितथं ब्रूयात्पृष्ठः सन् धर्मनिश्चये ॥९४॥

धर्म के निर्णय में पूछे जाने पर जो झूठ बोलता है। वह नीचा मुँह किये महाघोर अन्धकार नरक में जाता है।

अन्धो मत्स्यानिवाश्नाति स नरः कण्टकैः सह ।
यो भाषतेऽर्थवैकल्यमप्रत्यक्षं सभां गतः ॥९५॥

जो मनुष्य सभा में आँख से न देखी हुई बात को कहता और जानी हुई बात को छिपाता है, वह अन्धे की भाँति काटों सहित मछलियाँ खाता है, अर्थात् जो सुख की इच्छा से पाप करता है। वह पीछे दुःख भोगता है।

यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते ।
तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥९६॥

जिस विद्वान् के बोलते समय उसकी अन्तरात्मा शंकित नहीं होती तो देवता उससे बढ़कर संसार में दूसरे को श्रेष्ठ नहीं जानते।

यावतो बान्धवोन् यस्मिन् हन्ति शाक्ष्येऽनृतं वदन्।
तावतः संख्यया तस्मिञ्छृणु सौम्यानुपूर्वशः ॥९७॥

हे सौम्य झूठा गवाही देने से गवाह किस व्यवहार में कितने बांधवों की हत्या कर डालता है उसको क्रम से सुनो।

पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते।
शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥९८॥

पशुओं के विषय में झूठ बोलने से पांच, गौ के विषय में झूठ बोलने से दस, घोड़े के विषय में झूठ बोलने से सौ और मनुष्य के विषय में झूठ बोलने से एक हजार बांधवों को मारने के पाप का भागी होता है।

हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन्।
सर्वं भूम्यनृते हन्ति मा स्म भूम्यनृतं वदीः ॥९९॥

सुवर्ण के लिये झूठ बोलने से जात-अजात संतति की हत्या का फल पाता है। भूमि के सम्बन्ध में झूठ बोलने से सब प्राणियों को मारने का पाप होता है, इसलिये भूमि के सम्बन्ध में कभी झूठ न बोले।

अप्सु भूमिवदित्याहुः स्त्रीणां भोगे च मैथुने।
अब्जेषु चैव रत्नेषु सर्वेष्वश्ममयेषु च ॥१००॥

जल से उत्पन्न जल के सम्बन्ध में, स्त्रियों के भोग के विषय में, मैथुन के विषय में, रत्नों तथा बहुमूल्य पत्थरों के विषय में झूठ बोलने से मिथ्यावादी को वही होता है जो भूमि के सम्बन्ध में झूठ बोलने से पाप होता है।

एतान् दोषानवेक्ष्य त्वं सर्वाननृतभाषणे।
यथाश्रुतं यथादृष्टं सर्वमेवाञ्जसा वद ॥१०१॥

झूठ बोलने में पूर्वोक्त दोषों को भलीभाँति जानकर तुमने जैसा देखा या सुना हो, सब सच कहो।

गोरक्षकान्वाणिजिकांस्तथा कारुकुशीलवान्।
प्रेष्यान्वार्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत् ॥१०२॥

व्यापार की इच्छा से गौ पालने वाले, वाणिज्य करने वाले, बाँस की टोकरी आदि बनाकर बेचने वाले, नाचने-गाने वाले, सेवा वृत्ति वाले और सूद के पैसे से जीने वाले ब्राह्मणों की गवाही लेते समय न्यायकर्ता इनके साथ शूद्र का-सा बर्ताव करे।

तद्वदन्धर्मतोऽर्थेषु जानन्नप्यन्यथा नरः।
न स्वर्गाच्च्यवते लोकाद्दैवीं वाचं वदन्ति ताम् ॥१०३॥

सच्ची बात को जानता हुआ जो मनुष्य धर्म के लिये झूठ बोलता है वह स्वर्ग से वञ्चित नहीं होता। उस वाणी को दैवीवाणी कहते हैं।

शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां यत्रर्तोक्तो भवेद्वधः।
तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धि सत्याद्विशिष्यते ॥१०४॥

शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण का जहाँ सत्य बोलने से बध होता हो, वहाँ झूठ बोलना ही उचित है। क्योंकि सत्य से वह असत्य श्रेष्ठ है।

वाग्दैवत्यैश्च चरुभिर्यजेरंस्ते सरस्वतीम्।
अनृतस्यैनसस्तस्य कुर्वाणा निष्कृतिं पराम् ॥१०५॥

वे उस मिथ्या भाषणरूपी पाप से उद्धार पाने के लिये वाग्देवता सरस्वती जी के मंत्रों से उनका यज्ञ न करे।

कूष्माण्डैर्वापि जुहुयाद् घृतमग्नौ यथाविधि।
उदित्यृचा वा वारुण्या तृचेनाब्दैवतेन वा ॥१०६॥

कूष्माण्ड मंत्रों से यथाविधि अग्नि में घृत से हवन करे। किंवा 'उदुत्तमं' इस वरुण दैवत मंत्र से जल देवता की तीन ऋचाओं से हवन करे।

त्रिपक्षादब्रुवन्साक्ष्यमृणादिषु नरोऽगदः।
तदृणं प्राप्नुयात्सर्वं दशबन्धं च सर्वतः ॥१०७॥

यदि निरोग मनुष्य ऋणादि के तीन पक्ष के भीतर गवाही दे तो उसीसे सब ऋण महाजन को दिलाना चाहिये और उसीसे राजा को भी सम्पूर्ण ऋण का दसवां हिस्सा दण्डस्वरूप दिलाना चाहिये।

यस्य दृश्येत सप्ताहादुक्तवाक्यस्य साक्षिणः।
रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणमृणं दाप्यो दमं च सः ॥१०८॥

जिस गवाह को गवाही देने से एक सप्ताह के भीतर कोई रोग हो जाय, उसका घर जल जाय अथवा उसके किसी कुटुम्बी की मृत्यु हो जाय, तो भी धनी का ऋण और राजा का दण्ड उसे देना ही होगा।

असाक्षिकेषु त्वर्थेषु मिथो विवदमानयोः।
अविन्दंस्तत्त्वतः सत्यं शपथेनापि लम्भयेत् ॥१०९॥

आपस में झगड़ते हुए वादी-प्रतिवादियों के बीच यदि कोई साक्षी न हों और सत्य बात का पता न लगे तो राजा उनसे शपथ कराकर सत्य का निर्णय करे।

महर्षिभिश्च देवैश्च कार्यार्थं शपथाः कृताः ।
वसिष्ठश्चापि शपथं शेपे पैजवने नृपे ॥११०॥

महर्षि और देवताओं ने भी कार्य के निर्णयार्थ शपथ खायी थी, वशिष्ठ ने भी पिजवन राजा के पुत्र के सामने शपथ की थी।

न वृथा शपथं कुर्यात्स्वल्पेऽप्यर्थे नरो बुधः ।
वृथा हि शपथं कुर्वन्प्रेत्य चेह च नश्यति ॥१११॥

बुद्धिमान् मनुष्य को थोड़ी सी बात के लिये व्यर्थ शपथ नहीं करना चाहिये क्योंकि वृथा शपथ करने वाले इहलोक परलोक दोनों बिगाड़ते हैं।

कामिनीषु विवाहेषु गवां भक्ष्ये तथेन्धने ।
ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च शपथे नास्ति पातकम् ॥११२॥

स्त्रियों के साथ विवाह की बातचीत में, गौओं के लिये घास-भूसा लेने में, होम के लिये लकड़ी लाने में और ब्राह्मणों पर विपत्ति आने पर करे तो उसका पाप नहीं होता।

सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः ।
गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥११३॥

ब्राह्मण से सत्य का शपथ करावे, क्षत्रिय से वाहन तथा शस्त्र की, वैश्य से गौ, अन्न और धन की, और शूद्र से सब पाप लगने की शपथ करवावे।

अग्निं वाहारयेदेनमप्सु चैनं निमज्जयेत् ।
पुत्रदारस्य वाप्येनं शिरांसि स्पर्शयेत्पृथक् ॥११४॥

अथवा उससे अग्नि की परीक्षा शास्त्रोक्त विधि से करावे या पानी में गोता लगवावे, या बेटे और स्त्री के मस्तक पर अलग-अलग हाथ रखवावे।

यमिद्धो न दहत्यग्निरापो नोन्मज्जयन्ति च ।
न चार्तिमृच्छति क्षिप्रं स ज्ञेय शपथे शुचिः ॥११५॥

जिसको आग नहीं जलाती, पानी ऊपर नहीं उठता और जिसे कोई बड़ी पीड़ा नहीं होती, उसे शपथ में पवित्र समझना चाहिये।

वत्सस्य ह्यभिशस्तस्य पुरा भ्रात्रा यवीयसा ।
नाग्निर्ददाह रोमापि सत्येन जगतः स्पशः ॥११६॥

पूर्वकाल में छोटे भाई से अभिशाप लगाये जाने पर (तुम ब्राह्मण नहीं हो शूद्र से उत्पन्न हुए हो) वत्स ऋषि ने अग्नि में प्रवेश किया। संसार के शुभाशुभ कर्म का परीक्षक अग्नि ने सत्य के कारण उनका एक रोम भी नहीं जलाया।

यस्मिन्यस्मिन्विवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत् ।
तत्तत्कार्यं निवर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत् ॥११७॥

जिन-जिन विवादों ने झूठी गवाहियाँ की हो इसका निश्चय होने पर उन-उन विवादों का फिर से विचार करे, क्योंकि वह पहले का किया विचार न किये के बराबर है।

लोभान्मोहाद्भयान्मैत्रात्कामात्क्रोधात्तथैव च ।
अज्ञानाद् बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ॥११८॥

लोभ, मोह, भय, मित्रता, काम, क्रोध, अज्ञात, और भोलेपन से जो गवाही दी जाती है, वह झूठी होती है।

एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ।
तस्य दण्डविशेषांस्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥११९॥

इन पूर्वोक्त कहे कारणों से किसी कारण से जो कोई झूठी गवाही दे, उसको किस अवस्था में क्या दण्ड देना चाहिये, यह क्रम से कहते हैं।

लोभात्सहस्रं दण्ड्यस्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम् ।
भयाद् द्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्रात्पूर्वं चतुर्गुणम् ॥१२०॥

लोभ से झूठी गवाही देने पर एक हजार पण[१] मोह से झूठ बोलने पर प्रथम सहास[२] संख्यक, भय से झूठ बोलने पर दो मध्यम साहस, और मित्रता से झूठी गवाही देने पर प्रथम साहस का चौगुना दण्ड है।

कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम् ।
अज्ञानद् द्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु ॥१२१॥

कामवश झूठी गवाही देने से प्रथम साहस का दस गुना, क्रोध से झूठ बोलने पर मध्यम साहस का तिगुना, अज्ञान से दो सौ पण और मूर्खता के कारण असत्य बोलने से एक सौ पण दण्ड देना चाहिये।

एतानाहुः कौटसाक्ष्ये प्रोक्तान्दण्डान्मनीषिभिः ।
धर्मस्याव्यभिचारार्थमधर्मनियमाय च ॥१२२॥

धर्म की रक्षा और अधर्म के नियंत्रण के लिये कूटसाक्ष्य (झूठी गवाही) में ये दण्ड मुनियों ने बताये हैं।

---

१. पण और साहस कितने का होता है, यह इस अध्याय के १३६वें और १३८वें श्लोक में लिखा है।

कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणाँस्त्रीन्वर्णान्धार्मिको नृपः।
प्रवासयेद्दण्डयित्वा ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥१२३॥

धार्मिक राजा झूठी गवाही देने पर तीनों वर्णों को (क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को) (पूर्वोक्त प्रकार से) दण्ड देकर देश से निकाल दे और ब्राह्मण को केवल देश से निकाल दे।

दश स्थानानि दण्डस्य मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्।
त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥१२४॥

स्वायम्भुव मनु ने दण्ड के जो दस स्थान कहे हैं। (क्षत्रियादि) तीन वर्णों के लिये हैं (ब्राह्मण के लिये नहीं), ब्राह्मण को राजा देश से निकाल भर दे।

उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम्।
चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ॥१२५॥

लिंग, पेट, जीभ, दोनों हाथ, दोनों पैर, आँख, नाक, देह और धन ये दस स्थान दण्ड के हैं।

अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च त्त्वतः।
सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु ातयेत् ॥१२६॥

अपराधी का अपराध, अपराध का स्थान और समय भलीभाँति जानकर तथा अपराधी की दैहिक, साम्पत्तिक सामर्थ्य और अपराध का हल्का या भारी होना यह सब यथार्थ रूप से देखकर अपराधी को दण्ड देने की व्यवस्था करे।

अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्तिनाशनम्।
अस्वर्ग्यं च परत्राणि तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥१२७॥

धर्म विरुद्ध दण्ड देने वाले का संसार में यश और कीर्ति का नाश होता है और मरने पर स्वर्ग भी नहीं मिलता। इसलिये उसका त्याग करे।

अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥१२८॥

निरपराधी को दण्ड देने और अपराधी पुरुषों को दण्ड न देने से राजा को बड़ा अयश होता है और मरने पर नरकगामी होता है।

वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम्।
तृतीयं धर्मदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ॥१२९॥

पहले अपराधी को वाग्दण्ड दे उसके बाद उसे धिक्कारे, उस (पर भी वह अपराध करे तो) फिर उसे धन-दण्ड दे, तत्पश्चात् शारीरिक दण्ड दे।

वधेनापि यदा त्वेतान्निग्रहीतुं न शक्नुयात् ।
तदैषु सर्वमप्येतत्प्रयुञ्जीत चतुष्टयम् ॥१३०॥

यदि किसी अंग के काटने इत्यादि के दण्ड देने पर भी अपराधियों का निग्रह न कर सके तो उन पर पूर्वोक्त चारों दण्डों का प्रयोग करे।

लोकसंव्यवहारार्थं याः संज्ञा प्रथिता भुवि ।
ताम्ररूप्यसुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥१३१॥

लोक में व्यवहार के लिये ताँबा, चाँदी और सोने की जो संज्ञायें प्रसिद्ध हैं उन्हें सम्पूर्ण कहता हूँ।

जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः ।
प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥१३२॥

जाली झरोंखे के भीतर पड़ने वाली सूर्य की किरणों में जो छोटे-छोटे धूलिकण दिखायी देते हैं वैसे एक धूलि कण का मान परिमाण में प्रथम है और उसे त्रसरेणु कहते हैं।

त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिक्षैका परिमाणतः ।
ता राजसर्षपस्तिस्रस्ते त्रयो गौरसर्षपः ॥१३३॥

परिमाण में आठ त्रसरेणुओं की एक लिक्षा, उन तीन लिक्षाओं का एक राजसर्षप और तीन राजसर्षपों का एक गौर सर्षप होता है।

सर्षपाः षट् यवो मध्यस्त्रियवं त्वेककृष्णलम् ।
पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥१३४॥

छः सर्षपों का एक मझोला जव, वैसे तीन जवों की एक रत्ती और पांच रत्तियों का एक मांसा तथा १६ मासे का एक सुवर्ण (तोला) होता है।

पलं सुवर्णाश्चत्वारः पलानि धरणं दश ।
द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषकः ॥१३५॥

चार सुवर्ण का एक पल, दस पल का एक धारण और वजन में दो रत्ती भर चाँदी का एक रौप्य माषक जानना।

ते षोडश स्याद्धरणं पुराणश्चैव राजतः ।
कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः ॥१३६॥

सोलह रौप्य माषकों का एक धरण अर्थात् रौप्य पुराण होता है। एक वर्षभर ताँबे को कार्षापण या पण कहते हैं।

धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस्तु राजतः ।
चतुःसौवर्णिको निष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः ॥१३७॥

दस रौप्य धरण का एक राजत शतमान और चार सुवर्ण का एक निष्क होता है।

पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः ।
मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं त्वेव चोत्तमः ॥१३८॥

ढाई सौ पण का प्रथम साहस, पाँच सौ पण का मध्यम साहस और एक हजार पण का उत्तम साहस होता है।

ऋणे देये प्रतिज्ञाते पञ्चकं शतमर्हति ।
अपह्नवे तद् द्विगुणं तन्मनोरनुशासनम् ॥१३९॥

(विचार-सभा में) ऋण देने की प्रतिज्ञा करने पर ऋण पर प्रतिशत ५ पण दण्ड करे और (सभा में भी) ऋण स्वीकार न करे तो दुगुना अर्थात् १० पण सैकड़े पीछे दण्ड करे। यह मनु की आज्ञा है।

वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद्वित्तविवर्धिनीम् ।
अशीतिभागं गृह्णीयान्मासाद्वार्धुषिकः शते ॥१४०॥

वशिष्ठ ने धन बढ़ाने के निमित्त जितना ब्याज लेने को कहा है, ब्याज पर जीने वाला उतना ही ब्याज ले। अर्थात् महीने में १०० रुपये का अस्सीवाँ भाग १।) सूद ले।

द्विकं शतं वा गृह्णीयात्सतां धर्ममनुस्मरन् ।
द्विकं शतं हि गृह्णानो न भवत्यर्थकिल्विषी ॥१४१॥

अथवा श्रेष्ठ धर्म का स्मरण करने वाला प्रति सैकड़ा दो पण मासिक (ब्याज) ले। क्योंकि दो पण तक मासिक ब्याज लेने वाला पापभागी नहीं होता है।

द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पञ्चकं च शतं समम् ।
मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः ॥१४२॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इन चारों वर्णों से क्रम से दो, तीन, चार और पाँच पण प्रति सैकड़े मासिक ब्याज ले।

न त्वेवाधौ सोपकारे कौसीदीं वृद्धिमाप्नुयात् ।
न चाधेः कालसंरोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः ॥१४३॥

यदि कोई उपकारी वस्तु बन्धक रख कर्ज ले तो महाजन को अलग ब्याज न मिलकर खेत की उपज ही ब्याज में मिलेगी। बहुत समय बीत जाने पर भी गिरवी की चीज दूसरे को दी नहीं जा सकती है और न उसे बेचा ही जा सकता है।

न भोक्तव्यो बलादाधिर्भुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेत् ।
मूल्येन तोषयेच्चैनमाधिस्तेनोऽन्यथा भवेत् ॥ १४४॥

किसी के गिरवी रखे हुए भूषण-वस्त्र का जबर्दस्ती उपभोग न करे, यदि करे तो सूद से बाज आवे। बन्धक की चीज खराब होने पर चीज वाले को उचित मूल्य देकर राजी करे, नहीं तो वह गिरवी का चोर समझा जायेगा।

आधिश्चोपनिधिश्चोभौ न कालात्ययमर्हतः ।
अवहार्यौ भवेतां तौ दीर्घकालमवस्थितौ ॥ १४५॥

गिरवी और उधार दी हुई चीज बहुत काल बीत जानने पर भी चीज वाला जब माँगे, तभी उसे पाने का अधिकारी है।

संप्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन ।
धेनुरुष्ट्रो वहन्नश्वो यश्च दम्यः प्रयुज्यते ॥ १४६॥

गाय, ऊँट, घोड़े और हल जोतने के बैल आदि पशु स्वामी की इच्छा से किसी के द्वारा भोगे जाने पर भी स्वामी का स्वत्व उन पर सदा बना रहता है।

यत्किञ्चिद्दश वर्षाणि सन्निधौ प्रेक्ष्यते धनी ।
भुज्यमानं परैस्तूष्णीं न स तल्लब्धुमर्हति ॥ १४७॥

यदि धनी अपनी किसी चीज को किसी को दस वर्ष तक भोगता हुआ देखे किन्तु बीच में कुछ न बोले तो वह अपनी चीज को वापस नहीं ले सकता है।

अजडश्चेदपोगण्डो विषये चास्य भुज्यते ।
भग्नं तद्व्यवहारेण भोक्ता तद् द्रव्यमर्हति ॥ १४८॥

यदि वह जड़ नहीं और १६ वर्ष से अधिक उम्र का हो तो उसके सामने यदि उसके का धन दूसरा भोगे तो वह धन भोगने वाले का होता है। धनी का अधिकार उस धन पर नहीं रहता।

आधिः सीमा बालधनं निक्षेपोपनिधिः स्त्रियः ।
राजस्वं श्रोत्रियस्वं च न भोगेन प्रणश्यति ॥ १४९॥

गिरवी, गाँव की सीमा, बालक का धन, थाती, उपनिधि अर्थात् किसी बर्तन में रखा हुआ गुप्त धन, दासी, राजस्व और वेदाध्यायी ब्राह्मण का धन किसी के द्वारा भोगा जाने पर भी धनी का स्वत्व नष्ट नहीं होता।

यः स्वामिनाननुज्ञातमाधिं भुङ्क्तेऽविचक्षणः ।
तेनार्धवृद्धिर्भोक्तव्या तस्य भोगस्य निष्कृतिः ॥ १५०॥

जो मूर्ख स्वामी की आज्ञा के बिना गिरों रखी हुई चीज को भोगता है, वह उस भोग के बदले कर्जदार को आधा ब्याज छोड़ दे।

कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहृता ।
धान्ये सदे लवे बाह्ये नातिक्रामति पञ्चताम् ॥१५१॥

यदि एक साथ ही सूद और मूलधन लिया जाता हो तो मूलधन के दूगुने से अधिक ब्याज नहीं देना चाहिये। अनाज, पेड़ों के फल, ऊन और बैल, घोड़े आदि कर्ज लेने पर उनके दाम के पाँचगुने से ज्यादा ब्याज नहीं लेना चाहिये।

कृतानुसारादधिका व्यतिरिक्ता न सिद्ध्यति ।
कुसीदपथमाहुस्तं पञ्चकं शतमर्हति ॥१५२॥

निश्चित ब्याज की दर से अधिक ब्याज नहीं लेना चाहिए। अधिक ब्याज लेने को कुसीद कहते हैं। प्रतिशत पाँच से अधिक ब्याज न लेना चाहिये।

नातिसांवत्सरीं वृद्धिं न चादृष्टां पुनर्हरेत् ।
चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः कारिता कायिका च या ॥१५३॥

अति वार्षिक (प्रत्येक मास या दूसरे या तीसरे मास में ब्याज लेने का नियम करके वर्ष के भीतर ही ब्याज ले लेना चाहिए, वर्ष के बाद अधिक ब्याज बढ़ाकर नहीं लेना चाहिये) ब्याज न लेना चाहिए। पहले से न देखा ब्याज जैसे ब्याज पर ब्याज–सूद दर सूद (चक्रवृद्धि), मासिक नियम न करके कुछ दिनों में ब्याज बढ़ा लेना (कालवृद्धि) मेहनत मजदूरी के रूप में ब्याज लेना (कायिक) और कष्ट देकर ब्याज बढ़वा लेना (कारित)–ऐसा ब्याज न लेना चाहिये।

ऋणं दातुमशक्तो यः कर्तुमिच्छेत्पुनः क्रियाम् ।
स दत्त्वा निर्जितां वृद्धिं करणं परिवर्तयेत् ॥१५४॥

जो ऋण देने में असमर्थ हो फिर से कागज लिख देना चाहे तो पहले का सब ब्याज धनी को कागज बदल दे।

अदर्शयित्वा तत्रैव हिरण्यं परिवर्तयेत् ।
यावती संभवेद् वृद्धिस्तावतीं दातुमर्हति ॥१५५॥

यदि ब्याज का द्रव्य देने में उस समय असमर्थ हो तो जितना ब्याज हुआ हो उतना मूल में जोड़कर कागज बदल दे।

चक्रवृद्धिं समारूढो देशकालव्यवस्थितः ।
अतिक्रामन्देशकालौ न तत्फलमवाप्नुयात् ॥१५६॥

गाड़ी चलाने वाला निश्चित स्थान तक का किराया लेकर यदि उस स्थान तक न पहुँचावे, अथवा किसी को किसी नियम अवधि के लिए गाड़ी दे

और उससे पहले ही उसका काम रोक दे तो गाड़ी वाला कुछ भी पाने का अधिकारी नहीं होता।

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः ।
स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति ॥१५७॥

दूरी और समय के अनुसार भाड़ा और किराया जानने वाले जलस्थल-वाहनों के कुशल पुरुष जो भाड़ा नियत करते हैं वही ठीक माना जाता है।

यो यस्य प्रतिभूस्तिष्ठेद्दर्शनायेह मानवः ।
अदर्शयन्स तं तस्य प्रयच्छेत्स्वधनादृणम् ॥१५८॥

जो मनुष्य जिसका प्रतिभू (जामिन) हो और कर्जदार को सभा में हाजिर न कर सके तो उसे अपने धनी का ऋण चुकावे।

प्रातिभाव्यं वृथादानमाक्षिकं सौरिकं च यत् ।
दण्डशुल्कावशेषं च न पुत्रो दातुमर्हति ॥१५९॥

प्रातिभाव्य (प्रतिभू के नाते जो दण्ड देना पड़े), वृथा दान, नट, भाँड़ आदि का जो कुछ देना हो, आक्षिक (जुये के सम्बन्ध का) सौरिक (मद्य सम्बन्धी), अपराध विशेष का दण्ड और कर विशेष का अवशेष, इन सब देनों का (देनदार का) पुत्र देनदार नहीं होता।

दर्शनप्रातिभाव्ये तु विधिः स्यात्पूर्वचोदितः ।
दानप्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत् ॥१६०॥

उक्त नियम दर्शन प्रतिभू (जमानत करने वाले के) विषय में हुआ। परन्तु दान-प्रतिभू (ऋण दिला देने की जमानत करने वाले) के सम्बन्ध में यह नियम है कि उसके मरने पर उसके पुत्र से वह ऋण दिलाया जाय।

अदातरि पुनर्दाता विज्ञातप्रकृतावृणम् ।
पश्चात्प्रतिभुवि प्रेते परीप्सेत्केन हेतुना ॥१६१॥

जो दान प्रतिभू नहीं है, पर जिसने असामी से उसका मूल ऋण शोधन लायक द्रव्य लेकर यह प्रतिभूत्व किया है यह जान कर जो ऋण असामी को दिया गया वह उस प्रतिभू के मरने पर किस प्रकार से प्राप्त किया जाय।

निरादिष्टधनश्चेत्तु प्रतिभूः स्यादलङ्घनः ।
स्वधनादेव तद्दद्यान्निरादिष्ट इति स्थितिः ॥१६२॥

यदि प्रतिभू (जामिन) को ऋण से उसके ऋण शोधन के बराबर धन मिला हो तो (ऐसे प्रतिभू के मरने पर) उसका पुत्र अपने धन से वह ऋण शोध दे, यही शास्त्र की मर्यादा है।

मत्तोन्मत्तार्ताध्यधीनैर्बालेन स्थविरेण वा।
असंबद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिद्ध्यति ॥१६३॥

मतवाला, पागल, शोकार्त, रोगग्रस्त, सेवक, बालक और वृद्ध इनके साथ उनके घर वालों की सम्मति के बिना जो व्यवहार होता है वह सिद्ध नहीं होता है।

सत्या न भाषा भवति यद्यपि स्यात्प्रतिष्ठिता।
बहिश्चेद्भाष्यते धर्मान्नियताद्व्यावहारिकात् ॥१६४॥

बात पक्की होने पर भी यदि वह धर्मशास्त्र और व्यवहार के विरुद्ध हो तो सत्य नहीं होती।

योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम्।
यत्र वाऽप्युपधिं पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत् ॥१६५॥

छल से कोई चीज बन्धक रखी जाय, या बेची जाय, दान दी जाय या ली जाय, अथवा कपट से कोई व्यवहार किया हो तो उन सभी व्यवहारों को राजा रद्द कर दे।

ग्रहीता यदि नष्टः स्यात्कुटुम्बार्थे कृतो व्ययः।
दातव्यं बान्धवैस्तत्स्यात्प्रविभक्तैरपि स्वतः ॥१६६॥

कुटुम्ब के खर्च के लिए ऋण लेने वाला यदि मर जाय तो आपस में अलग-अलग होने पर भी बान्धवों को अपने-अपने धन से ऋण चुका देना चाहिये।

कुटुम्बार्थेऽध्यधीनोऽपि व्यवहारं यमाचरेत्।
स्वदेशे वा विदेशे वा तं ज्यायान्न विचालयेत् ॥१६७॥

जो किसी के अधीन हो यदि वह अपने स्वामी के कुटुम्ब के लिए ऋण ले तो उसका स्वामी देश में हो या विदेश में, अपने को उस ऋण का देनदार समझे।

बलाद्दत्तं बलाद् भुक्तं बलाद्यच्चापि लेखितम्।
सर्वान्बलकृतानर्थानकृतान्मनुरब्रवीत् ॥१६८॥

बलपूर्वक जो दिया जाय, भोग किया जाय, लिखवाया जाय और सभी काम जो बलपूर्वक किये जायँ वे नहीं करने के बराबर हैं—ऐसा मनुजी ने कहा है।

त्रयः परार्थे क्लिश्यन्ति साक्षिणः प्रतिभूः कुलम्।
चत्वारस्तूपचीयन्ते विप्र आढ्यो वणिङ् नृपः ॥१६९॥

साक्षी, प्रतिभू (जामिन) और कुल (स्वजन) ये तीन परार्थ से क्लेश उठाते हैं, और ब्राह्मण, धनी, वणिक् और राजा ये चार परार्थ से वृद्धि पाते हैं।

अनादेयं नाददीत परिक्षीणोऽपि पार्थिवः ।
न चादेयं समृद्धोऽपि सूक्ष्ममप्यर्थमुत्सृजेत् ॥ १७० ॥

निर्धन होने पर भी राजा न लेने योग्य वस्तु को न ले, और समृद्ध होने पर भी लेने योग्य छोटी-सी वस्तु भी न छोड़े।

अनादेयस्य चादानादादेयस्य च वर्जनात् ।
दौर्बल्यं ख्याप्यते राज्ञः स प्रेत्येह च नश्यति ॥ १७१ ॥

न लेने योग्य वस्तु के लेने से और लेने योग्य वस्तु के न लेने से राजा की दुर्बलता प्रकट होती है, उसके लोक-परलोक दोनों नष्ट होते हैं।

स्वादानाद्वर्णसंसर्गात्त्वबलानां च रक्षणात् ।
बलं संजायते राज्ञः स प्रेत्येह च वर्धते ॥ १७२ ॥

प्राप्त धन लेने से, स्वजातियों के साथ सम्बन्ध रखने से और दुर्बलों की रक्षा करने से राजा का बल बढ़ता है और इहलोक परलोक सुधरते हैं।

तस्माद्यम इव स्वामी स्वयं हित्वा प्रियाप्रिये ।
वर्तेत याम्यया वृत्त्या जितक्रोधो जितेन्द्रियः ॥ १७३ ॥

इसलिए यम के सदृश राजा को अपना प्रिय-अप्रिय त्याग कर जितक्रोध और जितेन्द्रिय होकर यम के समान वृत्ति से रहना चाहिये।

यत्स्वधर्मेण कार्याणि मोहात्कुर्यान्नराधिपः ।
अचिरात्तं दुरात्मानं वशे कुर्वन्ति शत्रवः ॥ १७४ ॥

जो राजा मोहान्ध होकर अधर्म पूर्वक कार्य करता है उस दुरात्मा को शत्रुगण शीघ्र ही अपने वश में कर लेते हैं।

कामक्रोधौ तु संयम्य योऽर्थान्धर्मेण पश्यति ।
प्रजास्तमनुवर्तन्ते समुद्रमिव सिन्धवः ॥ १७५ ॥

जो राजा काम-क्रोध का संयम करके धर्म से सब कामों को देखता है उसका अनुकरण प्रजा भी उसी प्रकार करती हुई चलती है, जैसे नदियाँ समुद्र के पीछे।

यः साधयन्तं छन्देन वेदयेद्धनिकं नृपे ।
स राज्ञा तच्चतुर्भागं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ॥ १७६ ॥

जो ऋणी अपनी इच्छा से अपने ऐसे महाजन की राजा से शिकायत कर दे जो वास्तव रीति से ऋण वसूल कर रहा हो, तो राजा उसके ऋण का चौथा भाग उसके ऊपर दंड करके महाजन का कर्ज उससे दिला दे।

कर्मणाऽपि समं कुर्याद्धनिकायाधमर्णिकः ।
समोऽवकृष्टजातिस्तु दद्याच्छ्रेयांस्तु तच्छनैः ॥१७७॥

यदि कर्जदार महाजन का सजातीय या नीच जाति का हो तो उसका काम करके भी ऋण चुका दे। यदि उत्तम जाति का हो तो वह अपने से हीन जाति के महाजन की सेवा न करके थोड़ा-थोड़ा ऋण चुका दे।

अनेन विधिना राजा मिथो विवदतां नृणाम् ।
साक्षिप्रत्ययसिद्धानि कार्याणि समतां नयेत् ॥१७८॥

इसी विधि से राजा परस्पर झगड़ते हुए पुरुषों का साक्षी और प्रमाणों के द्वारा व्यवहार का निर्णय करे।

कुलजे वृत्तसम्पन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि ।
महापक्षे धनिन्यार्ये निक्षेपं निक्षिपेद् बुधः ॥१७९॥

चतुर मनुष्य को कुलीन, सच्चरित्र, धर्मज्ञ, सत्यवादी, बहुकुटुम्बी, धनवान् और सरल स्वभाव वाले के पास धन जमा करना चाहिये।

यो यथा निक्षिपेद्धस्ते यमर्थं यस्य मानवः ।
स तथैव ग्रहीतव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥१८०॥

जो मनुष्य जिस प्रकार जिसके हाथ में जिस लिये धन सौंपे, वह उसी प्रकार से उससे ले, क्योंकि जैसे देना वैसे लेना यही नीति है।

यो निक्षेपं याच्यमानो निक्षेप्तुर्न प्रयच्छति ।
स याच्यः प्राड्विवाकेन तन्निक्षेप्तुरसन्निधौ ॥१८१॥

धरोहर धरने वाले के माँगने पर यदि महाजन उसे धरोहर न दे तो न्यायकर्ता धरोहर धरने वाले के परोक्ष में महाजन से वह धरोहर माँगे।

साक्ष्यभावे प्रणिधिभिर्वयोरूपसमन्वितैः ।
अपदेशैश्च संन्यस्य हिरण्यं तस्य तत्त्वतः ॥१८२॥

धरोहर में साक्षी का अभाव हो तो न्यायकर्ता अपने रूपवान् नवयुवक चरों द्वारा छलपूर्वक उसके पास सोना धरोहर रखवावे और फिर उन्हीं द्वारा वह धरोहर मँगवावे।

स यदि प्रतिपद्येत यथान्यस्तं यथाकृतम् ।
न तत्र विद्यते किंचिद्यत्परैरभियुज्यते ॥१८३॥

वह महाजन यदि धरोहर की चीज जैसी रखी गयी हो वैसी ही दे दे तो न्यायकर्ता को समझना चाहिये कि धरोहर वाले ने जो उस पर अपनी धरोहर की नालिश की है वह झूठी है।

तेषां न दद्याद्यदि तु तद्धिरण्यं यथाविधि ।
उभौ निगृह्य दाप्यः स्यादिति धर्मस्य धारणा ॥१८४॥

यदि राजदूतों की धरी हुई सोने की धरोहर को वह न दे तो न्यायकर्ता उस महाजन से दोनों की धरोहर दिला दे, यही धर्म का निश्चय है।

निक्षेपोपनिधी नित्यं न देयो प्रत्यनन्तरे ।
नश्यतो विनिपाते तावनिपाते त्वनाशिनौ ॥१८५॥

निक्षेप और उपनिधि[१] जिसकी रखी हुई हो, उसी को दे। उसके जीते ही उसके उत्तराधिकारी को न दे। क्योंकि धरोहर रखने वाला जब तक जीता है तबतक उस पर उसी का पूरा अधिकार रहता है, किन्तु मरने पर उसका अधिकार नष्ट हो जाता है।

स्वयमेव तु यो दद्यान्मृतस्य प्रत्यनन्तरे ।
न स राज्ञा नियोक्तव्यो न निक्षेप्तुश्च बन्धुभिः ॥१८६॥

जो महाजन धरोहर रखने वाले के मरने पर उत्तराधिकारी को धरोहर दे दे तो धरोहर रखने वाले के बन्धु या राजा को उसपर वृथा अन्य वस्तुओं का अभियोग नहीं लगाना चाहिये।

अच्छलेनैव चान्विच्छेत्तमर्थं प्रीतिपूर्वकम् ।
विचार्य तस्य वा वृत्तं साम्नैव परिसाधयेत् ॥१८७॥

निश्छलभाव से प्रसन्नता पूर्वक उस धन का निश्चय करे, या उस धरोहर धरने वाले के व्यवहार को जानकर साम प्रयोग से धरोहर का पता लगावे।

निक्षेपेष्वेषु सर्वेषु विधिः स्यात्परिसाधने ।
समुद्रे नाप्नुयात्किञ्चिद्यदि तस्मान्न संहरेत् ॥१८८॥

सभी धरोहरों को प्रमाणित करने के लिये यह विधि कही गयी, किंतु मुहर की हुई धरोहर में से कुछ न लें तो उस पर कोई दोष नहीं लगाया जा सकता।

चौरैर्हृतं जलेनोढमग्निना दग्धमेव वा ।
न दद्याद्यदि तस्मात्स न संहरति किञ्चन ॥१८९॥

चोर चुरा ले या जल में बह जाय, या आग में जल जाय तो धरोहर धरने वाला वह नहीं दे सकता। यदि उसमें से कुछ लिया न हो।

निक्षेपस्यापहर्तारमनिक्षेप्तारमेव च ।
सर्वैरुपायैरन्विच्छेच्छपथैश्चैव वैदिकैः ॥१९०॥

१. जो चीज बन्द करके मोहर छाप लगाकर रखने के लिये दी जाती है तब उसे उपनिधि कहते हैं।

धरोहर मारने वाले और धरोहर न रखकर माँगने वाले को राजा वैदिक शपथ और सामादिक उपायों से जाँचकर सत्यासत्य का निरूपण करे।

यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते।
तावुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम् ॥१९१॥

जो धरोहर को नहीं देता और जो धरोहर न देकर माँगता है, वे दोनों चोर के तुल्य दण्डनीय हैं या उनसे राजा उस द्रव्य के बराबर जुर्माना ले।

निक्षेपस्यापहर्त्तारं तत्समं दापयेद्दमम्।
तथोपनिधिहर्तारमविशेषेण पार्थिवः ॥१९२॥

धरोहर न देने वाले को राजा उस (निक्षेप) के बराबर द्रव्य दण्ड करे। वैसे ही उपनिधि हरने वाले को भी उसीके तुल्य जुर्माना करे।

उपधाभिश्च यः कश्चित्परद्रव्यं हरेन्नरः।
ससहायः स हन्तव्यः प्रकाशं विविधैर्वधैः ॥१९३॥

जो कोई पुरुष दूसरे के धन को धोखा देकर हरण करता है, राजा उसे और उसके सहायकों को बहुत लोगों के सामने विविध प्रकार की दैहिक यंत्रणा देकर मार डाले।

निक्षेपो यः कृतो येन यावांश्च कुलसन्निधौ।
तावानेव स विज्ञेयो विब्रुवन्दण्डमर्हति ॥१९४॥

जिसने जितना धन साक्षी के सामने धरोहर रखा हो, साक्षी के कहने पर उसे धरोहर रखने वाले से उतना ही मिलना चाहिये। अधिक माँगने वाला दण्डभागी होता है।

मिथो दायः कृतो येन गृहीतो मिथ एव वा।
मिथ एव प्रदातव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥१९५॥

जिसने एकान्त में धन रखने के लिये दिया हो और धरोहर धरने वाला भी एकान्त में उस धन को लिया हो, तो वह एकान्त में ही देना चाहिये तो जिस प्रकार देना उसी प्रकार लेना।

निक्षिप्तस्य धनस्यैव प्रीत्योपनिहितस्य च।
राजा विनिर्णयं कुर्यादक्षिण्वन्न्यासधारिणम् ॥१९६॥

धरोहर और अपनी खुशी से भोगने के लिये दी हुई वस्तु के विषय में राजा को ऐसा निर्णय करना चाहिये जिसमें धरोहर धरने वाले को दुःख न हो।

विक्रीणीते परस्य स्वं योऽस्वामी स्वाम्यसंमतः।
न तं नयेत साक्ष्यं तु स्तेनमस्तेनमानिनम् ॥१९७॥

जो माल मालिक की आज्ञा के बिना दूसरे का माल बेचता है, वह अपने को चोर न मानता हुआ भी चोर है। उसे किसी भी कार्य में साक्षी न बनाना चाहिये।

अवहार्यो भवेच्चैव सान्वयः षट्शतं दमम्।
निरन्वयोऽनपसरः प्राप्तः स्याच्चौरकिल्विषम् ॥१९८॥

यदि दूसरे का धन बेचने वाला, धनस्वामी का सम्बन्धी हो तो राजा उस पर ६०० पण दण्ड करे। यदि उससे स्वामी का कोई सम्बन्ध न हो और न उस धन से उसका किसी प्रकार का लगाव हो तो वह चोर के समान अपराधी है।

अस्वामिना कृतो यस्तु दायो विक्रय एव वा।
अकृतः स तु विज्ञेयो व्यवहारे यथा स्थितिः ॥१९९॥

जो जिस धन का मालिक नहीं है, उसका दिया या बेचा हुआ धन व्यवहार की मर्यादा के विरुद्ध होने से न देने और न बेचने के बराबर है।

सम्भोगो दृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्वचित्।
आगमः कारणं तत्र सम्भोग इति स्थितिः ॥२००॥

जहाँ पर किसी वस्तु का सम्भोग देखा जाता हो, किन्तु उसके आगम का कोई प्रमाण न पाया जाता हो, वहाँ आगम ही कारण माना जाता है, भोग नहीं। यही शास्त्र की आज्ञा है।

विक्रयाद्यो धनं किञ्चिद् गृह्णीयात्कुलसन्निधौ।
क्रयेण स विशुद्धं हि न्यायतो लभते धनम् ॥२०१॥

आढ़त से मूल्य देकर व्यापारियों के सामने जो कुछ माल खरीदा जाता है, वह न्याय से पाने के कारण विशुद्ध है।

अथ मूलमनाहार्यं प्रकाशक्रयशोधितः।
अदण्ड्यो मुच्यते राज्ञा नाष्टिको लभते धनम् ॥२०२॥

माल बेचने वाले का पता न लगे पर यह निश्चित हो कि बाजार में ही उसे दाम देकर खरीददार ने खरीदा है तो वह खरीददार दण्ड का भागी नहीं होता। उसे बिना दण्ड दिये छोड़ देना चाहिये और असल में जिसका वह माल है उसे वापस दे देना चाहिये।

नान्यदन्येन संसृष्टरूपं विक्रयमर्हति।
न चासारं न च न्यूनं न दूरेण तिरोहितम् ॥२०३॥

बनियाँ किसी चीज में दूसरी चीज मिलाकर नकली चीज को अच्छी कहकर, दूर से नकली चीज दिखाकर, असली दर पर या तौल में कोई चीज कम करके नहीं बेच सकता।

अन्यां चेद्दर्शयित्वाऽन्या वोढुः कन्या प्रदीयते।
उभे त एक शुल्केन वहेदित्यब्रवीन्मनुः ॥२०४॥

अच्छी लड़की को दिखाकर वर का ब्याह किसी दूसरी लड़की से कर दे तो वह उसी एक ही खर्च से दोनों लड़कियों के साथ व्याह कर ले, यह मनुजी ने कहा है।

नोन्मत्ताया न कुष्ठिन्या न च या स्पृष्टमैथुना।
पूर्वं दोषानभिख्याप्य प्रदाता दण्डमर्हति ॥२०५॥

जो कन्या पगली है, कुष्ठरोगिणी है और पुरुष के साथ जिसका समागम हो चुका है, इन दोषों को विवाह के पहले वर से न कहने वाला दाता दण्ड पाने का अधिकारी होता है।

ऋत्विग्यदि वृतो यज्ञे स्वकर्म परिहापयेत्।
तस्य कर्मानुरूपेण देयोंऽशः सह कर्तृभिः ॥२०६॥

यदि यज्ञ में वरण किया हुआ ऋत्विज किसी कारण से अपना कर्म करना छोड़ दे तो अन्य ऋत्विजों के साथ उसके कर्म के अनुसार दक्षिणा का अंश दिया जाना चाहिये।

दक्षिणासु च दत्तासु स्वकर्म परिहापयन्।
कृत्स्नमेव लभेतांशमन्येनैव च कारयेत् ॥२०७॥

यदि दक्षिणा दे दी जाने पर भी ऋत्विज अपने कर्म को पूरा न कर सके तो वह दक्षिणा के सब अंश को रखे, परन्तु कर्म का शेष भाग दूसरे से पूरा करावे।

यस्मिन्कर्मणि यास्तु स्युरुक्ताः प्रत्यङ्गदक्षिणाः।
स एव ता आददीत भजेरन्सर्व एव वा ॥२०८॥

जिस कर्म में जिस अङ्ग को जो दक्षिणा कही है, वह ऋत्विज आप ले या सब मिलकर आपस में बाँट लें।

रथं हरेत चाध्वर्युर्ब्रह्माधाने च वाजिनम्।
होता वाऽपि हरेदश्वमुद्गाता चाप्य नः क्रये ॥२०९॥

किसी आधान में अध्वर्यु को रथ, ब्रह्मा को और हवन करने वाले को भी घोड़ा तथा उद्‌गाता को गाड़ी और सोमक्रय करने वाले को गाड़ी लेना चाहिये।

सर्वेषामर्धिनो मुख्यास्तदर्धेनार्धिनोऽपरे।
तृतीयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थांशाश्च पादिनः ॥२१०॥

यज्ञ के सोलह ऋत्विजों में जो चार ऋत्विज मुख्य हैं उन्हें आधी

दक्षिणा, द्वितीय श्रेणी के चार ऋत्विज उसकी आधी, तृतीय श्रेणी के चार ऋत्विज उसकी तिहाई और चतुर्थ श्रेणी के चार ऋत्विज उसकी चौथाई दक्षिणा पाने के अधिकारी होते हैं।

सम्भूय स्वानि कर्माणि कुर्वद्भिरिह मानवैः ।
अनेक विधियोगेन कर्तव्यांशप्रकल्पना ॥ २११ ॥

एक साथ मिलकर काम करने वाले मनुष्यों को भी आपस में इसी उपर्युक्त नियम के अनुसार अंश का निर्णय करना चाहिये।

धर्मार्थं येन दत्तं स्यात्कस्मैचिद्याचते धनम् ।
पश्चाच्च न तथा तत्स्यान्न देयं तस्य तद्भवेत् ॥ २१२ ॥

यदि कोई किसी के माँगने पर धर्मकार्य के लिये धन दे, पीछे वह उस धन को उक्त धर्मकार्य में न लगावे तो वह देय नहीं होता, जिस दाता का दिया वह है उसी का होता है।

यदि संसाधयेत्तत्तु दर्पाल्लोभेन वा पुनः ।
राज्ञा दाप्यः सुवर्णं स्यात्तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः ॥ २१३ ॥

यदि वह अभिमान या लोभ से उस धन को न लौटावे तो राजा उसको चोरी के पाप से उद्धार पाने के लिये एक स्वर्ण दण्ड करे।

दत्तस्यैषोदिता धर्म्या यथावदनुपक्रिया ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपक्रियाम् ॥ २१४ ॥

यह दिये हुए पदार्थों को धर्मपूर्वक समर्पित न करने की बात कही गयी। इसके अनन्तर वेतन न देने का विषय कहते हैं।

भृतो नार्तो न कुर्याद्यो दर्पात्कर्म यथोदितम् ।
स दण्ड्यः कृष्णलान्यष्टौ न देयं चास्य वेतनम् ॥ २१५ ॥

जो नौकर स्वस्थ रहने पर भी अहङ्कार से कहा हुआ काम न करे तो, राजा उसे आठ कृष्णल दण्ड करे और वेतन न दे।

आर्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन् यथाभाषितमादितः ।
स दीर्घस्यापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम् ॥ २१६ ॥

पीड़ित व्यक्ति स्वस्थ होने पर पहले कहे अनुसार अपना काम करे तो वह अपने बहुत दिनों के बाकी वेतन को भी पाता है।

यथोक्तमार्तः सुस्थो वा यस्तत्कर्म न कारयेत् ।
न तस्य वेतनं देयमल्पोनस्यापि कर्मणः ॥ २१७ ॥

रोगी होने पर कहे हुए कार्य को दूसरे से न करावे, किंतु स्वस्थ होने पर स्वयं उस काम को पूरा करे तो जो काम शेष रह जाय उसका वेतन उसको नहीं देना चाहिये।

एष धर्मोऽखिलेनोक्तो वेतनादानकर्मणः।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धर्मं समयभेदिनाम् ॥२१८॥

वेतन देने-लेने की सब व्यवस्था कही गयी, अब प्रतिज्ञाभङ्ग करने वालों की व्यवस्था कहता हूँ।

यो ग्रामदेशसङ्घानां कृत्वा सत्येन संविदम्।
विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥२१९॥

जो मनुष्य ग्राम-देश समूह का सत्यता से काम करने की प्रतिज्ञा करे, पीछे वह लोभ से हट जाय तो राजा उसे अपने राज्य से निकाल दे।

निगृह्य दापयेच्चैनं समयव्यभिचारिणम्।
चतुःसुवर्णान्षण्णिष्कांश्छतमानं च राजतम् ॥२२०॥

ऐसे समयानुसार काम न करने वाले को कारागार में डाल कर उससे चार सुवर्ण, छः निष्क और तीन सौ बीस रत्ती चाँदी वसूल करे।

एतद्दण्डविधिं कुर्याद्धार्मिकः पृथिवीपतिः।
ग्रामजातिसमूहेषु समयव्यभिचारिणाम् ॥२२१॥

धार्मिक राजा ग्राम-जाति समूह में प्रतिज्ञा भङ्ग करने वाले को यह पूर्वोक्त दण्ड की व्यवस्था करे।

क्रीत्वा विक्रीय वा किञ्चिद्यस्येहानुशयो भवेत्।
सोऽन्तर्दशाहात्तद् द्रव्यं दद्याच्चैवाददीत वा ॥२२२॥

यदि किसी को कोई चीज खरीद कर या बेच कर पश्चात्ताप हो तो वह उस चीज को दस दिन के भीतर सौदागर को लौटा दे या खरीदार से वापस ले ले।

परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत्।
आददानो ददच्चैव राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥२२३॥

यदि खरीदने वाला खरीदी हुई चीज को दस दिन के अन्दर न लौटावे और न महाजन बिकी हुई चीज को वापस ले तो राजा उसपर ६०० पण दण्ड करे।

यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्याय प्रयच्छति।
तस्य कुर्यान्नृपो दण्डं स्वयं षण्णवतिं पणान् ॥२२४॥

जो पुरुष दोषवती कन्या का दोष वर को बिना बताये ही उसे दान करे तो उसको राजा ९६ पण दण्ड करे।

अकन्येति तु यः कन्यां ब्रूयाद् द्वेषेण मानवः।
स शतं प्राप्नुयाद्दण्डं तस्या दोषमदर्शयन्॥२२५॥

जो कोई द्वेष से कन्या को अकन्या (अर्थात् क्षतयोनि कहकर) मिथ्या दोष लगावे तो राजा कन्या के दोष पर कुछ विचार न कर दोष लगाने वाले पर १०० पण जुर्माना करे।

पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः।
नाकन्यासु क्वचिन्नृणां लुप्तधर्मक्रिया हि ताः॥२२६॥

विवाह के जितने मन्त्र हैं वे कन्याओं के ही लिये कहे गये हैं। अकन्या के लिये नहीं; क्योंकि उनका धर्म पहले ही लुप्त हो चुका है।

पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम्।
तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे॥२२७॥

विवाह के मन्त्र निश्चित रूप से पत्नीत्व के कारण हैं। उन मन्त्रों की निष्ठा कन्या के (सप्तपदी के) सातवें पद में पण्डितों को जानना चाहिये।

यस्मिन्यस्मिन्कृते कार्ये यस्येहानुशयो भवेत्।
तमनेन विधानेन धर्म्ये पथि निवेशयेत्॥२२८॥

केवल क्रय-विक्रय में ही नहीं, दूसरे व्यवहारों में भी जिसका अपनी भूल पर पश्चात्ताप हो, राजा उसे इसी पूर्वोक्त नियम के अनुसार धर्ममार्ग में स्थापित करे।

पशुषु स्वामिनां चैव पालानां च व्यतिक्रमे।
विवादं संप्रवक्ष्यामि यथावद्धर्मतत्त्वतः॥२२९॥

गाय आदि पशुओं के पालन करने वालों और उनके स्वामियों के बीच किसी प्रकार का व्यतिक्रम होने पर जो विवाद उपस्थित होता है, अब उसकी धर्म की रीति से व्यवस्था कहते हैं।

दिवा वक्तव्यता पाले रात्रौ स्वामिनि तद्गृहे।
योगक्षेमेऽन्यथा चेत्तु पालो वक्तव्यतामियात्॥२३०॥

दिन में पशु को चराते समय अगर कोई उपद्रव पशु को हो जाय तो उसकी जिम्मेदारी चरवाहे पर है, और शाम को मालिक के बाँध देने पर अगर पशु को कोई बात हो जाय तो उसकी जवाबदेही मालिक के ऊपर है और यदि दिन रात चरवाहे के ही यहाँ रहे तो उसका उत्तरदायी वही होता है।

गोपः क्षीरभृतौ यस्तु स दुह्याद्दशतो वराम्।
गोस्वाम्यनुमते भृत्यः सा स्यात्पालेऽभृते भृतिः ॥२३१॥

जो गोपाल दूध ही पर नौकरी करना चाहे तो प्रत्येक दस गौवों में जो अच्छी गौ हो उसका दूध वह स्वामी की आज्ञा से ले लेवे। वही उसका वेतन होगा।

नष्टं विनष्टं कृमिभिः श्वहतं विषमे मृतम्।
हीनं पुरुषकारेण प्रदद्यात्पाल एव तु ॥२३२॥

यदि चरवाहे से कोई पशु खो जाय, या कीड़ों के या कुत्तों के काटने से नष्ट हों, या ऊँचे नीचे स्थान में गिरकर मर जाय, या पालक की लापरवाही से कहीं बिछुड़ जाय अथवा कहीं चली जाय, तो उस पशु का मूल्य चराने वाले को पशु के मालिक को देना चाहिये।

विघुष्य तु हृतं चौरैर्न पालो दातुमर्हति।
यदि देशे च काले च स्वामिनः स्वस्य शंसति ॥२३३॥

यदि चोर के पशु चुराने के समय को शोरगुल मचाकर मालिक से खबर दे दे तो वह उस पशु का मूल्य नहीं दे सकता है।

कर्णौ चर्म च बालांश्च बस्तिं स्नायुं च रोचनाम्।
पशुषु स्वामिनां दद्यान्मृतेष्वङ्गानि दर्शयेत् ॥२३४॥

पशुओं के अपने से मर जाने पर उनके कान, चमड़ा, ऊन, वस्ति, स्नायु और रोचन स्वामियों को दे दे और उनका चिह्न सींग, खुर आदि भी दिखलावे।

अजाविके तु संरुद्धे वृकैः पाले त्वनायति।
यां प्रसह्य वृको हन्यात्पाले तत्किल्विषं भवेत् ॥२३५॥

यदि भेड़िये भेड़-बकरी आदि पालित पशु को घेर ले और पालक उनके बचाने को न आवे, तो भेड़िया जिस भेड़-बकरी को मारे, उसका दोष पशुपालक को होगा।

तासां चेदवरुद्धानां चरन्तीनां मिथो वने।
यामुत्प्लुत्य वृको हन्यान्न पालस्तत्र किल्विषी ॥२३६॥

जिन भेड़-बकरियों को जङ्गल में घेर कर चरवाहा चरा रहा हो, उसी समय यदि भेड़िया कूदकर किसी भेड़ या बकरी को मार डाले तो चरवाहे का इसमें दोष नहीं।

धनुःशतं परीहारो ग्रामस्य स्यात्समन्ततः।
शम्यापातास्त्रयो वाऽपि त्रिगुणो नगरस्य तु ॥२३७॥

गाँव के चारो तरफ १०० धनुष[१] अथवा तीन बार लाठी फेंकने से जितनी दूर तक जा सके, उतनी ही जगह गोचर के लिये छोड़ देवे नगर के समीप इसकी तिगुनी भूमि गोचर के लिये रखे।

तत्रापरिवृतं धान्यं विहिंस्युः पशवो यदि।
न तत्र प्रणयेद्दण्डं नृपतिः पशुरक्षिणाम् ॥२३८॥

वहाँ बिना भेंड़ के खेत का बोया धान यदि पशु नष्ट करें तो इसके लिए राजा पशुपालकों को दण्ड न दे।

वृतिं तत्र प्रकुर्वीत यामुष्ट्रो न विलोकयेत्।
छिद्रं च वारयेत्सर्वं श्वसूकरमुखानुगम् ॥२३९॥

वहाँ अर्थात् गोचर भूमि में खेत की मेंढ़ इतनी ऊँची कर दे कि जिसके भीतर के धान को ऊँट न देख सके और उसमें ऐसे छिद्र न रहने दे जिसमें कुत्ते और सूअर का मुँह घुस सके।

पथि क्षेत्रे परिवृते ग्रामान्तीयेऽथवा पुनः।
स पालः शतदण्डार्हो विपालान्वारयेत्पशून् ॥२४०॥

रास्ते में या गाँव के समीप, पेड़ से घिरे हुए खेत में चरवाहे को साथ रहते हुए भी धान को नष्ट करे तो राजा उस पशुपालक पर १०० पण दण्ड करे। यदि चरवाहा साथ में न हो तो खेत का रक्षक पशुओं को खेत में आने से रोक दे।

क्षेत्रेष्वन्येषु तु पशुः सपादं पणमर्हति।
सर्वत्र तु सदो देयः क्षेत्रिकस्येति धारणा ॥२४१॥

इसके अतिरिक्त दूसरे खेतों को पशु नष्ट करे तो पशु के स्वामी को सवा पण दण्ड देना चाहिए। यदि पशु सारा खेत नष्ट कर दे तो नुकसान की पूरी रकम पशुस्वामी को देना पड़ेगा। यही न्याय है।

अनिर्दशाहां गां सूतां वृषान्देवपशूँस्तथा।
सपालान्वा विपालान्वा न दण्ड्यान्मनुरब्रवीत् ॥२४२॥

दस दिन के भीतर व्यायी गौ, वृषभ (साँढ़ और देवताओं के निमित्त रखे हुए पशु, ये पालक-सहित हों या पालक रहित, खेत चरने पर दण्ड के योग्य नहीं हैं ऐसा मनुजी ने कहा है।

१. चार हाथ का धनुष होता है।

क्षेत्रियस्यात्यये दण्डो भागाद्दशगुणो भवेत्।
ततोऽर्धदण्डो भृत्यानामज्ञानात्क्षेत्रिकस्य तु ॥२४३॥

यदि कृषक की लापरवाही से फल मारी जाय तो उसमें जितना राजा का भाग मिलता हो, उसका दस गुना वह किसान से ले। किसान के न जानते हुए नौकरों के दोष से खेत में उपज न हो तो किसान से पाँच गुना दण्ड ले।

एतद्विधानमातिष्ठेद्धार्मिकः पृथिवीपतिः।
स्वामिनां च पशूनां च पालानां च व्यतिक्रमे ॥२४४॥

स्वामी, पशु और पालकों के दोष में धार्मिक राजा को ऊपर कहे नियमों का पालन करना चाहिये।

सीमां प्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः।
ज्येष्ठे मासि नयेत्सीमां सुप्रकाशेषु सेतुषु ॥२४५॥

दो गाँव के बीच में सीमा का झगड़ा खड़ा होने पर ज्येष्ठ मास में जब कि सीमा का चिन्ह स्पष्ट दिखाई पड़े उस समय इसका निर्णय करे।

सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकान्।
शाल्मलीन्सालतालांश्च क्षीरिणश्चैव पादपान् ॥२४६॥

वट, पीपल, सेमर, सखुवा, ताल और दूध वाले वृक्ष, सीमा के चिह्न के लिए सीमा पर लगाने चाहिये।

गुल्मान्वेणूंश्च विविधाञ्छमीवल्लीस्थलानि च।
शरान्कुब्जकगुल्मांश्च तथा सीमा न नश्यति ॥२४७॥

सीमा पर गूलर के पेड़, बाँस, विविध भाँति के शमीवृक्ष लताएँ, ऊँचे टीले, सरपत और टेढ़े वृक्ष रहें तो सीमा नष्ट नहीं होती है।

तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च।
सीमासन्धिषु कार्याणि देवतायतनानि च ॥२४८॥

सीमा के सन्धि स्थान में पोखर, कुँए, बावली, नहर और देवताओं के मन्दिर बनवाना चाहिये।

उपच्छन्नानि चान्यानि सीमालिङ्गानि कारयेत्।
सीमाज्ञाने नृणां वीक्ष्य नित्यं लोके विपर्ययम् ॥२४९॥

संसार में लोगों को सीमा के ज्ञान में नित्य भूलते देखकर राजा को चाहिये कि और भी सीमा के अनेक गुप्त चिह्न करा दे।

अश्मनोऽस्थीनि गोवालाँस्तुषान्भस्मकपालिकाः ।
करीषमिष्टकाङ्गारांश्छर्करा बालुकास्तथा ॥ २५० ॥
यानि चैवं प्रकाराणि कालाद्भूमिर्न भक्षयेत् ।
तानि सन्धिषु सीमायामप्रकाशानि कारयेत् ॥ २५१ ॥

पत्थर, हड्डी, चामर, भूसी, राख, खोपड़ी, सूखे कंडे, ईंट, कोयले, कङ्कड़ और बालू तथा ऐसे ही अन्य पदार्थ भी जिन्हें पृथिवी अपने रूप में न मिला सके उन्हें सीमा के संधि स्थान में गुप्त रीति से गड़वा दे।

एतैर्लिङ्गैर्नयेत्सीमां राजा विवदमानयोः ।
पूर्वभुक्त्या च सततमुदकस्यागमेन च ॥ २५२ ॥

परस्पर गाँव के सीमा के विषय में झगड़ते हुए लोगों का राजा इन उपर्युक्त चिह्नों से तथा पहले का दखल, कब्जा और जल के प्रवाह को देखकर सीमा का निश्चय करे।

यदि संशय एव स्याल्लिङ्गानामपि दर्शने ।
साक्षीप्रत्यय एवं स्यात्सीमावादविनिर्णयः ॥ २५३ ॥

यदि सीमा के चिन्ह्नों को देखकर भी संदेह रहे तो गवाह लोगों से प्रमाण लेकर सीमा के विवाद का निपटारा करे।

ग्रामीयककुलानां च समक्षं सीम्नि साक्षिणः ।
प्रष्टव्या सीमलिङ्गानि तयोश्चैव विवादिनोः ॥ २५४ ॥

ग्रामवासियों के सामने राजा साक्षियों से उन दोनों झगड़ते हुए लोगों के ग्राम के ग्राम की सीमा के चिह्न पूछे।

ते पृष्ठास्तु यथा ब्रूयुः समस्ताः सीम्नि निश्चयम् ।
निबध्नीयात्तथा सीमां सर्वास्तांश्चैव नामतः ॥ २५५ ॥

पूछे जाने पर साक्षी लोग जिस तरह जो सीमा का निश्चय बतावें, राजा उसी तरह सीमा के चित्र और उन साक्षियों के नाम स्मरणार्थ एक पत्र पर लिख ले।

शिरोभिस्ते गृहीत्वोर्वीं स्त्रग्विणो रक्तवाससः ।
सुकृतैः शापिताः स्वैः स्वैर्नयेयुस्ते समञ्जसम् ॥ २५६ ॥

वे साक्षी लाल वस्त्र पहन, गले में लाल माला धारण कर, सिर पर मिट्टी रख, अपने-अपने पुण्यों की शपथ करके गवाही दें और राजा उसी के अनुसार सीमा का निर्णय करे।

यथोक्तेन नयन्तस्ते पूयन्ते सत्यसाक्षिणः ।
विपरीतं नयन्तस्तु दाप्याः स्युर्द्विशतं दमम् ॥ २५७ ॥

वे साक्षी सत्य-सत्य सीमा बतलाने पर निर्दोष होते हैं। परंतु सीमा के विषय में झूठी गवाही देने वाले को राजा दो सौ पण दण्ड करे।

साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामाः सामन्तवासिनः ।
सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयता राजसन्निधौ ॥ २५८ ॥

साक्षियों के अभाव में समीपवर्ती चार गाँवों के प्रधान लोग राजा के सामने आकर सीमा का निर्णय करें।

सामन्तानामभावे तु मौलानां सीम्नि साक्षिणाम् ।
इमानप्यनुयुञ्जीत पुरुषान्वनगोचरान् ॥ २५९ ॥

सामन्तों का अभाव हो तो राजा आगे कहे हुए वन में घूमने वाले पुरुष जो सीमा का कुछ ज्ञान रखते हों उनसे पूछे।

व्याधाञ्छाकुनिकान्गोपान्कैवर्तान्मूलखानकान् ।
व्यालग्राहानुञ्छवृत्तीनन्यांश्च वनचारिणः ॥ २६० ॥

ब्याध, बहेलिये, ग्वाले, मल्लाह, जड़ी-बूटी खोजने वाले, सँपेरे, गिरे हुए दाने चुनकर गुजर करने वाले और जंगल में रहने वाले, इनसे सीमा के विषय में पूछे।

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः सीमासन्धिषु लक्षणम् ।
तत्तथा स्थापयेद्राजा धर्मेण ग्रामयोर्द्वयोः ॥ २६१ ॥

पूछे जाने पर वे लोग सीमा के विषय में जो चिह्न बतावें, उसीके अनुसार राजा धर्मपूर्वक दोनों गाँवों की सीमा निर्दिष्ट करे।

क्षेत्रकूपतडागानामारामस्य गृहस्य च ।
सामान्तप्रत्ययो ज्ञेयः सीमासेतुर्विनिर्णयः ॥ २६२ ॥

खेत, कुआँ, तालाब, मकान, इन सबकी सीमा का विवाद हो तो राजा उस गाँव के रहने वाले गवाहों से पूछकर सीमा का निश्चय करे।

सामन्ताश्चेन्मृषा ब्रूयुः सेतौ विवदतां नृणाम् ।
सर्वे पृथक्पृथग्दड्या राज्ञा मध्यमसाहसम् ॥ २६३ ॥

सीमा के लिये झगड़ते हुए पुरुषों के सामन्त गवाह झूठ बोलें तो राजा हर एक को अलग-अलग मध्यम साहस दण्ड करे।

गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन्।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादज्ञानाद् द्विशतो दमः ॥२६४॥

जो धन का कर, दूसरे का घर, पोखर, बाग और खेत ले ले तो राजा उस पर पाँच सौ पण दंड करे और जाने बिना ले तो दो सौ पण दंड करे।

सीमायामविषह्यायां स्वयं राजैव धर्मवित्।
प्रदिशेद् भूमिमेतेषामुपकारादिति स्थितिः ॥२६५॥

साक्षी और चिह्नों के अभाव में स्वयं धर्मज्ञ राजा ही दो गाँवों के बीच की वह झगड़ालू भूमि उन लोगों को दे दे जिन्हें देने से उपकार हो, यही शास्त्र की स्थिति है।

एषोऽखिलेनाभिहितो धर्मः सीमाविनिर्णये।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वाक्पारुष्यविनिर्णयम् ॥२६६॥

सीमा के निर्णय में यह सम्पूर्ण धर्म तुमसे कहा, इसके अनन्तर अब कठोर भाषण के दण्ड का विधान कहते हैं।

शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति।
वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति ॥२६७॥

ब्राह्मण को (चोर-चाण्डाल इत्यादि) कटु वचन कहने वाले क्षत्रिय को एक सौ पण, वैश्य को १५० पण या २०० पण दण्ड करे शूद्र को प्राणदण्ड करना चाहिये।

पञ्चाशद् ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने।
वैश्ये स्यादर्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशको दमः ॥२६८॥

ब्राह्मण क्षत्रिय को कठोर बात कहे तो ५० पण, वैश्य को कहे तो २५ पण और शूद्रको कहे तो १२ पण दण्ड देना चाहिए।

समवर्णे द्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे।
वादेष्ववचनीयेषु तदेव द्विगुणं भवेत् ॥२६९॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीन वर्णों के सजातियों में यदि परस्पर एक दूसरे को कटु शब्द कहें तो १२ पण, और अवाच्य वचन बोलें तो पूर्वोक्त दण्ड का दुगुना दण्ड देना चाहिये।

एकजातिर्द्विजातींस्तु वाचा दारुणया क्षिपन्।
जिह्वायाः प्राप्नुयाच्छेदं जघन्यप्रभवो हि सः ॥२७०॥

शूद्र यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को पापी आदि क्रूर वचन कहे तो उसे जिह्वाछेदन का दण्ड देना चाहिये क्योंकि उसकी उत्पत्ति जघन्य स्थान से है।

नामजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः ।
निक्षेप्योऽयोमयः शङ्कुर्ज्वलन्नास्ये दशाङ्गुलः ॥२७१॥

यदि शूद्र द्रोह से ब्राह्मण आदि द्विजातियों का नाम और जाति ग्रहणपूर्वक बुरी बात कहे तो जलती हुई दस अंगुल की लोहशलाका उसके मुँह में डाल देनी चाहिये।

धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः ।
तप्तमासेचयेत्तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः ॥२७२॥

यदि शूद्र अहंकारवश किसी ब्राह्मण को धर्म का उपदेश करे तो राजा उसके मुँह और कान में खौलता हुआ तेल डलवा दे।

श्रुतं देशं च जातिं च कर्म शारीरमेव च ।
वितथेन ब्रुवन्दर्पाद्दाप्यः स्याद् द्विशतं दमम् ॥२७३॥

यदि कोई किसी को अहंकार से यह दोष दे कि तुम इस देश में उत्पन्न नहीं हो, तुम्हारे यज्ञोपवीतादि संस्कार नहीं हुए हैं। तो कहने वाले को दो सौ पण दण्ड देना चाहिये।

काणं वाप्यथवा खञ्जमन्यं वाऽपि तथाविधम् ।
तथ्येनापि ब्रुवन्दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम् ॥२७४॥

जो वास्तव मे काना या लंगड़ा या लूला है। उसे सत्य ही कोई वैसा कहे तो भी चिढ़ाने वाले को कम से कम एक कार्षापण दण्ड देना होगा।

मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम् ।
आक्षारयञ्छतं दाप्यः पन्थानं चाददद्गुरोः ॥२७५॥

जो माता, पिता, पत्नी, भाई, बेटे, और गुरु को पातक लगाकर निंदा करे या गुरु को आते देख मार्ग से न हटे उसे एक सौ पण दण्ड देना चाहिये।

ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां तु दण्डः कार्यो विजानता ।
ब्राह्मणे साहसः पूर्वः क्षत्रिये त्वेव मध्यमः ॥२७६॥

यदि ब्राह्मण-क्षत्रिय आपस में पापी आदि कहकर गाली दें तो नीतिज्ञ राजा ब्राह्मण को प्रथम साहस और क्षत्रिय को मध्यम साहस दण्ड करे।

विट्शूद्रयोरेवमेव स्वजातिं प्रति तत्त्वतः ।
छेदवर्जं प्रणयनं दण्डस्येति विनिश्चयः ॥२७७॥

वैश्य और शूद्र भी इस प्रकार आपस में गाली दें तो पूर्वोक्त दण्ड की व्यवस्था करे (अर्थात् वैश्य शूद्र को गाली दे तो उसे प्रथम साहस और

शूद्र वैश्य को गाली दे तो उसे मध्यम साहस दण्ड करे) ऐसे अवसर पर शूद्र की जीभ न काटना यही दण्ड का निश्चय है।

एष दण्डविधिः प्रोक्तो वाक्पारुष्यस्य तत्त्वतः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दण्डपारुष्य निर्णयम् ॥ २७८ ॥

यह कठोर वचन कहने की दण्डविधि तत्त्वत: कही गयी है। अब इसके बाद ताड़न आदि दण्डपारुष्य का विधान कहते हैं।

येन केनचिदङ्गेन हिंस्याच्चेच्छ्रेष्ठमन्त्यजः ।
छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुशासनम् ॥ २७९ ॥

अन्त्यज अपने जिस अङ्ग से द्विज को मारे, उसका वहीं अंग काटना चाहिये, यह मनुजी की आज्ञा है।

पाणिमुद्यम्य दण्डं वा पाणिच्छेदनमर्हति ।
पादेन प्रहरन्कोपात्पादच्छेदनमर्हति ॥ २८० ॥

यदि द्विज को मारने के लिये हाथ उठाया हो या लट्ठ ताना हो तो उसका हाथ काट लेना चाहिये और क्रोध से ब्राह्मण को लात मारे तो उसका पैर काट डालना चाहिये।

सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः ।
कट्यां कृताङ्को निर्वास्यः स्फिचं वास्यावकर्तयेत् ॥ २८१ ॥

जो नीच वर्ण ब्राह्मणादि वर्ण के साथ आसन पर बैठना चाहे, तो राजा उसकी कमर में चिन्ह करके देश से निकाल दे अथवा उसके चूतड़ का मांस कतरवा ले।

अवनिष्ठीवतो दर्पाद् द्वावोष्ठौ छेदयेन्नृपः ।
अवमूत्रयतो मेढ्रमेवशर्धयतो गुदम् ॥ २८२ ॥

राजा, ब्राह्मण के ऊपर गर्व से थूकने वाले शूद्र का दोनों होंठ, पेशाब करने वाले का लिंग और अधोवायु करनेवाले का मलद्वार कटवा दे।

केशेषु गृह्णतो हस्तौ छेदयेदविचारयन् ।
पादयोर्दाढिकायां च ग्रीवायां वृषणेषु च ॥ २८३ ॥

जो शूद्र अविचार से ब्राह्मण का केश, पैर, दाढ़ी, गर्दन या अण्डकोश पकड़े, तो राजा बिना विचार किये ही उसके दोनों हाथ कटवा ले।

त्वग्भेदकः शतं दण्ड्यो लोहितस्य च दर्शकः ।
मांसभेत्ता तु षण्णिष्कान्प्रवास्यस्त्वस्थिभेदकः ॥ २८४ ॥

जो अपने ही स्वजातीय का चमड़ा छील डाले या लहू निकाल दे तो उसे १०० पण दण्ड देना चाहिये। मांसच्छेदन करने वाले को ६ निष्क दण्ड दे और हड्डी तोड़ने वाले को देश से निकाल दे।

वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगं यथा यथा।
तथा तथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा ॥२८५॥

वृक्षों के, फल-फूल और पत्तों का जैसा उपभोग हो, उसे नष्ट करने वाले को उसीके अनुसार दण्ड देना चाहिये।

मनुष्याणां पशूनां च दुःखाय प्रहृते सति।
यथा यथा महद् दुखं दण्डं कुर्यात्तथा तथा ॥२८६॥

मनुष्य और पशुओं को दुःख देने के लिये प्रहार करने पर उन्हें जितना कष्ट हो, प्रहारकर्ता को उतना ही अधिक दण्ड करे।

अङ्गावपीडनायां च व्रणशोणितयोस्तथा।
समुत्थानव्ययं दाप्यः सर्वदण्डमथापि वा ॥२८७॥

अंगों में अधिक चोट लगने या रुधिर बहने के कारण अधिक पीड़ा होने पर राजा उसके औषध और पथ्य-पानी का कुल खर्च मारने वाले से दिलावे, न देने पर उसे पूरा दण्ड दे।

द्रव्याणि हिंस्याद्यो यस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा।
स तस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञे दद्याच्च तत्समम् ॥२८८॥

जो कोई किसी के द्रव्य आदि को जानकर या भूल से नष्ट कर दे तो वह उसको (जिनका धन नष्ट हुआ है) उसके बदले में दूसरी वस्तु देकर संतुष्ट करे। और वस्तु मूल्य के बराबर राजा को दण्ड दे।

चर्मचार्मिकभाण्डेषु काष्ठलोष्ठमयेषु च।
मूल्यात्पञ्चगुणो दण्डः पुष्पमूलफलेषु च ॥२८९॥

चमड़े, चमड़े के पात्र, लकड़ी और मिट्टी के बर्तन, नष्ट करने पर उनके मूल्य का पाँचगुना राजा को दण्ड दे।

यानस्य चैव यातुश्च यानस्वामिन एव च।
दशातिवर्तनान्याहुः शेषे दण्डो विधीयते ॥२९०॥

रथ, सारथी और रथस्वामी के उपर्युक्त दस अपराधों को छोड़ और अपराधों में दण्ड का विधान किया गया है।

छिन्ननास्ये भग्नयुगे तिर्यक्प्रतिमुखागते।
अक्षभङ्गे च यानस्य चक्रभङ्गे तथैव च ॥२९१॥

छेदने चैव यन्त्राणां योक्त्ररश्म्योस्तथैव च ।
आक्रन्दे चाप्यपैहीति न दण्डं मनुरब्रवीत् ॥२९२॥

बैल की नाथ कट जाने, जुआ टूटने, गाड़ी अपने पथ से बाहर होने, धुरी या पहिया टूट जाने, चमड़े का बंधन, सवारी के गले की रस्सी और रास के टूटने पर सारथी यदि चिल्लाकर लोगों को हट जाने के लिये सावधान कर दे तो दुर्घटना होने पर सारथी दण्ड का भागी नहीं हो सकता।

यत्रापवर्तते युग्यं वैगुण्यात्प्राजकस्य तु ।
तत्र स्वामीभवेद्दण्ड्यो हिंसायां द्विशतं दमम् ॥२९३॥

जहाँ गाड़ी हाँकने वाले के दोष से गाड़ी रास्ते से अलग हो जावे और कोई दुर्घटना हो जाय वहाँ उसके स्वामी को २०० पण दण्ड देना चाहिये।

प्राजकश्चेद्भवेदाप्तः प्राजको दण्डमर्हति ।
युग्यस्थाः प्राजकेऽनाप्ते सर्वे दण्ड्याः शतं शतम् ॥२९४॥

यदि गाड़ी हाँकने वाला होशियार हो तो दुर्घना होने पर उसीको २०० पण देना होगा। सारथी अयोग्य होने से कोई अनिष्ट घटना हो तो गाड़ी के सब लोगों को १००-१०० पण दंड देना होगा।

स चेत्तु पथि संरुद्धः पशुभिर्वा रथेन वा ।
प्रमापयेत्प्राणभृतस्तत्र दण्डोऽविचारितः ॥२९५॥

यदि गौ आदि पशुओं से या दूसरे रथ से रास्ता रुद्ध हो और सारथी अपने रथ को न रोके और उससे प्राणी की हिंसा हो जाय तो बिना विचार किये ही उसे दंड देना चाहिये।

मनुष्यमारणे क्षिप्तं चौरवत्किल्विषं भवेत् ।
प्राणभृत्सु महत्स्वर्धं गोगजोष्ट्रहयादिषु ॥२९६॥

यदि गाड़ी हाँकने वाले की असावधानी से कोई मनुष्य दबकर मर जाय तो गाड़ीवान् को चोर का पाप लगता है। गाय, बैल, हाथी, ऊँट और घोड़े आदि बड़े पशुओं के मरने पर उसका आधा पाप होता है।

क्षुद्रकाणां पशूनां तु हिंसायां द्विशतो दमः ।
पञ्चाशत्तु भवेद्दण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु ॥२९७॥

छोटे पशुओं की हिंसा होने पर दो सौ पण, और श्रेष्ठ हिरन तथा सुग्गा, मैना आदि पक्षियों के मरने पर ५० पण दंड देना चाहिये।

गर्दभाजाविकानां तु दण्डः स्यात्पञ्चमाषिकः ।
माषिकस्तु भवेद्दण्डः श्वसूकरनिपातने ॥२९८॥

गधे, बकरे, भेड़ आदि के मरने पर पाँच मासे भर चाँदी और श्वान, शूकर के मरने पर एक मासा चाँदी दंड देना होगा।

भार्या पुत्रश्च दासश्च प्रेष्यो भ्राता च सोदरः।
प्राप्तापराधास्ताड्याः स्यूरज्ज्वा वेणुचलेन वा ॥२९९॥

स्त्री, पुत्र, नौकर, दूत और सगे भाई, ये लोग यदि कोई अपराध करें तो रस्सी या बाँस की पतली छड़ी से ताड़ना देनी चाहिये।

पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमाङ्गे कथञ्चन।
अतोऽन्यथा तु प्रहरन्प्राप्तः स्याच्चौरकिल्विषम् ॥३००॥

पीठ पर प्रहार करे, सिर पर कभी प्रहार न करे। नियम विरुद्ध प्रहार करने वाला चोर के अपराध का दण्ड पाता है।

एषोऽखिलेनाभिहितो दण्डपारुष्यनिर्णयः।
स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं दण्डविनिर्णये ॥३०१॥

यह कठोर दण्ड का सम्पूर्ण विधान कहा। अब चोर की दण्डविधि कहते हैं।

परमं यत्नमातिष्ठेत्स्तेनानां निग्रहे नृपः।
स्तेनानां निग्रहादस्य यशो राष्ट्रं च वर्धते ॥३०२॥

चोरों को कैद करने में राजा को बड़ा प्रयत्न करना चाहिए। चोरों का निग्रह करने से राजा का यश और राज्य बढ़ता है।

अभयस्य हि यो दाता स पूज्यः सततं नृपः।
सत्रं हि वर्धते तस्य सदैवाभयदक्षिणम् ॥३०३॥

जो राजा अपनी प्रजा को अभयदान देता है वह सदा पूज्य होता है। क्योंकि उसका यह अभय दक्षिणा वाला यज्ञ सदा बढ़ता है।

सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः।
अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः ॥३०४॥

प्रजा के जान-माल और धर्म की रक्षा करने वाले राजा को प्रजा के धर्म का छठाँ भाग प्राप्त होता है। वैसे ही रक्षा न करने पर उसे प्रजाओं के अधर्म का छठाँ भाग प्राप्त होता है।

यदधीते यद्यजते यद्ददाति यदर्चति।
तस्य षड्भागभाग्राजा सम्यग्भवति रक्षणात् ॥३०५॥

जो राजा सम्यक् प्रकार से प्रजा का पालन करता है वह उनके पढ़ने, यज्ञ करने, दान देने और देवताओं के पूजने के धर्म का छठाँ भाग पाता है।

रक्षन्धर्मेण भूतानि राजा वध्यांश्च घातयन् ।
यजतेऽहरहर्यज्ञैः सहस्रशतदक्षिणैः ॥३०६॥

धर्म से प्राणियों की रक्षा करके और दण्डनीय दुष्टों को दंड देकर राजा नित्य एक लाख दक्षिणा वाले यज्ञ का फल पाता है।

योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिव ।
प्रतिभागं च दण्डे च स सद्यो नरकं व्रजेत् ॥३०७॥

जो राजा प्रजा की रक्षा न करके उनसे खेती का छठाँ भाग कर, शुल्क और चुंगी आदि लेता है। वह शीघ्र नरकगामी होता है।

अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम् ।
तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम् ॥३०८॥

प्रजा की रक्षा न करने वाले और उनसे बराबर कर लेने वाले राजा को महर्षिगण सब लोगों के सम्पूर्ण पापों का भागी कहते हैं।

अनपेक्षितमर्यादं नास्तिकं विप्रलुम्पकम् ।
अरक्षितारमत्तारं नृपं विद्यादधोगतिम् ॥३०९॥

निर्दिष्ट मार्यादा को न मानने वाला, नास्तिक, वृथा दण्डादि देकर धन लेने वाला, रक्षा न करके प्रजाओं का अंश खाने वाला राजा अधोगति को प्राप्त होता है।

अधार्मिकं त्रिभिर्न्यायैर्निगृह्णीयात्प्रयत्नतः ।
निरोधनेन बन्धेन विविधेन वधेन च ॥३१०॥

राजा तीन उपायों से अधार्मिकों का निग्रह करे–कारागार में बन्द करके, बेड़ी-हथकड़ी डालकर या विविध प्रकार का दण्ड देकर।

निग्रहेण हि पापानां साधूनां संग्रहेण च ।
द्विजातय इवेज्याभिः पूयन्ते सततं नृपाः ॥३११॥

जैसे द्विज यज्ञों के करने से पवित्र होते हैं, वैसे राजा पापियों को दण्ड देने और साधुओं की रक्षा करने से सदा पवित्र होते हैं।

क्षन्तव्यं प्रभुणा नित्यं क्षिपतां कार्यिणां नृणाम् ।
बालवृद्धातुराणां च कुर्वता हितमात्मनः ॥३१२॥

अपनी भलाई चाहने वाला राजा, कार्यार्थी, बालक, वृद्ध, और रोगी इनके द्वारा होने वाली निन्दा को क्षमा करता जाय।

यः क्षिप्तो मर्षयत्यार्तैस्तेन स्वर्गे महीयते ।
यस्त्वैश्वर्यान्न क्षमते नरकं तेन गच्छति ॥३१३॥

आर्त्त मनुष्यों से किये आक्षेप को जो राजा सहता है वह स्वर्ग में पूजित होता है, और जो ऐश्वर्य के घमण्ड में फूलकर नहीं सहता वह नरक में जाता है।

राजा स्तेनेन गन्तव्यो मुक्तकेशेन धावता।
आचक्षाणेन तत्स्तेयमेवं कर्मास्मि शाधि माम्॥३१४॥
स्कन्धेनादाय मुशलं लगुडं वाऽपि खादिरम्।
शक्तिं चोभयतस्तीक्ष्णामायसं दण्डमेव वा॥३१५॥

चोर की चोटी खोलकर, कंधे पर मूसल या खैर की लाठी या दोनों ओर तीखी नोकवाली बरछी या लोहे का डंडा रखकर दौड़ता हुआ राजा के पास जाकर कहे कि मैंने चोरी की है, मुझे उचित दण्ड दीजिये।

शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद्विमुच्यते।
अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्विषम्॥३१६॥

राजा से दण्डित होने या मुक्त होने पर चोर चोरी के पाप से मुक्त होता है। यदि राजा चोर का शासन न करे तो चोर का पाप उसके सिर चढ़ता है।

अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्यापचारिणी।
गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्विषम्॥३१७॥

गर्भपात करने वाले का पाप उसका अन्न खाने वाले को, व्यभिचारिणी स्त्री का पाप उसके पति को, शिष्य का पाप गुरु को, यजमान का पाप पुरोहित को और चोर का पाप राजा को लगता है।

राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥३१८॥

पापी मनुष्य राजा से दण्ड पाने पर साधु-धर्मात्माओं की तरह पवित्र होकर स्वर्ग जाते हैं।

यस्तु रज्जुं घटं कूपाद्धरेद्भिन्द्याच्च यः प्रपाम्।
स दण्डं प्राप्नुयान्माषं तच्च तस्मिन्समाहरेत्॥३१९॥

जो कुएँ पर की रस्सी या राहियों के पानी पीने का पात्र या घड़ा चुराता है या प्याऊ को नष्ट करता है, राजा उसे एक मासा सोना दण्ड करे और जो वस्तु चुराकर ले जाय वह या उसके बदले में वैसी ही दूसरी वस्तु वहाँ रख दे।

धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वधः।
शेषेऽप्येकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम्॥३२०॥

दश कुम्भ[१] धान्य से अधिक चुराने पर चुराने वाले को प्राण वध का दण्ड देना चाहिये और इससे कम चुराने पर जितना चुरावे उसका ग्यारह गुना राजा को दण्ड दे और धान वाले को धान वापस कर दे।

तथा धरिममेयानां शतादभ्यधिके वधः ।
सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम् ॥ ३२१॥

ठीक तौल न करने वाले को सोना-चाँदी आदि और उत्तम वस्त्र और १०० से अधिक पशु चुराने पर राजा चोर को प्राण दण्ड दे।

पञ्चाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदनमिष्यते ।
शेषे त्वेकादशगुणं मूल्याद्दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ ३२२॥

गिनती में १ से ५० तक चुराने पर मूल्य का ग्यारह गुना दण्ड करे और ५० से १०० तक अपहरण करने पर राजा उसे हाथ काट लेने का दण्ड दे।

पुरुषाणां कुलीनानां नारीणां च विशेषतः ।
मुख्यानां चैव रत्नानां हरणे वधमर्हति ॥ ३२३॥

कुलीन पुरुषों को विशेष कर कुलीन स्त्रियों को और बहुमूल्य रत्नों को चुराने वाले को प्राणदण्ड देना चाहिये।

महापशूनां हरणे शस्त्राणामौषधस्य च ।
कालमासाद्य कार्यं च दण्डं राजा प्रकल्पयेत् ॥ ३२४॥

श्रेष्ठ पशु (हाथी, घोड़ा आदि) शस्त्र और दवाई इनको चुराने पर समय और कार्य को देखकर राजा दण्ड की व्यवस्था करे।

गोषु ब्राह्मणसंस्थासु छूरिकायाश्च भेदने ।
पशूनां हरणे चैव सद्यः कार्योऽर्धपादिकः ॥ ३२५॥

ब्राह्मण की गौओं को चुराने, बन्ध्या गाय के नाथने और पशुओं के चुराने पर राजा तुरन्त चोर का आधा पाँव कटवा डाले।

सूत्रं कार्पासकिण्वानां गोमयस्य गुडस्य च ।
दध्नः क्षीरस्य तक्रस्य पानीयस्य तृणस्य च ॥ ३२६॥
वेणुवैदलभाण्डानां लवणानां तथैव च ।
मृन्मयानां च हरणे मृदो भस्मन एव च ॥ ३२७॥
मत्स्यानां पक्षिणां चैव तैलस्य च घृतस्य च ।
मांसस्य मधुनश्चैव यच्चान्यत्पशुसम्भवम् ॥ ३२८॥

१. दो सौ पल का एक द्रोण और [illegible] द्रोण का एक कुम्भ (घड़ा) होता है।

अन्येषां चैवमादीनां मद्यानामोदनस्य च ।
पक्वान्नानां च सर्वेषां तन्मूल्याद् द्विगुणो दमः ॥३२९॥

सूत, कपास, शराब बनाने की द्रव्यसामग्री, गोबर, गुड़, दही, दूध, छाँछ, पानी, तृण, बाँस की टोकरी आदि, नमक, मिट्टी के बर्तन, मिट्टी, राख, मछली, चिड़िया, तेल, घी, मांस, मधु (शहद), पशु के चमड़े, सींग आदि, मद्य, भात, पक्वान और ऐसी ही अन्य साधारण वस्तुओं को चुराने पर उनके मूल्य का दुगुना दण्ड करना चाहिये।

पुष्पेषु हरिते धान्ये गुल्मवल्लीनगेषु च ।
अन्येष्वपरिपूतेषु दण्डः स्यात्पञ्चकृष्णलः ॥३३०॥

फूल, खेत के हरे धान, गुल्म, लता, पेड़ और पुरुष के ढोने योग्य अन्य वस्तु चुराने पर पाँच कृष्णल दण्ड करना चाहिये।

परिपूतेषु धान्येषु शाकमूलफलेषु च ।
निरन्वये शतं दण्डः सान्वयेऽर्धशतं दमः ॥३३१॥

परिपूत धान्य, साग, मूल और फल को चुराने वाला यदि अपने वंश का हो तो एक सौ पण और सम्बन्धी हो तो उससे ५० पण दण्ड लेना चाहिये।

स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम् ।
निरन्वयं भवेत्स्तेयं हृत्वाऽपव्ययते च यत् ॥३३२॥

स्वामी के समक्ष बलपूर्वक कोई चीज लेने को साहस कहते हैं और स्वामी के परोक्ष में कोई चीज लेना या लेकर छिपा रखने को चोरी कहते हैं।

यस्त्वेतान्युपक्लृप्तानि द्रव्याणि स्तेनयेन्नरः ।
तमाद्यं दण्डयेद्राजा यश्चाग्निं चोरयेद् गृहात् ॥३३३॥

जो मनुष्य किसी के व्यवहारोपयुक्त सूत्र आदि वस्तु अपने काम के लिये चुरावे या घर से हवन करने की आग चुराकर ले जाय तो राजा उसे प्रथम श्रेणी का दण्ड करे।

येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते ।
तत्तदेव हरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः ॥३३४॥

जिस-जिस अङ्ग से जैसे-जैसे चोर दूसरे की वस्तु चुराने की चेष्टा करे, राजा उसके उस-उस अङ्ग को कटवा डाले, जिससे कि वह फिर चोरी न कर सके।

पिताऽऽचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः ।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥३३५॥

माँ, बाप, आचार्य, स्त्री, पुत्र, मित्र और पुरोहित ये लोग यदि अपने धर्म में न रहें तो राजा उन्हें भी दण्ड दिये बिना न छोड़े।

कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः ।
तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥३३६॥

जिस अपराध में साधारण मनुष्य को एक कार्षापण दण्ड होता है, उस अपराध में राजा को एक हजार पण दण्ड[१] होना चाहिये, यह शास्त्र का सिद्धान्त है।

अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम् ।
षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य च ॥३३७॥
ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वाऽपि शतं भवेत् ।
द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः ॥३३८॥

चोरी के गुण-दोष को जानने वाला शूद्र चोरी करे तो उसे चोरी के माल का अठगुना, वैश्य को सोलह गुना क्षत्रिय को बत्तीस गुना और ब्राह्मण को चौसठ गुना या सौ गुना या एक सौ अट्ठाइस गुना दण्ड देना चाहिये।

वानस्पत्यं मूलफलं दार्वग्न्यर्थं तथैव च ।
तृणं च गोभ्यो ग्रासार्थमस्तेयं मनुरब्रवीत् ॥३३९॥

वन के फल-मूल, होम के लिए सूखी लकड़ी और गौओं के खिलाने के लिए तृण चुराना चोरी नहीं है, यह मनुजी ने कहा है।

योऽदत्तादायिनो हस्ताल्लिप्सेत ब्राह्मणो धनम् ।
याजनाध्यापनेनापि यथा स्तेनस्तथैव सः ॥३४०॥

जो ब्राह्मण यज्ञ कराकर या पढ़ाकर भी चोर के हाथ से धन लेने की इच्छा करे तो वह भी चोर के बराबर है।

द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिर्द्वाविक्षू द्वे च मूलके ।
आददानः परक्षेत्रान्नं दण्डं दातुमर्हति ॥३४१॥

राह चलते हुए ब्राह्मण के पास यदि खाने को न हो और वह किसी के खेत से दो ईख या दो मूली ले ले तो इसके लिए वह दण्ड नहीं पा सकता।

असंदितानां संदाता संदितानां च मोक्षकः ।
दासाश्वरथहर्ता च प्राप्तः स्याच्चौरकिल्विषम् ॥३४२॥

---

१. राजा अपने दण्ड का द्रव्य ब्राह्मणों को दे या वरुण के उद्देश्य से जल में छोड़ दे।

जो दूसरे के पाले हुए घोड़े आदि पशुओं को बाँध ले और बँधे हुए पशुओं को खोल दे या दूसरे के नौकर, घोड़े और रथ को हरण कर ले तो उसे चोर के समान दण्ड देवे।

अनेन विधिना राजा कुर्वाणः स्तेननिग्रहम् ।
यशोऽस्मिन्प्राप्नुयाल्लोके प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ३४३ ॥

जो राजा इस प्रकार चोरों को दण्ड देता है वह इस लोक में यश और परलोक में परम सुख पाता है।

ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सुर्यशश्चाक्षयमव्ययम् ।
नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम् ॥ ३४४ ॥

जो राजा इन्द्रपद पाने का अभिलाषी हो और सदा के लिए अचल विमल यश पाना चाहे वह क्षणभर भी साहसी मनुष्य को दण्ड देने में उपेक्षा न करे।

वाग्दुष्टात्तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसत ।
साहसस्य नरः कर्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥ ३४५ ॥

दुष्ट वचन बोलने वाले, चोर और लाठी से मारपीट करने वाले मनुष्य से भी साहस करने वाला मनुष्य कहीं बढ़कर अपराधी है।

साहसे वर्तमानं तु यो मर्षयति पार्थिवः ।
स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति ॥ ३४६ ॥

जो राजा साहस करने वालों को क्षमा करता है, वह शीघ्र विनाश को प्राप्त होता है और सभी लोग उससे शत्रुता करने लग जाते हैं।

न मित्रधारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात् ।
समुत्सृजेत्साहसिकान्सर्वभूतभयावहान् ॥ ३४७ ॥

राजा मित्र की धारणा से या प्रचुर धन के लाभ से सब प्राणियों को भयभीत करने वाले साहसिक को न छोड़े।

शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते ।
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ॥ ३४८ ॥
आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च सङ्गरे ।
स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन्धर्मेण न दुष्यति ॥ ३४९ ॥

जब द्विजातियों के वर्णाश्रम धर्म के नाश होने की संभावना हो, जब आपत्काल के कारण देश में अराजकता फैली हो, आपसी रक्षा के लिए

अथवा धन, गौ आदि की रक्षा के लिये युद्ध करने का प्रसंग हो, उसी प्रकार जब स्त्रियों और ब्राह्मणों की रक्षा के लिये आवश्यक हो तब द्विजातियों को शस्त्र ग्रहण करना चाहिये–ऐसे समय धर्मतः हिंसा करने में दोष नहीं है।

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥३५०॥

गुरु, बालक, वृद्ध या बहुत शास्त्रों का जानने वाला ब्राह्मण भी आततायी होकर (मारने के लिए) आवे तो उसे बेखटके मार डालें।

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति॥३५१॥

सबके सामने या एकान्त में जो किसी के मारने को उतावला हो उसका वध करने में कोई दोष नहीं है कारण आततायी जिसे मारना चाहता है उसके क्रोध से उसी आततायी का क्रोध ही बढ़ता है।

परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान्नॄन्महीपतिः।
उद्वेजनकरैर्दण्डैश्छिन्नयित्वा प्रवासयेत्॥३५२॥

पराई स्त्री के साथ सम्भोग करने वाले मनुष्यों को राजा पीड़ा देने वाले दण्डों से नाक-कान आदि कटवा कर देश से निकाल दे।

तत्समुत्थो हि लोकस्य जायते वर्णसङ्करः।
येन मूलहरोऽधर्मः सर्वनाशाय कल्पते॥३५३॥

कारण परस्त्री गमन से वर्णशंकर होता है, जिससे मूल का ही नाश करने वाला अधर्म, सर्वनाश का कारण होता है।

परस्य पत्न्या पुरुषः सम्भाषां योजयन् रहः।
पूर्वमाक्षारितो दोषैः प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम्॥३५४॥

परस्त्री गमन करने वाला कोई पुरुष यदि किसी परस्त्री के साथ एकान्त में भाषण करे तो राजा उस पर प्रथम श्रेणी का दण्ड करे।

यस्त्वनाक्षारितः पूर्वमाभिभाषेत कारणात्।
न दोषं प्राप्नुयात्किञ्चिन्न हि तस्य व्यतिक्रमः॥३५५॥

जो परस्त्री गमन के दोष से रहित है और किसी कारण से दूसरे की स्त्री के साथ लोगों के सामने या एकान्त में भाषण करे तो वह अपराधी न होने के कारण दण्ड पाने योग्य भी नहीं है।

परस्त्रियं योऽभिवदेत्तीर्थेऽरण्ये वनेऽपि वा।
नदीनां वाऽपि संभेदे स संग्रहणमाप्नुयात्॥३५६॥

जो पुरुष पराई स्त्री से तीर्थ में या नदी के पास, जंगल में या गाँव के बाहर निर्जन उपवन में या नदियों के संगम-स्थान में रहस्य भाषण करे तो उसे राजा संग्रहण का दण्ड (एक सहस्र पण) करे।

उपचारक्रिया केलिः स्पर्शो भूषणवाससाम्।
सह खट्वासनं चैव सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥ ३५७॥

परस्त्री के पास माला, फूल, इत्र आदि भेजना, उसके साथ हँसी, दिल्लगी करना, आलिंगन करना, उसका भूषण-वस्त्र छूना, उसके साथ चारपाई पर बैठना, ये सब शास्त्रों में संग्रहण कहे गये हैं।

स्त्रियं स्पृशेददेशे यः स्पृष्टो वा मर्षयेत्तथा।
परस्परस्यानुमते सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥ ३५८॥

कोई पुरुष परस्त्री के स्पर्श न करने योग्य अङ्ग को स्पर्श करे अथवा उसको अपने अंग स्पर्श करने पर कुछ न बोले, यह सब परस्पर के अनुमोदन से होने वाला संग्रहण ही है।

अब्राह्मणः संग्रहणे प्राणान्तं दण्डमर्हति।
चतुर्णामपि वर्णानां दारा रक्ष्यतमाः सदा ॥ ३५९॥

यदि शूद्र द्विजाति की स्त्री के साथ संग्रहण करे तो उसे प्राण दण्ड देना चाहिये। चारो वर्णों को सबसे अधिक अपनी स्त्रियों की ही सदा रक्षा करनी चाहिये।

भिक्षुका वन्दिनश्चैव दीक्षिताः कारवस्तथा।
संभाषणं सह स्त्रीभिः कुर्युरप्रतिवारिताः ॥ ३६०॥

भिक्षुक, भाट, दीक्षित और सूपकार लोग गृहस्थ पत्नी से (कार्यवश) बेरोक बात कर सकते हैं।

न संभाषां परस्त्रीभिः प्रतिसिद्धं समाचरेत्।
निषिद्धो भाषमाणस्तु सुवर्णं दण्डमर्हति ॥ ३६१॥

गृहस्थ जिस पुरुष को मना कर दिया हो वह उस गृहस्थ की पत्नी से बात न करे। मना किया हुआ पुरुष यदि भाषण करे तो वह सोलह मासा सुवर्ण का दण्ड पाने योग्य है।

नैष चारणदारेषु विधिर्नात्मोपजीविषु।
सज्जयन्ति हि ते नारीन्निर्गूढाश्चारयन्ति च ॥ ३६२॥

यह विधि नटों की स्त्रियों के लिए नहीं है, भार्या से अपनी जीविका चलाने वालों के लिये भी नहीं है। क्योंकि वे अपनी स्त्रियों का स्वयं ही परपुरुषों से सम्बन्ध कराते और स्वयं छिपे रहकर उनसे व्यभिचार कराते हैं।

किञ्चिदेव तु दाप्यः स्यात्संभाषां ताभिराचरन्।
प्रैष्यासु चैकभक्तासु रहः प्रव्रजितासु च ॥३६३॥

ऐसी स्त्रियों के साथ भी एकान्त में बात करने वाले पुरुषों को राजा कुछ दण्ड दे। वैसे ही दासियों, वैरागिनों और ब्रह्मचारिणियों के साथ जो पुरुष रहस्य भाषण करे उसे भी कुछ दण्ड करे।

योऽकामां दूषयेत्कन्यां स सद्यो वधमर्हति।
सकामां दूषयंस्तुल्यो न वधं प्राप्नुयान्नरः ॥३६४॥

जो मनुष्य किसी कन्या के साथ बलात्कार करके उसे दूषित करता है। वह तत्काल वध करने योग्य होता है। पर कन्या की इच्छा से उसे दूषित किया हो और वह उस कन्या का स्वजातीय हो तो वह वध के योग्य नहीं होता।

कन्यां भजन्तीमुत्कृष्टं न किञ्चिदपि दापयेत्।
जघन्यं सेवमानां तु संयतां वासयेद् गृहे ॥३६५॥

उत्तम जाति के पुरुष के साथ संभोग करने की इच्छा से उसकी सेवा करने वाली कन्या को कुछ भी दण्ड न करे। परहीन जाति के पास जाने वाली का यत्नपूर्वक नियमन करे।

उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति।
शुल्कं दद्यात्सेवमानः समामिच्छेत्पिता यदि ॥३६६॥

उत्तम वर्ण की कन्या के साथ संभोग करने वाला नीचवर्ण का पुरुष वध के योग्य है। समान वर्ण की कन्या के साथ समागम करने वाला, यदि उस कन्या का पिता धन से संतुष्ट हो तो देकर विवाह कर ले।

अभिषह्य तु यः कन्यां कुर्याद्दर्पेण मानवः।
तस्याशु कर्त्ये अंगुल्यौ दण्डं चार्हति षट्शतम् ॥३६७॥

जो मनुष्य घमण्ड में आकर जबरदस्ती कन्या की योनि में उँगली डालकर उसे भ्रष्ट करता है तो राजा शीघ्र उसकी दो उँगली कटवा कर उसे ६०० पण जुर्माना करे।

सकामां दूषयंस्तुल्यो नांगुलिच्छेदमाप्नुयात्।
द्विशतं तु दमं दाप्यः प्रसङ्गविनिवृत्तये ॥३६८॥

स्वयं चाहने वाली कन्या को उँगली डालकर भ्रष्ट करने वाले समान जाति के पुरुष की उँगली नहीं कटवाना चाहिये। दो सौ पण दण्ड उसे इसलिए करना चाहिये कि वह फिर कभी ऐसा दुष्कर्म न करे।

कन्यैव कन्यां या कुर्यात्तस्याः स्याद् द्विशतो दमः ।
शुल्कं च द्विगुणं दद्याच्छिफाश्चैवाप्नुयाद् दश ॥३६९॥

यदि कन्या दूसरी कन्या के साथ ऐसा व्यवहार करे तो वह दो सौ पण दण्ड राजा को दे और दुगुना शुल्क उस लड़की के बाप को दे। ऐसी लड़की को दस कोड़े लगवावे।

या तु कन्यां प्रकुर्यात् स्त्री सा सद्यो मौड्यमर्हति ।
अंगुल्योरेव वा छेदं खरेणोद्वहनं तथा ॥३७०॥

यदि स्त्री कन्या की योनि में उँगली डाले तो राजा तत्काल उसका सिर मुड़वा दे या उसकी दो उँगली कटवा डाले या गधे पर चढ़ाकर उसे सड़कों पर घुमावे।

भर्तारं लङ्घयेद्या तु स्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता ।
तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते ॥३७१॥

जो स्त्री अपने बाप-दादे के धन और रूप गुणों के ऊपर घमण्ड कर पति का निरादर करे, तो राजा उसे बहुत लोगों के सामने कुत्तों से नुचवा डाले।

पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप्त आयसे ।
अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् ॥३७२॥

पापी परस्त्रीगामी पुरुष को राजा तपाये हुए लोहे की शैय्या पर सुला कर ऊपर से लड़की रखवा दे जिसमें वह पापकर्ता जलकर खाक हो जाय।

संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो दमः ।
व्रात्यया सह संवासे चांडाल्या तावदेव तु ॥३७३॥

परस्त्री गमन से दूषित पुरुष दण्डित होने पर यदि १ वर्ष बाद फिर वैसा अपराध करे तो उसे पहले से दूना दण्ड करना चाहिये। दुष्ट स्त्री और चाण्डालिनी के पास जाने वाले के लिए भी राजा इसी दण्ड की व्यवस्था करे।

शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमावसन् ।
अगुप्तमङ्गसर्वस्वैर्गुप्तं सर्वेण हीयते ॥३७४॥

जो शूद्र स्वामी आदि अभिभावकों से अरक्षित द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) की स्त्री के साथ व्यभिचार करे तो राजा उसका लिंगच्छेदन पूर्वक सर्वस्व हरण कर ले, और रक्षित स्त्री के साथ व्यभिचार करे तो सर्वस्व हरण के साथ उसे प्राणदण्ड दे।

वैश्यः सर्वस्वदण्डः स्यात् संवत्सरनिरोधतः ।
सहस्रं क्षत्रियो दण्ड्यो मौण्ड्यं मूत्रेण चार्हति ॥३७५॥

यदि वैश्य रक्षित ब्राह्मणी के साथ मैथुन करे तो सर्वस्व हरण कर एक वर्ष कैद की सजा दे और क्षत्रिय को एक हजार पण जुर्माना करे और गधे के मूत्र से उसका सिर मुड़वा दे।

ब्राह्मणीं यद्यगुप्तां तु गच्छेतां वैश्यपार्थिवौ ।
वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात्क्षत्रियं तु सहस्रिणम् ॥ ३७६ ॥

यदि वैश्य और क्षत्रिय अरक्षित ब्राह्मणी के साथ गमन करें तो वैश्य को ५०० पण और क्षत्रिय को १००० पण दंड करे।

उभावपि तु तावेव ब्राह्मण्या गुप्तया सह ।
विप्लुतौ शूद्रवद्दण्ड्यौ दग्धव्यौ वा कटाग्निना ॥ ३७७ ॥

वैश्य और क्षत्रिय, ये दोनों यदि रक्षित ब्राह्मणी के साथ मैथुन करें, तो शूद्र के ही तरह उन्हें दंड देना चाहिये अथवा तृण की धधकती हुई आग में इन्हें जला देना चाहिये।

सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्यो गुप्तां विप्रां बलाद् व्रजन् ।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादिच्छन्त्या सह संगतः ॥ ३७८ ॥

यदि ब्राह्मण रक्षित ब्राह्मणी के साथ जबर्दस्ती मैथुन करे तो उसे एक हजार पण दंड देना चाहिये, यदि वह सकामा हो तो उसके साथ संगम करने पर राजा उसे ५०० पण दण्ड करे।

मौण्ड्यं प्राणान्तिको दण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते ।
इतरेषां तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तिको भवेत् ॥ ३७९ ॥

ब्राह्मण के सिर का बाल मुड़ा देना ही उसके लिये प्राणान्तक दण्ड है। परन्तु अन्य वर्णों को प्राणान्तक दण्ड देना चाहिये।

न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम् ।
राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात्समग्रधनमक्षतम् ॥ ३८० ॥

सब प्रकार के पाप करने पर भी ब्राह्मण का वध कभी न करे उसे समग्र धन के साथ, अभग्न शरीर से अपने देश से बाहर कर दे।

न ब्राह्मणवधाद्भूयानधर्मो विद्यते भुवि ।
तस्मादस्य वधं राजा मनसाऽपि न चिन्तयेत् ॥ ३८१ ॥

ब्राह्मण के वध से बढ़कर संसार में दूसरा पाप नहीं है। इसलिये राजा उसके वध की चिन्ता कभी मन से भी न करे।

वैश्यश्चेत्क्षत्रियां गुप्तां वैश्यां वा क्षत्रियो व्रजेत् ।
यो ब्राह्मण्यामगुप्तायां तावुभौ दण्डमर्हतः ॥ ३८२॥

यदि वैश्य रक्षित क्षत्राणि से और क्षत्रिय रक्षित वैश्या से गमन करे तो आरक्षिता ब्राह्मणी के साथ गमन करने में जो दण्ड कहा गया है, वही दण्ड इन दोनों को भी देना उचित है।

सहस्त्रं ब्राह्मणो दण्डं दाप्यो गुप्ते तु ते व्रजन् ।
शूद्रायां क्षत्रियविशोः सहस्रो वै भवेद्दमः ॥ ३८३॥

रक्षिता क्षत्राणी और वैश्या के साथ यदि ब्राह्मण व्यभिचार करे तो उसे १००० पण दण्ड दे और क्षत्रिय तथा वैश्य यदि रक्षित शूद्रा से रमण करें तो उन्हें भी एक हजार पण जुर्माने का दण्ड दे।

क्षत्रियायामगुप्तायां वैश्ये पञ्चशतं दमः ।
मूत्रेण मौण्डयमिच्छेत्तु क्षत्रियो दण्डमेव वा ॥ ३८४॥

अरक्षित क्षत्रिया से गमन करने पर वैश्य को पाँच सौ पण दण्ड देना चाहिये, यदि क्षत्रिय उससे गमन करे तो गधे के मूत से उसका सिर मुड़ा दे या उससे पाँच सौ पण दण्ड ले।

अगुप्ते क्षत्रियावैश्ये शूद्रां वा ब्राह्मणो व्रजन् ।
शतानि पञ्चदड्यः स्यात्सहस्त्रं त्वन्त्यजस्त्रियम् ॥ ३८५॥

यदि ब्राह्मण अरक्षित क्षत्राणि, वैश्या या शूद्रा से गमन करे तो उसे पाँच सौ पण दण्ड दे और चाण्डाल की स्त्री के साथ मैथुन करे तो उसे एक हजार पण दंड दे।

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक् ।
न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक् ॥ ३८६॥

जिस राजा के राज्य में परस्त्रीगामी, चोर, मिथ्यावादी. अनुचित कर्म में साहस दिखाने वाला और लाठी से मारपीट करने वाला नहीं है, वह राजा इन्द्रपुरी का सुख भोगने वाला होता है।

एतेषां निग्रहो राज्ञः पञ्चानां विषये स्वके ।
साम्राज्यकृत्सजात्येषु लोके चैव यशस्करः ॥ ३८७॥

जो राजा अपने राज्य में पूर्वोक्त पाँचों अपराधियों को दंड देता है, वह अपने सजातीय राजाओं के बीच राज्य का पालन करता हुआ संसार में यशस्वी होता है।

ऋत्विजं यस्त्यजेद् याज्यं चर्त्विग्याज्योजेद्यदि ।
शक्तं कर्मण्यदुष्टं च तयोर्दण्डः शतं शतम् ॥ ३८८॥

यदि यजमान योग्य ऋत्विज को और ऋत्विज निर्दोषी यजमान को छोड़ दे तो दोनों पर सौ-सौ पण दंड देना चाहिये।

न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति ।
त्यजन्नपतितानेतान् राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥ ३८९॥

माँ, बाप, स्त्री और पुत्र, ये अत्याज्य हैं। इनका त्याग करने पर राजा प्रत्येक के लिये उसे छः-छः सौ पण दंड करे।

आश्रमेषु द्विजातीनां कार्ये विवदतां मिथः ।
न विब्रूयान्नृपो धर्मं चिकीर्षन्हितमात्मनः ॥ ३९०॥

गार्हस्थ्य आदि आश्रमोचित्त कार्य में परस्पर विवाद करते हुए द्विजातियों के बीच अपना हित चाहने वाला राजा धर्म की कोई बात न बोले।

यथार्हमेतानभ्यर्च्य ब्राह्मणैः सह पार्थिवः ।
सान्त्वेन प्रशमय्यादौ स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ३९१॥

राजा अन्य ब्राह्मणों के साथ उन सबका उचित पूजन करके पहले उन्हें शान्त करे, पीछे जो उनका अपना धर्म हो उसका प्रतिपादन करे।

प्रतिवेश्यानुवेश्यौ च कल्याणे विंशतिर्द्विजे ।
अर्हावभोजयन्विप्रो दण्डमर्हति माषकम् ॥ ३९२॥

किसी शुभकार्य में बीस ब्राह्मणों को खिलाना हो और उसमें योग्य प्रतिवेश्य (पड़ोसी) और अनुवेश्य (पड़ोसी के पड़ोसी) को भोजन न कराकर अन्य ब्राह्मणों को खिलाने वाले ब्राह्मण को एक मासा चाँदी दण्ड कर देना चाहिये।

श्रोत्रियः श्रोत्रियं साधु भूतिकृत्येष्वभोजयन् ।
तदन्नं द्विगुणं दाप्यो हिरण्ये चैव माषकम् ॥ ३९३॥

जो वेदाध्यायी ब्राह्मण शुभ कार्य में प्रतिवेश्य, अनुवेश्य, वैदिक सद्ब्राह्मणों को भोजन न करावे, राजा उसे भोज्यान्न का दूना अन्न और एक मासा सोना दण्ड करे।

अन्धो जडः पीठसर्पी सप्तत्या स्थविरश्च यः ।
श्रोत्रियेषूपकुर्वंश्च न दाप्या केनचित्करम् ॥ ३९४॥

अन्धे, बहरे, लंगड़े और सत्तर वर्ष के बूढ़े तथा वेदपाठी ब्राह्मणों का उपकार करने वाला यदि दरिद्र हो जाय तो राजा को उससे कर न लेना चाहिये।

श्रोत्रियं व्याधितार्तौ च बाला वृद्धावकिञ्चनम् ।
महाकुलीनमार्यं च राजा सम्पूजयेत्सदा ॥३९५॥

वैदिक, व्याधिग्रस्त, बालक, वृद्ध, दरिद्र, श्रेष्ठकुल जात और उदार चरित्र–इनका राजा हमेशा सम्मान करे।

शाल्मलीफलके श्लक्ष्णे नेनिज्यान्नेजकः शनैः ।
न च वासांसि वासोभिर्निर्हरेन्न च वासयेत् ॥३९६॥

धोबी को चाहिये कि सेमर के चिकने काठ पर धीरे-धीरे वस्त्र धोवे, वस्त्रों से वस्त्र का हेर फेर न करे और किसी का कपड़ा किसी दूसरे को पहनने के लिए न दे।

तन्तुवायो दशपलं दद्यादेकपलाधिकम् ।
अतोऽन्यथा वर्तमानो दाप्यो द्वादशकं दमम् ॥३९७॥

जुलाहा (कपड़ा बुनने वाला) दस पल सूत लेकर एक पल और अधिक अर्थात् ग्यारह पल कपड़ा तौल कर सूत वाले को दे, अन्यथा इससे कम वजन में देने पर राजा उसे बारह पण दण्ड करे।

शुल्कस्थानेषु कुशलः सर्वपण्यविचक्षणाः ।
कुर्युरर्घं यथापण्यं ततो विंशं नृपो हरेत् ॥३९८॥

राजा कर सम्बन्धी विषय में कुशल, बाजार में बिकने वाली चीजों की खरीद-बिक्री को जानने वाले मनुष्य, जिस वस्तु का जो दाम निर्णय करें। उसके लाभ का २०वाँ भाग राजा ले।

राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च ।
तानि निर्हरतो लोभात्सर्वहारं हरेन्नृपः ॥३९९॥

राजा के सम्बन्ध के विशेष पात्र, वस्त्र, वाहन आदि और जिन चीजों को बाहर ले जाने के लिए राजा ने मना कर दिया हो लोभ से उन चीजों को देशान्तर ले जाने वाले का राजा सर्वहरण कर ले।

शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रयविक्रयी ।
मिथ्यावादी च संख्याने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम् ॥४००॥

जो व्यापारी कर देने के डर से दूसरे रास्ते से जाय, असमय में खरीद-फरोख्त करे, अधिक कर देने के अभिप्राय से विक्रय वस्तु का परिणाम झूठा बतावे, तो जितना कर उसने झूठ बोलकर बचाया हो, राजा उसका अठगुना दण्ड करे।

आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ ।
विचार्य सर्वपण्यानां कारयेत्क्रयविक्रयौ ॥४०१॥

बाहर से आई चीजों पर, अपने देश की चीजों पर कितने दिनों तक रखने से कितना लाभ होगा, नफा लेकर बेचने पर कितनी वृद्धि होगी, उन वस्तुओं की रक्षा करने में कितना खर्च होगा, इन सब बातों को भली भाँति विचार करके सभी बिकने वाली वस्तुओं की दर ठीक कर दे, जिससे ख़रीदने और बेचने वाले के मन में किसी प्रकार का दुःख न हो।

पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे पक्षेऽथवा गते ।
कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्धसंस्थापनं नृपः ॥४०२॥

पाँच-पाँच दिन पीछे या एक-एक पक्ष पर व्यापारियों की वस्तुओं की दर का निश्चय किया करे।

तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुलक्षितम् ।
षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥४०३॥

सोना तौलने का तोला, मासा और रत्ती आदि तथा अनाज तौलने के सेर पसेरी आदि बटखरे वजन में पूरे हैं या नहीं, राजा प्रति छठें मास जाँच किया करे।

पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषोऽर्धपणं तरे ।
पादं पशुश्च योषिच्च पादार्धं रिक्तकः पुमान् ॥४०४॥

खाली सवारी पर उतारने का खेवा एक पण, भार उतारने का आधा पण, पशु और स्त्री को पार उतारने का चौथाई पण और बिना बोझ के पुरुष का खेवा एक पण के चौथाई का आधा हिस्सा देना चाहिए।

भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः ।
रिक्तभाण्डानि यत्किञ्चित्पुमांसश्चापरिच्छदाः ॥४०५॥

बरतनों से भरी हुई गाड़ी का खेवा बरतनों के मूल्य की विवेचना करके देना चाहिये। किन्तु खाली गाड़ी का छकड़े और दरिद्र मनुष्यों की पार उतराई बहुत ही कम देनी चाहिये।

दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरौ भवेत् ।
नदीतीरेषु तद्विद्यात्समुद्रे नास्ति लक्षणम् ॥४०६॥

जलपथ से दूर तक जाने में नदी का वेग, स्थिरता, अनुकूल, प्रतिकूल प्रवाह और समय आदि देखकर नाव के भाड़े का निश्चय करे। यह नियम केवल नदीपथ से जाने के लिए हो सकता है, समुद्रयात्रा के लिये नहीं।

गर्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रव्रजितो मुनिः ।
ब्राह्मणा लिङ्गिनश्चैव न दाप्यास्तारिकं तरे ॥४०७॥

दो मास के ऊपर की गर्भिणी स्त्री, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी और ब्राह्मण इन लोगों से पार उतारने का खेवा न लेना चाहिये।

यन्नावि किञ्चिद्दाशानां विशीर्येतापराधतः ।
तद्दाशैरेव दातव्यं समागम्य स्वतोंऽशतः ॥४०८॥

नाव खेने वालों की भूल से यात्रियों की कोई चीज नष्ट हो तो नाविकों को थोड़ा-थोड़ा अपने पास से देकर पूरा करना चाहिये।

एष नौयायिनामुक्तो व्यवहारस्य निर्णयः ।
दाशापराधतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः ॥४०९॥

यह नौ यात्रियों के व्यवहार का निर्णय कहा है। नाविकों के दोष से जो वस्तु पानी में गिरकर नष्ट जो जाय तो उसका हर्जाना नाविक लोग दें, किन्तु जो दैविक दुर्घटना (तूफान आदि) से नष्ट हो, वह नाविक न देंगे।

वाणिज्यं कारयेद्वैश्यं कुसीदं कृषिमेव च ।
पशूनां रक्षणं चैव दास्यं शूद्रं द्विजन्मनाम् ॥४१०॥

राजा वैश्य से खेती, वाणिज्य, महाजनी और गाय, बैल आदि पशुओं का पालन और शूद्रों से द्विजातियों की सेवा करावे।

क्षत्रियं चैव वैश्यं च ब्राह्मणो वृत्तिकर्शितौ ।
बिभृयादानृशंस्येन स्वानि कर्माणि कारयन् ॥४११॥

यदि क्षत्रिय और वैश्य अपनी वृत्ति से निर्वाह न कर सकने के कारण पीड़ित हों तो ब्राह्मण उनसे उनकी वृत्ति कराकर दयापूर्वक उनका भरण-पोषण करे।

दास्यं तु कारयँल्लोभाद् ब्राह्मणः संस्कृतान्द्विजान् ।
अनिच्छतः प्राभावत्याद्राज्ञा दण्ड्यशतानि षट् ॥४१२॥

जो ब्राह्मण लोभ से या प्रभुत्व से उपनीत द्विजातियों से उनकी इच्छा के विरुद्ध टहलू का काम ले, राजा उसे छः सौ पण दण्ड करे।

शूद्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा ।
दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा ॥४१३॥

शूद्र खरीदा हुआ हो या न हो उससे नौकर का काम ले, क्योंकि ब्रह्मा ने ब्राह्मण की सेवा ही के लिये उसे बनाया है।

न स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रो दास्याद्विमुच्यते ।
निसर्गजं हि तत्तस्य कस्तस्मात्तदपोहति ॥४१४॥

स्वामी से कहे जाने पर भी शूद्र सेवावृत्ति से छुटकारा नहीं पा सकता। क्योंकि वह उसकी स्वाभाविक वृत्ति से उसे कौन अलग कर सकता है।

ध्वजाहृतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदत्रिमौ ।
पैत्रिको दण्डदासश्च सप्तैते दासयोनयः ॥४१५॥

युद्ध में विजय प्राप्त होने पर लाया गया, भोजन के लालच से स्वयं आया हुआ, दासी के गर्भ से उत्पन्न, खरीदा हुआ, किसी का दिया हुआ, जो बाप-दादे से काम करता आया हो और जो दण्ड, ऋण आदि चुकाने के लिये दास हुआ हो, ये सातों दासयोनि हैं।

भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः ।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥४१६॥

पत्नी, पुत्र और सेवक, ये तीनों निर्धन कहे गये हैं क्योंकि इनका उपार्जन किया धन उस उसका होगा, जिसके ये पुत्र, कलत्र और सेवक हैं।

विस्रब्धं ब्राह्मणः शूद्राद् द्रव्योपादानमाचरेत् ।
नहि तस्यास्ति किञ्चित्स्वं भर्तृहार्यधनो हि सः ॥४१७॥

काम आ पड़ने पर असम्बन्धित शूद्र का धन ब्राह्मण बेरोक ले सकता है। क्योंकि उसका अपना धन कुछ नहीं है, सब धन उसके स्वामी का है।

वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत् ।
तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत् ॥४१८॥

राजा वैश्य और शूद्र से उनकी वृत्ति यत्नपूर्वक करावे, क्योंकि वे दोनों अपने कर्मों से च्युत होने पर सारे संसार को क्षुब्ध कर सकते हैं।

अहन्यहन्यवेक्षेतं कर्मान्तान्वाहनानि च ।
आयव्ययौ च नियतावाकरान्कोशमेव च ॥४१९॥

राजा आरम्भ किये कार्यों की सम्पन्नता, नियत आय-व्यय, खान, खजाना और वाहनों का प्रतिदिन निरीक्षण करे।

एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान्समापयन् ।
व्यपोह्य किल्विषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ॥४२०॥

जो राजा इस प्रकार इन सब पूर्वोक्त व्यवहारों को पूरा करता है, वह सब पापों से छूटकर परमपद को प्राप्त होता है।

इति अष्टम अध्याय समाप्त ।

●

नवमोऽध्यायः (९)

पुरुषस्य स्त्रियाश्चैव धर्मे वर्त्मनि तिष्ठतोः ।
संयोगे विप्रयोगे च धर्मान्विक्ष्यामि शाश्वतान् ॥ १ ॥

धर्म-मार्ग में रत पुरुष और स्त्रियों के संयोग और वियोग के समय नित्य पालन करने वाले धर्मों को कहूँगा।

अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम् ।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे ॥ २ ॥

पुरुषों को अपने स्त्रियों को कभी स्वतन्त्रता न देनी चाहिये। स्त्रियाँ यदि रूप-रसादि में आसक्त हों तो भी उन्हें अपने वश में रखना चाहिये।

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ ३ ॥

स्त्रियों की बाल्यावस्था में पिता, युवावस्था में पति और बुढ़ापे में पुत्र रक्षा करता है, स्त्री कभी स्वतन्त्रता के योग्य नहीं है।

कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन्पतिः ।
मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता ॥ ४ ॥

विवाह का समय उपस्थित होने पर विवाह न करने से पिता, ऋतु के समय प्रसङ्ग न करने से पति, पति के मरने पर पुत्र माता की रक्षा न करे तो सभी निन्द्य हैं।

सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः ।
द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः ॥ ५ ॥

थोड़ी-सी कुसंगति से भी स्त्रियों की विशेष रक्षा करें। क्योंकि अरक्षित होने पर दोनों कुलों को कलंकित करती हैं।

इमं हि सर्ववर्णानां पश्यन्तो धर्ममुत्तमम् ।
यतन्ते रक्षितं भार्यां भर्तारो दुर्बलो अपि ॥ ६ ॥

सभी वर्णों के इस (स्त्री रक्षा रूप) उत्तम धर्म को देखते हुए, दुर्बल पति होते हुए भी अपनी स्त्री की रक्षा में प्रयत्नशील होना चाहिये।

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च ।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन्हि रक्षति ॥ ७ ॥

स्त्री के रक्षा में प्रयत्नशील मनुष्य अपनी संतान, चरित्र, कुल, आत्मा और धर्म की रक्षा करता है।

पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते ।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥८॥

पति वीर्य द्वारा स्त्री के गर्भ में प्रवेश कर संतान रूप से उत्पन्न होता है। पति फिर स्त्री में जायमन होता है, यही स्त्री का (जायत्व) है।

यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम् ।
तस्मात्प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः ॥९॥

जैसे पुरुष के साथ स्त्री समागम करती है वैसी ही संतान उत्पन्न करती है। इसलिये शूद्र संतानोत्पादन के प्रयत्न करके स्त्री की रक्षा करे।

न कश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् ।
एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥१०॥

बल प्रयोग से कोई भी पुरुष स्त्रियों की रक्षा नहीं कर सकता है, किन्तु नीचे लिखी उपायों से रक्षा कर सकता है।

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैवं नियोजयेत् ।
शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य वेक्षणे ॥११॥

धन के आय-व्यय के विषय में, घर के वस्तुओं की सफाई, धर्मादि कार्यों, रसोई बनाने, खिलाने और घर के देखभाल के काम में नियुक्त करे।

अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः ।
आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥१२॥

अपने बड़े लोगों से घर में बन्द किये जाने पर भी स्त्री अरक्षित ही होती है, जो स्त्रियाँ अपनी रक्षा अपने आप ही करती हैं, वे ही सुरक्षित रहती हैं।

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् ।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट् ॥१३॥

मदिरा पीना, दुष्टों की संगति, पति का वियोग, इधर-उधर घूमना, अकाल में सूतना और दूसरे के घर में रहना ये छः दोष स्त्रियों के दोष हैं।

नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः ।
सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥१४॥

स्त्रियाँ रूप की परीक्षा नहीं करती हैं, न तो अवस्था का ध्यान रखती हैं, सुन्दर हो या कुरूप हो पुरुष होने ही से वे उसके साथ संभोग करती हैं।

पौंश्चल्याच्चलचित्ताच्च नैस्नेह्याच्च स्वभावतः ।
रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते ॥१५॥

पुंश्चल (पराये पुरुष से भोग की इच्छा) दोष से, चंचलता से और स्वभाव से ही स्नेह न होने के कारण घर में यत्नपूर्वक रखने पर भी स्त्रियाँ पति के विरुद्ध काम करती हैं।

एवं स्वभावं ज्ञात्वाऽऽसां प्रजापतिनिसर्गजम् ।
परमं यत्नमातिष्ठेत्पुरुषो रक्षणं प्रति ॥ १६ ॥

ब्रह्माजी ने स्वभाव से ही स्त्रियों का ऐसा स्वभाव बनाया है, इसलिये पुरुष को हमेशा स्त्रियों की रक्षा करनी चाहिये।

शय्याऽऽसनमलङ्कारं कामं क्रोधमनार्जवम् ।
द्रोहभावं कुचर्यां च स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत् ॥ १७ ॥

मनुजी ने सृष्ट्यादि में शय्या, आसन, आभूषण, काम, क्रोध कुटिलता, द्रोह और दुराचार स्त्रियों के लिये ही कल्पना की थी।

नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति धर्मे व्यवस्थितिः ।
निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः ॥ १८ ॥

धर्मशास्त्र के व्यवस्था के अनुसार स्त्रियों की जातकर्मादि क्रियायें मंत्रों से नहीं करनी चाहिये। उन्हें मन्त्रों का ज्ञान और अधिकार भी नहीं है, उनकी झूठ ही में स्थिति है।

तथा च श्रुतयो बह्व्यो निगीता निगमेष्वपि ।
स्वालक्षण्यपरीक्षार्थं तासां शृणुत निष्कृतिः ॥ १९ ॥

वेदों में भी उक्त विषय की अनेक श्रुतियाँ हैं, उनमें जो मंत्र व्यभिचार के प्रायश्चित के लिये हैं उसे सुनो-

यन्मे माता प्रलुलुभे विचरन्त्यपतिव्रता ।
तन्मे रेतः पिता वृक्तामित्यस्यैतन्निदर्शनम् ॥ २० ॥

मेरी माता अपतिव्रता होकर घूमते हुए दूसरे घर में जाकर पर पुरुष की इच्छा की, इसलिये उसके उस दूषित रज को मेरे पिता शुद्ध करें। यह मंत्र उस समय के व्यभिचार का द्योतक है।

ध्यायत्यनिष्टं यत्किञ्चित्पाणिग्राहस्य चेतसा ।
तस्यैष व्यभिचारस्य निह्नवः सम्यगुच्यते ॥ २१ ॥

जो स्त्री अपने पति के विरुद्ध पर-पुरुष से गमन करने की इच्छा मन में करती है, उस मानसिक पाप से कलुषित चित्त के शुद्धि के लिए नीचे लिखा मन्त्र है।

यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि ।
तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा ॥ २२॥

जैसे गुणी पुरुष के साथ स्त्री का ब्याह होता है वैसे ही गुणों से वह युक्त होती है। जैसे नदी का जल समुद्र में मिलने से खारा हो जाता है।

अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा ।
शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम् ॥ २३॥

नीच योनि में उत्पन्न होने वाली अक्षमाला और सारङ्गी क्रम से वशिष्ठ और मन्दपाल के साथ ब्याह होने से परमपूजा को प्राप्त हुई।

एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः ।
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥ २४॥

इस लोक में ये (उपरोक्त) और अन्य भी कितनी ही स्त्रियाँ नीच कुल में उत्पन्न होते हुए भी अपने स्वामी के गुणों से युक्त होकर श्रेष्ठता को प्राप्त हुई हैं।

एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्रीपुंसयोः शुभा ।
प्रेत्येहं च सुखोदर्कान्प्रजाधर्मान्निबोधत ॥ २५॥

यह स्त्री और पुरुषों के नित्य लोक-व्यवहार का शुभ नियम कहा। अब यह लोक और परलोक में आनन्द देने वाले सन्तान धर्म को कहता हूँ।

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ २६॥

स्त्रियाँ सन्तान उत्पन्न करने के कारण उपकार करने वाली पूजनीय और गृह की शोभा रूप हैं। गृह में लक्ष्मी और स्त्रियों में कोई विशेषता नहीं है।

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥ २७॥

सन्तान उत्पन्न करना, उत्पन्न हुए का पालन, नित्य गृह का कार्य करना, इन सभी वस्तुओं के प्रत्यक्ष का कारण स्त्रियाँ ही हैं।

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ॥ २८॥

सन्तान, धर्मकार्य, सेवा, उत्तम रति, पितरों का और अपना स्वर्गसाधन ये सभी कार्य स्त्री के ही अधीन है।

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता ।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥ २९॥

जो स्त्री मन, वाणी और शरीर का संयम कर पति के विरुद्ध आचरण नहीं करती है वह मरने के बाद पतिलोक को पाती है और इस लोक में सज्जनों से पतिव्रता कही जाती है।

व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम् ।
शृगालयोनिं चाप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥ ३० ॥

स्वामी के विरुद्ध आचरण करने वाली स्त्री इस लोक में निंदित होती है और मरने के बाद शृगाल (सियार) योनि में उत्पन्न होकर अनेक प्रकार के रोगों को भोगती है।

पुत्रं प्रत्युदितं सद्भिः पूर्वजैश्च महर्षिभिः ।
विश्वजन्यमिमं पुण्यमुपन्यासं निबोधत ॥ ३१ ॥

पूर्व के श्रेष्ठ मन्वादि महर्षियों ने पुत्र के विषय में संसार के हितार्थ जो पुण्य इतिहास कहा है उसको सुनो।

भर्तुः पुत्रं विजानन्ति श्रुतिद्वैधं तु भर्तरि ।
आहुरुत्पादकं केचिदपरे क्षेत्रिणं विदुः ॥ ३२ ॥

पुत्र स्वामी का होता है, किन्तु स्वामी के विषय में दो प्रकार की श्रुति है–कोई पुत्र उत्पन्न करने वाले को पुत्रवान् कहते हैं और कोई जिसके स्त्री को पुत्र हुआ उसी का पुत्र मानते हैं।

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान् ।
क्षेत्रबीजसमायोगात् सम्भवः सर्वदेहिनाम् ॥ ३३ ॥

स्त्री क्षेत्र रूप और पुरुष बीज रूप होता है। क्षेत्र और बीज के संयोग से सभी प्राणियों की उत्पत्ति होती है।

विशिष्टं कुत्रचिद्बीजं स्त्रीयोनिस्त्वेव कुत्रचित् ।
उभयं तु समं यत्र सा प्रसूतिः प्रशस्यते ॥ ३४ ॥

कहीं बीज प्रधान होता है और कहीं क्षेत्र ही प्रधान होता है। जहाँ दोनों समान होते हैं। वहाँ सन्तान भी श्रेष्ठ होती है।

बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते ।
सर्वभूतप्रसूतिर्हि बीजलक्षणलक्षिता ॥ ३५ ॥

बीज और क्षेत्र में बीज को ही श्रेष्ठ कहते हैं। क्योंकि सभी प्राणियां की उत्पत्ति बीज के लक्षणानुसार ही होती है।

यादृशं तूप्यते बीजं क्षेत्रे कालोपपादिते ।
तादृग्रोहति तत्तस्मिन्बीजं स्वैर्व्यञ्जितं गुणैः ॥ ३६ ॥

समय पर जैसा ही बीज क्षेत्र में बोया जाता है वैसा ही बीज के गुणों से युक्त क्षेत्र में पौधा निकलता है।

इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते ।
न च योनिगुणान्कांश्चिद्बीजं पुष्यति पुष्टिषु ॥ ३७ ॥

यह भूमि सभी प्राणियों का निरन्तर उत्पत्ति स्थान है। परन्तु कभी भी भूमि के गुण से बीज पुष्ट नहीं होता है।

भूमावप्येककेदारे कालोप्तानि कृषीबलैः ।
नानारूपाणि जायन्ते बीजानीह स्वभावतः ॥ ३८ ॥

एक ही समय में एक खेत में कृषकों द्वारा बोये हुए अनेक प्रकार के बीज अपने स्वभाव के अनुसार अनेक प्रकार के उत्पन्न होते हैं।

व्रीहयः शालयो मुद्गास्तिला माषास्तथा यवाः ।
यथा बीजं प्ररोहन्ति लशुनानीक्षवस्तथा ॥ ३९ ॥

धान, मूँग, तिल, उड़द और यव और लहसुन, ईख ये सभी अपने बीज के अनुसार ही उत्पन्न होते हैं।

अन्यदुप्तं जातमन्यदित्येतन्नोपपद्यते ।
उप्यते यद्धि यद्बीजं तत्तदेव प्ररोहति ॥ ४० ॥

बोया कुछ जाय और उत्पन्न कुछ हो ऐसा कभी नहीं होता है। जो बीज बोया जाता है वही उत्पन्न होता है।

तत्प्राज्ञेन विनीतेन ज्ञानविज्ञानवेदिना ।
आयुष्कामेन वप्तव्यं न जातु परयोषिति ॥ ४१ ॥

इसलिए ज्ञान-विज्ञान को जानने वाला दीर्घ आयुष्य की इच्छा वाला विद्वान् कभी भी परस्त्री में बीज को न बोये।

अत्र गाथा वायुगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।
यथा बीजं न वप्तव्यं पुंसा परपरिग्रहे ॥ ४२ ॥

दूसरे की स्त्री में दूसरे पुरुष को बीज नहीं बोना चाहिये। इस विषय में प्राचीन आचार्य वायु की गायी हुई गाथायें कहते हैं।

नश्यतीषुर्यथा विद्धः खे विद्धमनुविद्ध्यतः ।
तथा नश्यति वै क्षिप्तं बीजं परपरिग्रहे ॥ ४३ ॥

जिस प्रकार एक के बेधे हुए निशाने पर दूसरे का फेंका हुआ बाण

निष्फल होता है (अर्थात् पहले ही शिकारी का वह शिकार होता है) उसी प्रकार पराई स्त्री में बोया हुआ बीज निष्फल होता है।

पृथोरपीमां पृथिवीं भार्यां पूर्वविदो विदुः।
स्थाणुच्छेदस्य केदारमाहुः शल्यवती मृगम् ॥४४॥

पूर्वाचार्यों ने इस भूमि को पृथु की पत्नी कहा है जो जिस भूमि को क्षेत्र रूप में काटकर बनाता है वह उसी की होती है, जैसे पहले मृग को बाण मारने वाले का ही मृग होता है।

एतावानेव पुरुषो यज्जायाऽऽत्मा प्रजेति हि।
विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृताङ्गना ॥४५॥

अपना शरीर, सन्तति और स्त्री ये तीनों मिलकर पुरुष होता है। ब्राह्मणों का कहना है कि जो पति है वही स्त्री है अर्थात् पति और पत्नी में कोई भेद नहीं होता है।

न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते।
एवं धर्मं विजानीमः प्राक्प्रजापतिनिर्मितम् ॥४६॥

बेचने से या त्याग देने से स्त्री पति के पत्नीत्व से अलग नहीं होती है, यह धर्म पूर्व में प्रजापति ने जो बनाया है उसे हम लोग जानते हैं।

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत् ॥४७॥

भाइयों में पैतृक सम्पत्ति का बँटवारा एक ही बार होता है। कन्यादान एक ही बार होता है, किसी वस्तु का दान एक ही बार होता है, ये तीनों कार्य सज्जनों के लिए एक ही बार होता है।

यथा गोऽश्वोष्ट्रदासीषु महिष्यजाविकासु च।
नोत्पादकः प्रजाभागी तथैवान्याङ्गनास्वपि ॥४८॥

जैसे–गाय, घोड़ी, उँटनी, दासी, भैंस, बकरी, और भेड़ी में सन्तान उत्पन्न करने वाले बैल आदि सन्तान के भागी नहीं होते वैसे ही परस्त्री में सन्तान पैदा करने वाला पुरुष भी उस सन्तान का भागी नहीं होता है।

येऽक्षेत्रिणो बीजवन्तः परक्षेत्रप्रवापिणः।
ते वै सस्यस्य जातस्य न लभन्ते फलं क्वचित् ॥४९॥

जिसके पास स्वयं खेत नहीं है यदि वह दूसरे के खेत में बीज बोता है तो वह उस खेत में उत्पन्न हुए धान को किसी प्रकार भी पाने का हकदार नहीं है।

तदन्यगोषु वृषभो वत्सानां जनयेच्छतम् ।
गोमिनामेव ते वत्सा मोघं स्कन्दितमार्षभम् ॥५०॥

यदि दूसरे के गौ में वृषभ एक सौ बछड़े पैदा करे तो भी वे बछड़े उस गौ के स्वामी के होते हैं न कि उस वृषभ के। वृषभ का यह वीर्यसिंचन उसके स्वामी के लिए व्यर्थ होता है।

तथैवाक्षेत्रिणो बीजं परक्षेत्रप्रवापिणः ।
कुर्वन्ति क्षेत्रिणामर्थं न बीजी लभते फलम् ॥५१॥

उसी प्रकार बिना खेत वाले का बीज दूसरे के खेत में बोने से निष्फल हो जाता है। बोया हुआ बीज क्षेत्रस्वामी के निमित्त होता है बीज वाला उसके फल को नहीं पाता है।

फलं त्वनभिसंधाय क्षेत्रिणां बीजिनां तथा ।
प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजाद्योनिर्गरीयसी ॥५२॥

यदि खेत के मालिक और बीज बोने वाले में फल के विषय में कोई बात निश्चित नहीं हुई है। तो फल खेत के मालिक का ही होता है क्योंकि बीज से खेत श्रेष्ठ होता है।

क्रियाऽभ्युपगमात्त्वेतद्बीजार्थं यत्प्रदीयते ।
तस्येह भागिनौ दृष्टौ बीजी क्षेत्रिक एव च ॥५३॥

जिस खेत के उपज के फल के विषय में दोनों से आपस में तै हो गया है उस खेत के फल में क्षेत्रपति और बीजपति दोनों का ही भाग देखा जाता है।

ओघवाताहृतं बीजं यस्य क्षेत्रे प्ररोहति ।
क्षेत्रिकस्यैव तद्बीजं न वप्ता लभते फलम् ॥५४॥

जल और वायु के प्रवाह से आया हुआ बीज भी उसी का होता है जिसके खेत में वह जमता है न कि उसका, जिसके कि खेत से बह कर आया है।

एष धर्मो गवाश्वस्य दास्युष्ट्राजाविकस्य च ।
विहङ्गमहिषीणां च विज्ञेयः प्रसवं प्रति ॥५५॥

यही धर्म गौ, घोड़ी, दासी, उँटनी, भेंड़, बकरी और भैंस के सन्तानों के लिए भी जानना चाहिये।

एतद्वः सारफल्गुत्वं बीजयोन्योः प्रकीर्तितम् ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ॥५६॥

यह निश्चय तो क्षेत्र और बीज के प्रधानत्व और अप्रधानत्व के विषय में कहा, अब स्त्रियों के अपत्तिकाल सम्बन्धी धर्म को कहूँगा।

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा।
यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता ॥५७॥

छोटा भाई बड़े भाई की स्त्री को गुरुपत्नी और बड़ा भाई छोटे भाई के स्त्री को पुत्रवधू (पतोहू) के तुल्य माने यह ऋषियों का मत है।

ज्येष्ठो यवीयसो भार्यां यवीयान्वाग्रजस्त्रियम्।
पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ॥५८॥

जेठा भाई छोटे भाई के स्त्री के साथ और छोटा भाई बड़े भाई के स्त्री के साथ निरापद स्थिति में नियुक्त होकर यदि समागम करे तो वह पतित होता है।

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥५९॥

सन्तान न होने पर स्त्री अपने पति आदि गुरुजनों की आज्ञा से देवर या सपिण्ड के किसी व्यक्ति से अभीष्ट सन्तान को पैदा करे।

विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि।
एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन ॥६०॥

पूर्वोक्त प्रकार से नियुक्त पुरुष अपने शरीर में घी को लगाकर रात्रि में मौन रहकर विधवा स्त्री में एक ही पुत्र को उत्पन्न करे, दूसरे को नहीं।

द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते स्त्रीषु तद्विदः।
अनिर्वृतं नियोगार्थं पश्यन्तो धर्मतस्तयोः ॥६१॥

इस धर्म को जानने वाले महर्षियों का मत है कि दो पुत्र पैदा करना चाहिये। क्योंकि एक पुत्र का होना न होना बराबर है इसलिए धर्मपूर्वक द्वितीय पुत्र भी उत्पन्न करे।

विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु यथाविधि।
गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम् ॥६२॥

विधवा में शास्त्ररीत्या नियोग (गर्भ रहने) हो जाने के बाद वे दोनों स्त्री पुरुष गुरु और स्नुषा (पुत्रवधू) के भाँति व्यवहार करें।

नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः।
तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ ॥६३॥

इन दोनों के लिए जो विधि शास्त्रोक्त है उससे भिन्न व्यवहार करने वाले पुरुष, पुत्रवधू और गुरुपत्नी के साथ व्यभिचार करने के पाप के भागी होते हैं।

नान्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः ।
अन्यस्मिन्हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम् ॥६४॥

द्विजातियों को विधवा स्त्री का नियोग दूसरे से नहीं कराना चाहिये। क्योंकि ऐसा करने से सनातन (पतिव्रत) धर्म का नाश हो जाता है।

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् ।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥६५॥

विवाह के वेदोक्त मन्त्रों में नियोग कहीं नहीं लिखा है। और न तो विवाह विधायक शास्त्रों में ही कहीं विधवा विवाह का उल्लेख है।

अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः ।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥६६॥

विद्वान् ब्राह्मणों ने इस पशुधर्म की अत्यन्त निन्दा की है मनुष्यों में भी बेन राजा के समय से यह पशुधर्म प्रचलित हुआ है।

स महीमखिलां भुञ्जन्राजर्षिप्रवरः पुरा ।
वर्णानां सङ्करं चक्रे कामोपहतचेतनः ॥६७॥

प्राचीनकाल में राजर्षियों में श्रेष्ठ बेन राजा सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य करता हुआ काम से संतप्त चित्त होकर वर्ण संकरों को पैदा किया।

ततः प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकां स्त्रियम् ।
नियोजयत्यपत्यार्थं तं निगर्हन्ति साधवः ॥६८॥

उस समय से जो लोग विधवा स्त्री को सन्तानोत्पत्ति के लिए नियुक्त करते हैं उनकी अच्छे लोगों की मण्डली में निन्दा होती है।

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः ।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥६९॥

वाग्दान हो जाने के बाद जिस कन्या का पति मर जावे, ऐसी कन्या के साथ आगे कहे हुए विधि के अनुसार उसका देवर विवाह करे।

यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम् ।
मिथो भजेताप्रसवात् सकृत् सकृदृतावृतौ ॥७०॥

वह देवर यथाविधि (विवाहोक्त विधि) से नियोगकर उस पवित्र व्रत और सफेद वस्त्र पहनने वाली स्त्री से गर्भधारण काल तक ऋतुकाल में एक बार समागम करे।

न दत्त्वा कस्यचित्कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः ।
दत्त्वा पुनः प्रयच्छन्हि प्राप्नोति पुरुषानृतम् ॥७१॥

किसी को कन्या देने का वचन देकर फिर उस कन्या को ज्ञानी मनुष्य दूसरे को नहीं देता, क्योंकि एक को वचन देने के बाद दूसरे को देने से उस पुरुष को पुरुषानृत दोष भोगना पड़ता है।

विधिवत्प्रतिगृह्यापि त्यजेत्कन्यां विगर्हिताम् ।
व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मना चोपपादिताम् ॥७२॥

जो कन्या निन्दित, रोगिणी, कलंकित अथवा छल से अच्छी बताई गई हो, ऐसे कन्या का विवाह विधि से ग्रहण करके भी त्याग किया जा सकता है।

यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्यायोपपादयेत् ।
तस्य तद्वितथं कुर्यात्कन्यादातुर्दुरात्मनः ॥७३॥

जो पुरुष दोषयुक्त कन्या का दोष न बतला कर उसे किसी को दान (ब्याह) कर दे। तो वह पुरुष उस कन्या के दाता को वापस कर दे।

विधाय वृत्तिं भार्यायाः प्रसवेत्कार्यवान्नरः ।
आवृत्तिकर्षिता हि स्त्री प्रदुष्येत्स्थितिमत्यपि ॥७४॥

कार्यशील पुरुष भार्या के वृत्ति का विधान करके (अपने अर्थोपार्जन वृत्ति के लिये) देशान्तर की यात्रा करे। क्योंकि निर्वृत्तिक मनुष्य की स्त्री सुशीला होते हुए भी भोजनादि के कष्ट से दूषित हो जाती है।

विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता ।
प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः ॥७५॥

जीवनोपाय करके पति के परदेश जाने पर स्त्री को नियम पूर्वक समय बिताना चाहिये, यदि स्वामी जीवन निर्वाह का प्रबंध किये बिना ही परदेश चला जाय तो स्त्री को अनिन्दित शिल्प (कारीगरी) से जीवन बिताना चाहिये।

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः ।
विद्यार्थं षट् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥७६॥

यदि स्वामी धर्मकार्य (तीर्थयात्रा इत्यादि) के निमित्त विदेश गया हो तो आठ वर्ष, विद्याध्ययन के निमित्त अथवा यश प्राप्ति के निमित्त गया हो तो छः वर्ष और विषयवासना के लिए गया हो तो तीन वर्ष तक आने की प्रतीक्षा करे।

संवत्सरं प्रतीक्षेत द्विषन्तीं योषितं पतिः ।
ऊर्ध्वं संवत्सरात्त्वेनां दायं हृत्वा न संवसेत् ॥७७॥

पति से द्वेष करने वाली स्त्री का एक वर्ष तक प्रतीक्षा करे। यदि एक वर्ष के बाद (उस स्त्री की द्वेष बुद्धि न बदले तो) पति अपने दिये हुए आभूषणादि को लेकर उसके साथ समागम न करे।

अतिक्रामेत्प्रमत्तं या मत्तं रोगार्तमेव वा ।
सा त्रीन्मासान्परित्याज्या विभूषणपरिच्छदा ॥७८॥

जो स्त्री किसी दुर्व्यसन में भूले हुए अथवा मतवाला पति या रुग्ण पति का अनादर करे तो ऐसी स्त्री को पति उसका वस्त्रभूषणादि लेकर तीन मास तक त्याग दे।

उन्मत्तं पतितं क्लीबमबीजं पापरोगिणम् ।
न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश्च न च दायापवर्तनम् ॥७९॥

यदि पागल, पतित, नपुंसक, वीर्यहीन या कुष्ठ आदि पाप रोगों से युक्त पति का स्त्री सेवा न करे तो उस स्त्री का आभूषण न ले और उसका त्याग भी न करे।

मद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत् ।
व्याधिता वाऽधिवेत्तव्या हिंस्रार्थघ्नी च सर्वदा ॥८०॥

मदिरा पीनेवाली, बुरे आचरण वाली, स्वामी के प्रतिकूल चलने वाली, रोगिणी, हिंसा करने वाली और व्यर्थ खर्च करने वाली स्त्री को त्याग देना चाहिये।

वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा ।
एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥८१॥

यदि स्त्री वन्ध्या (अर्थात् प्रथम रजोदर्शन से ७ वर्ष तक यदि संतान न हो) तो, आठवें वर्ष में मृतवत्सा (संतान न जीते हों) तो, दशवें वर्ष में केवल कन्या ही हो तो, ग्यारहवें वर्ष में अपुत्रिणी हो तो शीघ्र ही दूसरा ब्याह कर लेना चाहिये।

या रोगिणी स्यात्तु हिता सम्पन्ना चैव शीलता ।
सानुज्ञाप्याधिवेत्तव्या नावमान्या च कर्हिचित् ॥८२॥

जो शीलवती और रोगिणी स्त्री अपने पति में प्रेम रखती हो तो ऐसी स्त्री का पति उस स्त्री से आज्ञा लेकर अपना दूसरा ब्याह करे और कभी भी उस स्त्री का अपमान न करे।

अधिविन्ना तु या नारी निर्गच्छेद्रुषिता गृहात् ।
सा सद्यः संनिरोद्धव्या त्याज्या वा कुलसन्निधौ ॥८३॥

जो स्त्री स्वामी के दूसरा ब्याह करने पर रुष्ट होकर घर से भागे तो उसे पकड़कर घर में बन्द कर देना चाहिये या उसको उसके बाप के घर पहुँचा देना चाहिये।

प्रतिषिद्धापि चेद्या तु मद्यमभ्युदयेष्वपि ।
प्रेक्षासमाजं गच्छेद्वा सा दण्ड्या कृष्णलानि षट् ॥८४॥

जो स्त्री पति के निषेध करने पर भी उत्सवों में मदिरा पान करे या खेल तमाशा देखने जाय तो ऐसी स्त्री को राजा छः कृष्णल दण्ड दे।

यदि स्वाश्चापराश्चैव विन्देरन्योषितो द्विजाः ।
तासां वर्णक्रमेण स्याज्ज्यैष्ठ्यं पूजां च वेश्म च ॥८५॥

यदि द्विजाति किसी स्वजातीय और विजातीय दोनों कन्या से विवाह कर ले तो उनमें वर्णक्रम से श्रेष्ठ और लघु का विचार करना चाहिये और उसी क्रम से भूषणादि की भी व्यवस्था करनी चाहिये।

भर्तुः शरीरशुश्रूषां धर्मकार्यं च नैत्यकम् ।
स्वा चैव कुर्यात्सर्वेषां नास्वजातिः कथञ्चन ॥८६॥

पति के शरीर की सेवा और नित्य का धर्मकार्य स्वजाति की स्त्री करे, विजातीय स्त्री कभी न करे यह सभी के लिए नियम है।

यस्तु तत्कारयेन्मोहात्सजात्या स्थितयान्यया ।
यथा ब्राह्मणचाण्डालः पूर्वदृष्टस्तथैव सः ॥८७॥

जो पुरुष स्वजाति की स्त्री रहते हुए मोह से विजातीय स्त्री से अपनी सेवा कराता है, वह पुरुष जैसे ब्राह्मणी के गर्भ में शूद्र से उत्पन्न ब्राह्मण चांडाल होता है उसके तुल्य होता है ऐसा पूर्व ऋषियों ने कहा है।

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च ।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि ॥८८॥

स्वजातीय उत्तम कुल और सुन्दर वर प्राप्त हो जाय तो विवाह करने योग्य कन्या के न होते हुए भी ऐसे वर के साथ उस कन्या का विवाह यथाविधि कर देना चाहिये।

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥८९॥

ऋतुमती होते हुए भी कन्या का आजीवन पिता के घर में अविवाहित रहना श्रेष्ठ है। किन्तु मूर्ख, गुणहीन वर के साथ कभी उसका ब्याह न करे।

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती ।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥९०॥

सती कन्या ऋतुमती होने पर तीन वर्ष तक अच्छे वर की प्रतीक्षा करे। इसके बाद (अच्छे वर के अभाव में) अपने जाति और गुण वाले वर का स्वयं वरण करे।

अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद् यदि स्वयम्।
नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साऽधिगच्छति ॥९१॥

अपने पूर्वजों (पिता, माता, भाई इत्यादि) के द्वारा विवाह के अभाव में यदि कन्या यथा समय स्वयं विवाह कर ले तो उस कन्या को या उसके पति को कोई पाप नहीं होता है।

अलङ्कारं नाददीत पित्र्यं कन्या स्वयंवरा।
मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तेना स्याद्यदि तं हरेत् ॥९२॥

स्वयं वरण करने वाली कन्या अपने पितृयों (माता, पिता, भाई) का दिया हुआ भूषणादि न ले, यदि ले ले तो वह चोर समझी जाती है।

पित्रे न दद्याच्छुल्कं तु कन्यामृतुमतीं हरन्।
स हि स्वाम्यादतिकामे दृतूनां प्रतिरोधनात् ॥९३॥

ऋतुमती कन्या से विवाह करने वाला उस कन्या के पिता को शुल्क न दे, क्योंकि ऋतुओं के प्रतिरोध से (अर्थात् संतानोत्पत्ति के निरोध से) उस कन्या के ऊपर उसका (कन्या के पिता का) स्वामित्व नहीं रह जाता है।

त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः ॥९४॥

तीस वर्ष के उमर का वर बारह वर्ष के उम्र की सुन्दर कन्या से एवं चौबीस वर्ष उम्र का वर आठ वर्ष की कन्या के साथ विवाह करे, इसमें शीघ्रता करने वाला धर्म (गार्हस्थ्य) में क्लेश पाता है।

देवदत्तां पतिर्भार्यां विन्दते नेच्छयात्मनः।
तां साध्वीं विभृयान्नित्यं देवानां प्रियमाचरन् ॥९५॥

पति अपनी इच्छा से पत्नी को नहीं पाता है, किन्तु देवता से दी हुई स्त्री पाता है। इसलिए देवताओं के प्रसन्नार्थ उस सती स्त्री का नित्य पालन करे।

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः।
तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः ॥९६॥

ब्रह्मा ने जन्म देने के लिए स्त्री को और आधान करने के लिए पुरुष को बनाया है। इसलिये स्त्री के साथ साधारण धर्म भी करना चाहिये ऐसा वेद में कहा है।

कन्यायां दत्तशुल्कायां म्रियेत यदि शुल्कदः ।
देवराय प्रदातव्या यदि कन्याऽनुमन्यते ॥९७॥

कन्या के लिए शुल्क देने वाला यदि विवाह के पहले ही मर जाय तो कन्या की अनुमति से उसे उसके देवर के साथ ब्याह देवे।

आददीत न शूद्रोऽपि शुल्कं दुहितरं ददत् ।
शुल्कं हि गृह्णन्कुरुते छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥९८॥

कन्यादान के लिए शूद्र भी शुल्क न ले, क्योंकि शुल्क लेने वाला कन्यादान के बहाने से यह छिपकर कन्या का विक्रय करता है।

एतत्तु न परे चक्रुर्नापरे जातु साधवः ।
यदन्यस्य प्रतिज्ञाय पुनरन्यस्य दीयते ॥९९॥

ऐसा कार्य पहले किसी ने न किया और न वर्तमान में कोई कर रहा है जो किसी को कन्या देने का निश्चय करके किसी और को दे दे।

नानुशुश्रुम जात्वेतत्पूर्वेष्वपि हि जन्मसु ।
शुल्कसंज्ञेन मूल्येन छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥१००॥

हमने पूर्व में भी कभी यह नहीं सुना कि शुल्क के अन्दर किसी ने कन्या विक्रय को छिपाया हो।

अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः ।
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ॥१०१॥

दोनों स्त्री-पुरुष आमरण (जब तक जीवें) परस्पर मेल के साथ सभी धर्मादि कार्यों में सहयोग देते हुये रहें, यही स्त्री-पुरुष का संक्षेप से धर्म है।

तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ ।
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम् ॥१०२॥

दोनों स्त्री-पुरुषों को सदा ऐसे यत्न से रहना चाहिये जिससे अलग-अलग रहते हुए भी धर्मादि कृत्यों में कोई किसी के विरुद्ध आचरण न करे।

एष स्त्रीपुंसयोरुक्तो धर्मो वो रतिसंहितः ।
आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दायभागं निबोधत ॥१०३॥

यह स्त्री-पुरुषों का रति संयुक्त धर्म और आपद अवस्था संतानोत्पत्ति का नियम कहा। अब दायभाग को कहता हूँ।

ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम् ।
भजेरन्पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः ॥१०४॥

माता-पिता के मरने के बाद सभी भाई बाप के धन को आपस में बराबर-बराबर बाँट लें। माता-पिता के जीवित अवस्था में उन्हें धन बाँटने का कोई अधिकार नहीं है।

ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयान्पित्र्यं धनमशेषतः ।
शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा ॥१०५॥

भाइयां में सबसे ज्येष्ठ जो हो वही पिता के सम्पूर्ण धन को ग्रहण करे और शेष भाइयों को उसे पिता के तुल्य समझते हुए उसके अधीन रहना चाहिये।

ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः ।
पितृणामनृणश्चैव स तस्मात्सर्वमर्हति ॥१०६॥

ज्येष्ठ पुत्र के होने से मनुष्य पुत्रवान् होता है और पितृ ऋण से मुक्त हो जाता है। इसलिए वह पिता के सम्पूर्ण धन के पाने का अधिकारी होता है।

यस्मिन्नृणं संनयति येन चानन्त्यमश्नुते ।
स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान्विदुः ॥१०७॥

जिसके जन्म होने से पिता पितृ-ऋण से मुक्त होकर और मोक्ष को प्राप्त होता है, उसे धर्मजपुत्र और अन्य को कामज पुत्र कहते हैं।

पितेव पालयेत्पुत्राञ्ज्येष्ठो भ्रातॄन्यवीयसः ।
पुत्रवच्चापि वर्तेरञ्ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः ॥१०८॥

जिस प्रकार से पिता अपने पुत्रों का पालन करता है उसी प्रकार से जेठा भाई अपने छोटे भाइयों का पालन करे। और छोटे भाई भी जेठे भाई के साथ पुत्र के ही तरह प्रेम के साथ व्यवहार करें।

ज्येष्ठः कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुनः ।
ज्येष्ठः पूज्यतमो लोके ज्येष्ठः सद्भिरगर्हितः ॥१०९॥

जेठा भाई कुल को बढ़ा सकता है और नाश भी कर सकता है। संसार में जेठा भाई पूजनीय माना जाता है कोई भी सज्जन व्यक्ति उसकी निन्दा नहीं करता है।

यो ज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यान्मातेव स पितेव सः ।
अज्येष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात्सा संपूज्यस्तु बन्धुवत् ॥११०॥

जो जेठा भाई अपने छोटे भाइयों के साथ अपने धर्म के अनुसार व्यवहार करता है वह माता-पिता के समान ही पूजनीय होता है। किन्तु जो अपने धर्म के अनुसार व्यवहार नहीं करता है, वह अन्य बन्धुओं के समान आदरणीय होता है।

एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया ।
पृथग्विवर्धते धर्मस्तस्माद्धर्म्या पृथक् क्रिया ॥१११॥

इस प्रकार सभी भाई एक साथ रहें या धर्म क्रिया की इच्छा से अलग-अलग रहें, अलग रहने से धर्म की वृद्धि होती है। इसलिये आपस में विभाग क्रिया धर्म संगत है। उक्तं च बृहस्पतिः–

'एकपाकेन वसतां पितृदेवद्विजार्चनम् ।
एवं भवेद् विभक्तानां तदेव स्याद् गृहे गृहे ॥'

ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम् ।
ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः ॥११२॥

सम्पूर्ण धन का बीसवाँ (१/२०) और सभी वस्तुओं में उत्तम वस्तु जेठे भाई को और उसका आधा (अर्थात् १/४० भाग) मझले भाई को और उसका चौथाई याने १/८० भाग छोटे को देना चाहिये, शेष में सभी को बराबर बाँट लेना चाहिए।

ज्येष्ठश्चैव कनिष्ठश्च संहरेतां यथोदितम् ।
येऽन्ये ज्येष्ठकनिष्ठाभ्यां तेषां स्यान्मध्यमं धनम् ॥११३॥

जेठा और सबसे छोटा भाई ऊपर के कहे अनुसार धन को लें, इन दोनों के बीच के जो भाई हैं वे सभी मझले के बराबर भाग (१/४०) लेवें।

सर्वेषां धनजातानामाददीताग्र्यमग्रजः ।
यच्च सातिशयं किञ्चिद्दशतश्चाप्नुयाद्वरम् ॥११४॥

जेठा भाई सभी धनों में-से उत्तम धन, सभी वस्तुओं में-से उत्तम वस्तु और दश पशुओं में-से एक उत्तम पशु लेवे।

उद्धारो न दशस्वस्ति सम्पन्नानां स्वकर्मसु ।
यत्किञ्चिदेव देयं तु ज्यायसे मानवर्धनम् ॥११५॥

यदि सभी भाई समान गुण वाले हों तो ऊपर कहे हुए दश पशुओं में-से एक श्रेष्ट पशु जेठे भाई को देना चाहिये। वह न दे, किन्तु उसके सम्मान के लिए औरों से कुछ विशेष दे देवे।

एवं समुद्धृतोद्धारे समानंशान्प्रकल्पयेत् ।
उद्धारेऽनुद्धृते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना ॥११६॥

इस प्रकार सभी भाइयों को पूर्व निर्णयानुसार अपने-अपने भाग को ले लेने पर जो बच जाय उसे आपस में बराबर-बराबर बाँट लें। यदि पूर्व निश्चयानुसार भाग न मिले हों तो आगे के नियम के अनुसार धन को बाँट लेवें।

एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः पुत्रोऽध्यर्धं ततोऽनुजः ।
अंशमंशं यवीयांस इति धर्मो व्यवस्थितः ॥११७॥

जेठा लड़का दो भाग और इससे छोटा भाई डेढ़ भाग और इसके बाद जितने छोटे भाई हों वे सब एक-एक अंश ले यह धर्मानुकूल विभाग है।

स्वेभ्योंऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक् ।
स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः ॥११८॥

कन्या (अविवाहित बहिनों को) सभी भाई अपने भागों में-से अलग दें। जो भाई बहिन के विवाह के लिये अपने धन का चौथा भाग नहीं देते वे पतित होते हैं।

अजाविकं सैकशफं न जातु विषमं भजेत् ।
अजाविकं तु विषमं ज्येष्ठस्येव विधीयते ॥११९॥

भेड़, बकरा और घोड़ा आदि पशुओं की बराबर-बराबर बाँट ले यदि बराबर बाँटने से शेष बचें तो वह ज्येष्ठ भाई को दे देवें। किन्तु उन्हें बेंचकर उनके मूल्य का बटवारा न करें।

यवीयाञ्ज्येष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पादयेद्यदि ।
समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥१२०॥

यदि छोटा भाई जेठे भाई के स्त्री में पुत्र उत्पन्न करे तो उस पुत्र को अपने चाचा के समान ही धन का हिस्सा मिलेगा, यह धन की व्यवस्था धर्मतः नियत है।

उपसर्जनं प्रधानस्य धर्मतो नोपपाद्यते ।
पिता प्रधानं प्रजने तस्माद्धर्मेण तं भजेत् ॥१२१॥

वह पुत्र ज्येष्ठ भाई का क्षेत्रज होने के कारण ज्येष्ठ के समान धन का भाग नहीं पा सकता है। क्योंकि सन्तानोत्पत्ति में पिता ही प्रधान होता है। इसलिये वह अपने चाचा के अनुसार ही धन के भाग को पाने का अधिकारी है।

पुत्रः कनिष्ठो ज्येष्ठायां कनिष्ठायां च पूर्वजः ।
कथं तत्र विभागः स्यादिति चेत्संशयो भवेत् ॥१२२॥

यदि प्रथम विवाह के स्त्री से छोटा पुत्र हो और द्वितीय विवाह के स्त्री से ज्येष्ठ पुत्र हो (याने पहले दूसरी स्त्री से पुत्र हो और पीछे पहली स्त्री से) तो धन का बँटवारा किस प्रकार किया जायगा ऐसा संशय हो तो।

एकं वृषभमुद्धारं संहरेत स पूर्वजः ।
ततोऽपरे ज्येष्ठवृषास्तदूनानां स्वमातृतः ॥१२३॥

पूर्वज (पहली स्त्री से उत्पन्न बालक) अपने हिस्से में एक बैल अधिक ले। इसके बाद शेष भाई अपने माताओं के छोटाई बड़ाई के अनुसार अपना-अपना हिस्सा लगावें।

ज्येष्ठस्तु जातो ज्येष्ठायां हरेदवृषभषोडशाः ।
ततः स्वमातृतः शेषा भजेरन्निति धारणा ॥१२४॥

यदि ज्येष्ठ स्त्री में ज्येष्ठ पुत्र हो तो वह अपने हिस्से में पन्द्रह गौ और एक बैल ले, इसके बाद अन्य भाई अपने-अपने माता के ज्येष्ठता के अनुसार धन का विभाग करें।

सदृशस्त्रीषु जातानां पुत्राणामविशेषतः ।
न मातृतो ज्येष्ठ्यमस्ति जन्मतो ज्येष्ठ्यमुच्यते ॥१२५॥

सजातीय स्त्रियों में जो पुत्र उत्पन्न होते हैं उनमें विशेषता न होने के कारण माता के ज्येष्ठ होने पर भी उनकी ज्येष्ठता नहीं होती है किन्तु जन्म से ही इनकी बड़ाई छोटाई होती है।

जन्मज्येष्ठेन चाह्वानं सुब्रह्मण्यास्वपि स्मृतम् ।
यमयोश्चैव गर्भेषु जन्मतो ज्येष्ठता स्मृता ॥१२६॥

(ज्योतिष्टोमादि यज्ञों में) 'सुब्राह्मण्या' इत्यादि मन्त्र से जन्म से ज्येष्ठ पुत्र द्वारा ही पितरों का आवाहन होता है। यमल गर्भ से उत्पन्न बालकों में भी जिसका जन्म पहले होता है वह बड़ा होता है।

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् ।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम् ॥१२७॥
(अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम् ।
अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति ॥)

पुत्रहीन मनुष्य अपनी कन्या को इस प्रकार से पुत्रिका करे कि 'इस कन्या से जो पुत्र होगा वह मेरा श्राद्ध करेगा।'

(मैं आभूषण से युक्त भातृहीन) इस कन्या को तुम्हें दे रहा हूँ। इससे जो पुत्र होगा वह मेरे पुत्र के सदृश होगा।

अनेन तु विधानेन पुरा चक्रेऽथ पुत्रिका ।
विवृद्ध्यर्थं स्ववंशस्य स्वयं दक्षः प्रजापतिः ॥१२८॥

इसी विधि से पहले दक्षप्रजापति ने अपने वंश के वृद्धि के लिए पुत्रिका की थी।

ददौ स दश धर्माय कश्पयाय त्रयोदश ।
सोमाय राज्ञे सत्कृत्य प्रीतात्मा सप्तविंशतिम् ॥१२९॥

दक्षप्रजापति ने प्रसन्न होकर दश कन्यायें धर्मराज को, तेरह कश्यप को और सताइस कन्यायें द्विजराज चन्द्रमा को दिया था।

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा ।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥१३०॥

जैसे आत्मा और पुत्र समान हैं, उसी प्रकार पुत्र और पुत्री समान हैं। इसलिये आत्मा के सदृश कन्या के रहते दूसरा धन को कैसे ले सकता है।

मातुस्तु यौतकं यत् स्यात्कुमारीभाग एव सः ।
दौहित्र एव च हरेदपुत्रस्याखिलं धनम् ॥१३१॥

माता के विवाह समय के आभूषणादिक जो उसके पिता इत्यादि से मिले हैं, वह संपूर्ण उसके अविवाहित कन्याओं को मिलना चाहिये और पुत्रहीन नाना का सम्पूर्ण धन उसके दौहित्र (लड़की के लड़के को) लेना चाहिये।

दौहित्रो ह्यखिलं रिक्थमपुत्रस्य पितुर्हरेत् ।
स एव दद्याद् द्वौ पिण्डौ पित्रे मातामहाय च ॥१३२॥

अपुत्रवान् पिता का भी सम्पूर्ण धन उसके दौहित्र को ही मिलना चाहिये। और वही दौहित्र पिता और मातामह दोनों को पिंड देवे।

पौत्रदौहित्रयोर्लोके न विशेषोऽस्ति धर्मतः ।
तयोर्हि मातापितरौ सम्भूतौ तस्य देहतः ॥१३३॥

संसार में पौत्र और दौहित्र में धर्मतः कोई विशेषता नहीं है। क्योंकि उन दोनों के माता-पिता एक ही शरीर से उत्पन्न हुए हैं।

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते ।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः ॥१३४॥

पुत्रिका कर लेने के बाद यदि पुत्र का जन्म हो तो दोनों को धन का विभाजन समान करना चाहिये कन्या की ज्येष्ठता नहीं होती है।

अपुत्रायां मृतायां तु पुत्रिकायां कथञ्चन ।
धनं तत्पुत्रिकाभर्ता हरेतैवाविचारयन् ॥१३५॥

यदि दैवात् पुत्रिका बिना पुत्र के ही मर जाय तो उस अवस्था में बिना विचार किये हुए ही वह धन (जिसकी पुत्रिका अधिकारी थी) उसका पति ले ले।

अकृता वा कृता वाऽपि यं विन्देत्सदृशात्सुतम् ।
पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्धनम् ॥१३६॥

मातामह पुत्रिका करे या न करे यदि उसकी कन्या को समान जातीय पति से पुत्र उत्पन्न हो तो उसी पुत्र से मातामह पौत्रवान् होगा और वही मातामह का पिंडदान करके धन का भागी होगा।

पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते ।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥१३७॥

पुत्र के जन्म से मनुष्य (स्वर्गादि) को पाता है, पौत्र के जन्म से दीर्घ काल तक स्वर्ग में रहता है। और प्रपौत्र के उत्पन्न होने से सूर्यलोक को पाता है।

पुंनाम्नो नरकाद्यस्मात् त्रायते पितरं सुतः ।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥१३८॥

लड़का (पुं०) नामक नरक से पितरों का उद्धार करता है इसलिए स्वयं ब्रह्माजी ने लड़के को पुत्र कहा है।

पौत्रदौहित्रयोर्लोके विशेषो नोपपद्यते ।
दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं सन्तारयति पौत्रवत् ॥१३९॥

संसार में पौत्र और दौहित्र में विशेषता नहीं है, दौहित्र भी पिण्डदानादि क्रियाओं से मातामह का उसके अनुसार ही परलोक में उद्धार करता है।

मातुः प्रथमतः पिण्डं निर्वपेत्पुत्रिकासुतः ।
द्वितीयं तु पितुस्तस्यास्तृतीयं तत्पितुः पितुः ॥१४०॥

पुत्रिका का पुत्र (दौहित्र) पहला पिण्ड माता को, दूसरा मातामह (नाना) को और तीसरा प्रमातामह (परनाना) को दे।

उपपन्नो गुणैः सर्वैः पुत्रो यस्य तु दत्त्रिमः ।
स हरेतैव तद्रिक्थं सम्प्राप्तोऽप्यन्यगोत्रतः ॥१४१॥

जिसका दत्तक पुत्र सभी गुणों से सम्पन्न है वह दूसरे गोत्र से आने पर भी पिता के सब धन का अधिकारी होता है।

गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेद्दत्त्रिमः क्वचित् ।
गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा ॥१४२॥

दत्तक पुत्र का उसके जन्मकाल के गोत्र और धन से कोई प्रयोजन नहीं रहता है, जिसका वह दत्तक है, उसी को उसका पिण्डादि दिया हुआ प्राप्त होता है। किंतु उसके जन्मदाता पिता का उससे पिण्डादि पाने का हक नहीं रहता है।

अनियुक्तासुतश्चैव पुत्रिण्याप्तश्च देवरात्।
उभौ तौ नार्हतो भागं जारजातककामजौ ॥१४३॥

विधान के अनुसार नियोग के बिना या अपुत्रिणी यदि देवर से पुत्र उत्पन्न करा ले तो ये दोनों पुत्र धन के भागी नहीं होते, क्योंकि पहला जारज और दूसरा कामज होता है।

नियुक्तायामपि पुमान्नार्यां जातोऽविधानतः।
नैवार्हः पैतृकं रिक्थं पतितोत्पादितो हि सः ॥१४४॥

अवधि से नियुक्ता स्त्री में भी उत्पन्न पुत्र पिता के धन का भागी नहीं होता है। क्योंकि वह पतित से उत्पन्न हुआ है।

हरेत्तत्र नियुक्तायां जातः पुत्रो यथौरसः।
क्षेत्रिकस्य तु तद्बीजं धर्मतः प्रसवश्च सः ॥१४५॥

शास्त्रीय विधान के अनुसार नियुक्ता स्त्री में जो पुत्र उत्पन्न होता है, वह, पिता के धन का अधिकारी होता है। क्योंकि वह धर्मतः क्षेत्रज उत्पन्न किया हुआ है।

धनं यो बिभृयाद् भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव च।
सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम् ॥१४६॥

भाई के मरने के बाद जो भाई उसके स्त्री और धन की रक्षा करे वह भाई के स्त्री में शास्त्रीय नीति से पुत्र उत्पन्न कर उसको भाई का धन दे दे।

या नियुक्ताऽयतः पुत्रं देवराद्वाऽप्यवाप्नुयात्।
तं कामजमरिक्थीयं वृथोत्पन्नं प्रचक्षते ॥१४७॥

जो स्त्री बड़े लोगों से नियुक्त होने पर भी देवर या अन्य किसी से पुत्र उत्पन्न करावे, यदि वह कामज पुत्र हो तो वह पितृधन का अधिकारी नहीं होता। क्योंकि पण्डितों ने उसके जन्म को वृथा कहा है।

एतद्विधानं विज्ञेयं विभागस्यैकयोनिषु।
बह्वीषु चैकजातानां नानास्त्रीषु निबोधत ॥१४८॥

यह सजातीय स्त्रियों में उत्पन्न पुत्रों के धन के विभाग की व्यवस्था कही। अब आगे विजातीय स्त्रियों में उत्पन्न पुत्रों के विभाग की व्यवस्था कह रहा हूँ।

ब्राह्मणस्यानुपूर्वेण चतस्रस्तु यदि स्त्रियः।
तासां पुत्रेषु जातेषु विभागेऽयं विधिः स्मृतः ॥१४९॥

यदि ब्राह्मण को चारो वर्णों की स्त्रियाँ हों और चारों को पुत्र हों तो उसके विभाग की व्यवस्था इस प्रकार है–

कीनाशो गोवृषो यानमलङ्कारश्च वेश्म च।
विप्रस्यौद्धारिकं देयमेकांशश्च प्रधानतः ॥१५०॥

स्वजातीय स्त्री से उत्पन्न पुत्र को खेती करने लायक श्रेष्ठ बैल, सवारी लायक घोड़ा, आभूषण, मकान, अन्य विभागीय वस्तुओं में-से एक श्रेष्ठ वस्तु देना चाहिये। और शेष धन का विभाग अन्य लोग इस प्रकार करें।

त्र्यंशं दायाद्धरेद्विप्रो द्वावंशौ क्षत्रियासुतः।
वैश्याजः सार्धमेवांशमंशं शूद्रासुतो हरेत् ॥१५१॥

सम्पूर्ण धन का तीसरा भाग ब्राह्मणी का पुत्र, दो भाग क्षत्राणी का पुत्र, ढेड़ भाग वैश्य का पुत्र और एक भाग शूद्र का पुत्र लेवे।

सर्वं वा रिक्थजातं तद्दशधा परिकल्प्य च।
धर्म्यं विभागं कुर्वीत विधिनाऽनेन धर्मवित् ॥१५२॥

अथवा धर्मज्ञ महात्मा लोग सम्पूर्ण धन का दश भाग करके आगे कही हुई विधि के अनुसार धन को बाँट दें।

चतुरोंऽशान् हरेद्विप्रस्त्रीनंशान्क्षत्रियासुतः।
वैश्यापुत्रो हरेद् द्व्यंशमंशं शूद्रासुतो हरेत् ॥१५३॥

ब्राह्मणी के पुत्र का चार भाग, क्षत्रिय के पुत्र को तीन भाग वैश्या के पुत्र को दो भाग और शूद्रा के पुत्र को एक भाग देवे।

यद्यपि स्यात्तु सत्पुत्रोऽप्यसत्पुत्रोऽपि वा भवेत्।
नाधिकं दशमाद्दद्याच्छूद्रापुत्राय धर्मतः ॥१५४॥

ब्राह्मण को द्विजातीय स्त्रियों से पुत्र हों या न हों किंतु शूद्रा के पुत्र को दशवें भाग से अधिक न दें।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्रापुत्रो न रिक्थभाक्।
यदेवास्य पिता दद्यात्तदेवास्य धनं भवेत् ॥१५५॥

ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य से शूद्रा को जो पुत्र उत्पन्न हो वह उनके धन के पाने का हकदार नहीं होगा। किंतु पिता जो कुछ दे दे वही उसका धन होता है।

समवर्णासु ये जाताः सर्वे पुत्रा द्विजन्मनाम्।
उद्धारं ज्यायसे दत्त्वा भजेरन्नितरे समम् ॥१५६॥

द्विजातियों को सजातीय स्त्रियों में जितनी संतान हों वे बड़े को उसका ज्येष्ठांश देकर शेष बराकर बाँट ले।

शूद्रस्य तु सवर्णैव नान्या भार्या विधीयते।
तस्यां जाताः समांशाः स्युर्यदि पुत्रशतं भवेत् ॥१५७॥

शूद्र को सवर्ण की ही स्त्री करनी चाहिये उसको अन्य वर्ण की स्त्री करने का अधिकार नहीं है। इसलिए यदि उस स्त्री से एक सौ पुत्र भी हों तो उनको पिता की सम्पत्ति बराबर ही मिलेगी।

पुत्रान्द्वादश यानाह नृणां स्वायंभुवो मनुः।
तेषां षड्बन्धुदायादाः षडदायादबान्धवाः ॥१५८॥

स्वायंभुव मनु ने मनुष्यों के जो बारह पुत्र कहे हैं उनमें छः सगोत्र और बान्धव हैं और शेष छः बान्धव होते हैं।

औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च।
गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट् ॥१५९॥

औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढ़ोत्पन्न और अपविद्ध ये छः पुत्र सगोत्र और बान्धव भी होते हैं।

कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा।
स्वयंदत्तश्च शौद्रश्च षडदायादबान्धवाः ॥१६०॥

कानीन, सहोढ़, क्रीत, पौनर्भव, स्वयंदत्त और शौद्र ये पुत्र केवल बांधव होते हैं। (जो पुत्र सगोत्र और बांधव दोनों हैं वे धन के भागी होते हैं) उससे भिन्न जो हैं। वे धनभागी नहीं होते हैं।

यादृशं फलमाप्नोति कुप्लवैः संतरञ्जलम्।
तादृशं फलमाप्नोति कुपुत्रैः संतरंतमः ॥१६१॥

जैसे खराब नाव से जल को पार करने वाला पार नहीं हो पाता है, उसी प्रकार कुपुत्र से मनुष्य भवसागर को पार करने में सफल नहीं होता है।

यद्येकरिक्थिनौ स्यातामौरसक्षेत्रजौ सुतौ।
यस्य यत्पैतृकं रिक्थं स तद् गृह्णीत नेतरः ॥१६२॥

यदि एक ही धन के औरस और क्षेत्रज दोनों अधिकारी हों तो जिस पुत्र के पिता का धन है वही उसको पा सकता है दूसरा पुत्र नहीं पा सकता।

एक एवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः।
शेषाणामानृशंस्यार्थं प्रदद्यात्तु प्रजीवनम् ॥१६३॥

एक औरस पुत्र ही पिता के सम्पत्ति का अधिकारी होता है। शेष पुत्रों को निर्दयता के निवारणार्थ जीविका का उपाय कर देना चाहिये।

षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद्धनात् ।
औरसो विभजन्दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा ॥१६४॥

पिता के धन का विभाग करते समय औरस पुत्र, क्षेत्रज को धन का छठा या पाँचवाँ भाग दे।

औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ पितृरिक्थस्य भागिनौ ।
दशापरे तु क्रमशो गोत्ररिक्थांशभागिनः ॥१६५॥

पिता के धन के उत्तराधिकारी औरस और क्षेत्रज पुत्र ही होते हैं। अन्य दश प्रकार के पुत्र गोत्र धन के अनुसार क्रम से (एक के बाद दूसरा) उत्तराधिकारी होता है।

स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयंमुत्पादयेद्धि यम् ।
तमौरसं विजानीयात्पुत्रं प्रथमकल्पितम् ॥१६६॥

वैदिक रीति से संस्कारित अपनी स्त्री में जो पुत्र स्वयं उत्पन्न करता है। वही सब पुत्रों में श्रेष्ठ औरस पुत्र होता है।

यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा ।
स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः ॥१६७॥

मरे हुए, रुग्ण या नपुंसक पति के स्त्री में शास्त्रोक्त रीति से नियोग द्वारा जो पुत्र उत्पन्न होता है। उसे क्षेत्रज कहते हैं।

माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि ।
सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयौ दत्त्रिमः सुतः ॥१६८॥

माता-पिता जिस सजातीय पुत्र को अपने खुशी से जलोत्सर्ग द्वारा किसी पुत्राभावरूपी आपद्ग्रस्त को देते हैं, उस पुत्र को दत्तक पुत्र कहते हैं।

सदृशं तु प्रकुर्याद्यं गुणदोषविचक्षणम् ।
पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयश्च कृत्रिमः ॥१६९॥

सजातीय गुणदोष के जानने वाले पुत्र के गुणों से युक्त पुत्र को अपना पुत्र मानकर रखा जाता है उसे कृत्रिम पुत्र कहते हैं।

उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्य सः ।
स गृहे गूढ उत्पन्नस्तस्य स्याद्यस्य तल्पजः ॥१७०॥

घर में पुत्र उत्पन्न हुआ 'किंतु यह किससे हुआ' यह किसी को मालूम नहीं है ऐसे पुत्र को गूढ़ोत्पन्न पुत्र कहते हैं और वह पुत्र उसीका माना जायगा जिसके स्त्री में उत्पन्न हुआ है।

मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा ।
यं पुत्रं प्रतिगृह्णीयादपविद्धः स उच्यते ॥१७१॥

माता-पिता दोनों से या किसी एक से त्यागे हुए पुत्र का जो पालन पोषण करके पुत्रवत् रखता है वह उसका अपविद्ध पुत्र कहलाता है।

पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः ।
तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवम् ॥१७२॥

पिता के घर में गुप्तरूप से जो कुमारी कन्या पुत्र को उत्पन्न करती है वह पुत्र उसका होता है। जो उससे विवाह करता है, किन्तु उस पुत्र को कानीन पुत्र कहते हैं।

या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताज्ञाताऽपि वा सती ।
वोढुः स गर्भो भवति सहोढ इति चोच्यते ॥१७३॥

जानते हुए या अनजान में जो गर्भवती कन्या के साथ विवाह कर लेता है। उस गर्भ से उत्पन्न पुत्र को सहोढ़ पुत्र कहते हैं।

क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात् ।
स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा ॥१७४॥

जो पुत्र कुछ मूल्य देकर माता-पिता से खरीदा जाता है वह सजातीय हो अथवा विजातीय हो, वह क्रीत पुत्र कहा जाता है।

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया ।
उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥१७५॥

जो स्त्री पति से त्याग दी जाने पर अथवा विधवा होने पर या स्वयं दूसरे की स्त्री होकर पुत्र उत्पन्न करे, तो वह पुत्र पैदा करने वाले का पौनर्भव पुत्र कहलाता है।

सा चेदक्षतयोनिः स्याद् गतप्रत्यागताऽपि वा ।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥१७६॥

पूर्वोक्त विधवा यदि अक्षतयोनि (अर्थात् विवाह के बाद पति से संगम नहीं हुआ और विधवा हो गयी हो) अथवा ऐसी अवस्था में पति से त्याग दी गयी हो और फिर पति के पास आ जाय तो दोनों स्थिति में पुनः विवाह संस्कार हो सकता है इसी कारण वह स्त्री पुनर्भू कही जायेगी।

मातापितृविहीनो यस्त्यक्तो वा स्यादकारणात् ।
आत्मानं स्पर्शयेद्यस्मै स्वयं दत्तस्तु स स्मृतः ॥१७७॥

जो पुत्र मातृ-पितृ से हीन है अथवा अकारण ही माता से त्याग दिया गया हो वह जिसे अपने को सौंप दे, उसका वह स्वयंदत्त पुत्र कहा जाता है।

यं ब्राह्मणस्तु शूद्रायां कामादुत्पादयेत्सुतम्।
स पारयन्नेव शवस्तस्मात्पारशवः स्मृतः॥१७८॥

जिस पुत्र को कामवश होकर ब्राह्मण शूद्रा में उत्पन्न करता है उस पुत्र को पारशव कहते हैं। क्योंकि वह जीता हुआ भी शव (मुर्दे) के समान है।

दास्यां वा दासदास्यां वा यः शूद्रस्य सुतो भवेत्।
सोऽनुज्ञातो हरेदंशमिति धर्मो व्यवस्थितः॥१७९॥

दासी में या दास के दासी में शूद्र का जो पुत्र हो वह पिता की आज्ञा से धन का सम भाग ले। यही धर्म की व्यवस्था है।

क्षेत्रजादीन्सुतानेतानेकादश यथोदितान्।
पुत्रप्रतिनिधिनाहुः क्रियालोपान्मनीषिणः॥१८०॥

पण्डितों ने पूर्वोक्त ग्यारह प्रकार के पुत्रों को पुत्र का प्रतिनिधि रूप कहा है जिससे पितरों की क्रिया का लोप न हो।

य एतेऽभिहिताः पुत्राः प्रसङ्गादन्यबीजजाः।
यस्य ते बीजतो जातास्तस्य ते नेतरस्य तु॥१८१॥

प्रसंगानुसार जो ये पुत्र कहे गये हैं (उनमें औरस के विचार में) इसमें जो दूसरे के बीज से उत्पन्न हुए हैं वे जिसके बीज से उत्पन्न हुए हैं वे उन्हीं के पुत्र होंगे दूसरे के नहीं।

भ्रातृणामेकजातानामेकश्चेत्पुत्रवान्भवेत्।
सर्वास्तांस्तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीत्॥१८२॥

एक ही माता-पिता से उत्पन्न अनेक भाइयों में से यदि एक ही भाई पुत्रवान् हो तो उसी एक ही पुत्र से सभी पुत्रवान् होंगे। ऐसा मनु ने कहा है।

सर्वासामेकपत्नीनामेका चेत्पुत्रिणी भवेत्।
सर्वास्तास्तेन पुत्रेण प्राह पुत्रवतीर्मनुः॥१८३॥

सभी सपत्नियों में से यदि एक ही को पुत्र हो तो उसी एक ही पुत्र से सभी पुत्रवती होती हैं ऐसा मनुजी ने कहा है।

श्रेयसः श्रयसोऽलाभे पापीयान् रिक्थमर्हति।
बहवश्चेत्तु सदृशाः सर्वे रिक्थस्य भागिनः॥१८४॥

यदि श्रेष्ठ पुत्र में श्रेष्ठता का अभाव हो तो छोटे पुत्रों में जो श्रेष्ठ हो वही

पिता के धन का अधिकारी होता है। यदि छोटे पुत्रों में सभी समान गुणवाले हों तो सभी धन पाने के अधिकारी होते हैं।

न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुः ।
पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव च ॥१८५॥

पिता के भाई, पिता या चाचा उसके धन को नहीं पा सकते हैं, किंतु पुत्र ही धन का अधिकारी होता है। यदि पिता निःसन्तान ही मर जाय तो उसके धन को उसका पिता ले सकता है।

त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते ।
चतुर्थः संप्रदातैषां पञ्चमो नोपपद्यते ॥१८६॥

तीनों (पिता, पितामह, प्रपितामह) को जल और पिण्ड देने का अधिकार एक चौथा पुरुष (पुत्र) ही होता है, पाँचवा कोई भी व्यक्ति नहीं होता है।

अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत् ।
अत ऊर्ध्वं सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्य एव वा ॥१८७॥

इसके बाद पूर्वोक्त धनाधिकारियों के न रहने पर सपिण्ड में जो जितना ही समीपी होता है वह सगोत्र के धन का उतना अधिक अधिकारी होता है, सपिण्ड में कोई न हों तो सकुल्य आचार्य या शिष्य धन का अधिकारी होता है।

सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा रिक्थभागिनः ।
त्रैविद्याः शुचयो दान्तास्तथा धर्मो न हीयते ॥१८८॥

पूर्वोक्त अधिकारियों के अभाव में तीनों वेदों के ज्ञाता शुद्ध हृदय जितेन्द्रिय जो ब्राह्मण हों वे ही धन के अधिकारी होते हैं इससे धर्म की हानि नहीं होती है।

अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः ।
इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृपः ॥१८९॥

निःसन्तान ब्राह्मण का धन राजा को नहीं लेना चाहिये। यह शास्त्र की मर्यादा है। अन्य वर्णों के अधिकारियों के न होने पर उनका धन राजा ले सकता है।

संस्थितस्यानपत्यस्य सगोत्रात्पुत्रमाहरेत् ।
तत्र यद्रिक्थजातं स्यात्तत्तस्मिन्प्रतिपादयेत् ॥१९०॥

सन्तानहीन पति के मरने के बाद स्त्री सगोत्र से यथाविधि सन्तान लेकर पति के धन को उस पुत्र को दे दे।

द्वौ तु यौ विवदेयातां द्वाभ्यां जातौ स्त्रिया धने ।
तयोर्यद्यस्य पित्र्यं स्यात्तत्स गृह्णीत नेतरः ॥१९१॥

दो पिता से एक ही माता में उत्पन्न दो पुत्र यदि माता के धन के लिये आपस में विवाद करें तो जिसके पिता का धन हो उस लड़के को धन दे देना चाहिये।

जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः ।
भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥१९२॥

माता के मरने के बाद सभी सहोदर भाई और कुमारी बहन माता के धन को बराबर बाँट लें।

यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः ।
मातामह्या धनात्किञ्चित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् ॥१९३॥

बहिन के कुमारी कन्याओं को भी नानी के धन में से अपने प्रसन्नता से उनके संतोष के लिए कुछ देना चाहिये।

अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि ।
भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥१९४॥

अध्यग्नि, अध्यावाहनिक, प्रीति से दिया हुआ, भाई से, माता से और पिता से, दिया हुआ धन ये छः प्रकार स्त्री के धन होते हैं।

अन्वाधेयं च यद्दत्तं पत्या प्रीतेन चैव यत् ।
पत्यौ जीवति वृत्तायाः प्रजायास्तद्धनं भवेत् ॥१९५॥

विवाह के बाद पितृकुल या पति कुल से जो धन [१]अन्वाधेय स्त्री को मिला है और पति ने प्रसन्न होकर जो स्त्री को दिया वह सभी धन यदि पति के पहले ही स्त्री मर जाय तो उसके पुत्र को देना चाहिये।

ब्रह्मदैवार्षगान्धर्वप्राजापत्येषु यद्वसु ।
अप्रजायामतीतायां भर्तुरेव तदिष्यते ॥१९६॥

ब्राह्म, दैव, आर्ष, गान्धर्व और प्राजापत्यविधि से ब्याही हुई स्त्री का धन उसके निःसन्तान मरने के बाद पति का होता है ऐसा आचार्यों का मत है।

यत्त्वस्याः स्याद्धनं दत्तं विवाहेष्वासुरादिषु ।
अप्रजायामतीतायां मातापित्रोस्तदिष्यते ॥१९७॥

आसुरादि विवाहों में जो धन स्त्री को मिलता है। वह धन यदि स्त्री निःसन्तान ही मर जाय तो वह उसके माता-पिता का होता है।

---

१. विवाहात्परतो यत्तु लब्धं भर्तृकुले स्त्रिया।
अन्वाधेयं तदुक्तं तु सर्वबन्धुकुले तथा।। कात्यायनः।

स्त्रियां तु यद्भवेद्वित्तं पित्रा दत्तं कथञ्चन।
ब्राह्मणी तद्धरेत्कन्या तदपत्यस्य वा भवेत् ॥१९८॥

ब्राह्मण के अनेक स्त्रियों को जो धन उसके माता पिता से मिले हैं यदि उनमें से कोई नि:सन्तान मर जाय तो उनका धन उनके ब्राह्मणी सौत की कन्या को या उसके पुत्र को मिलना चाहिये।

न निर्हारं स्त्रियः कुर्युः कुटुम्बाद् बहुमध्यगात्।
स्वकादपि च वित्ताद्धि स्वस्य भर्तुरनाज्ञया ॥१९९॥

अनेक कुटुम्बियों के धन में-से स्त्रियों को धन एकत्र नहीं करना चाहिये। और पति के आज्ञा बिना अपने धन में-से भी कुछ जमा नहीं करना चाहिये।

पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलङ्कारो धृतो भवेत्।
न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति ते ॥२००॥

पति के जीवित अवस्था में स्त्रियों ने जो आभूषण पहिने हों पति के मरने के बाद दायाद लोग धन बाँटते समय उन आभूषणों को न बाँटे क्योंकि बाँटने वाले पतित होते हैं।

अनंशौ क्लीवपतितौ जात्यन्धवधिरौ तथा।
उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रयाः ॥२०१॥

जो लड़के नपुंसक, पतित, जन्मान्ध, जन्मबधिर, पागल, जड़, गूँगे और लूले, लँगड़े हैं वे पिता के धन के भागी नहीं होते हैं।

सर्वेषामपि तु न्याय्यं दातुं शक्त्या मनीषिणा।
ग्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्यददद्भवेत् ॥२०२॥

बुद्धिमानों को इन सभी नपुंसकादिकों को यथाशक्ति उनके जीवन पर्यन्त भोजनादि देना चाहिये। न देने वाला पतित होता है।

यद्यर्थिता तु दारैः स्यात्क्लीबादीनां कथञ्चन।
तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यं दायमर्हति ॥२०३॥

कदाचित् इन नपुंसकादिकों को विवाह की इच्छा हो और उनके स्त्रियों से क्षेत्रज पुत्र उत्पन्न हों तो वे धन के भागी होते हैं।

यत्किञ्चित्पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठोऽधिगच्छति।
भागो यवीयसां तत्र यदि विद्यानुपालितः ॥२०४॥

पिता के मरने के बाद जेठा भाई जो धन प्राप्त करे तो विद्याभ्यास करने वाले छोटे भाइयों को उस धन का अंश दे अन्य को नहीं दे।

अविद्यानां तु सर्वेषामीहातश्चेद्धनं भवेत् ।
समस्तत्र विभागः स्यादपित्र्य इति धारणा ॥ २०५॥

भाइयों में जो पढ़े-लिखे नहीं हैं वे यदि किसी प्रकार के रोजगार से धन संग्रह करें तो उस धन में सभी भाइयों का समान विभाग होगा, किन्तु पिता के धन में नहीं होगा।

विद्याधनं तु यद्यस्य तत्तस्यैव धनं भवेत् ।
मैत्र्यमौद्वाहिकं चैव माधुपर्किकमेव च ॥ २०६॥

विद्या से जो जिसका धन होता है वह उसी का होता है। एवं मैत्री और विवाह के द्वारा तथा मधुपर्क में जो धन जिसे मिलता है। वह भी उसी का होता है।

भ्रातृणां यस्तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्मणा ।
स निर्भाज्यः स्वकादंशात्किञ्चिद्दत्त्वोपजीवनम् ॥ २०७॥

भाइयों में जो अपने कर्म द्वारा धन उपार्जन करने से पितृधन में अपने अंश को न लेना चाहे तब भी उसे उसके अंश में से कुछ देकर उसे निरंश कर देना चाहिये।

अनुपघ्नन्पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जितम् ।
स्वयमीहितलब्धं तन्नाकामो दातुमर्हति ॥ २०८॥

पितृधन को यथास्थित रखकर यदि अपने परिश्रम से धन उपार्जन करे तो अपनी इच्छा के विरुद्ध किसी को नहीं दे सकता है।

पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात् ।
न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्धमकामः स्वयमर्जितम् ॥ २०९॥

अप्राप्त पितृधन को यदि किसी प्रकार प्राप्त कर ले तो वह स्वयं उपार्जित धन उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई भी पुत्र बाँट नहीं सकता है।

विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन्पुनर्यदि ।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्यैष्ठ्यं तत्र न विद्यते ॥ २१०॥

अलग होने के बाद एक साथ रह कर यदि फिर अलग होवे तो सभी सम्पत्ति को बराबर-बराबर बाँट ले, किन्तु जेठे को ज्येष्ठांश नहीं मिलेगा।

येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः ।
म्रियेतान्यतरो वाऽपि तस्य भागो न लुप्यते ॥ २११॥

जिन भाइयों में जेठा भाई या छोटा भाई धन के बँटवारे के समय मरने या अन्य किसी कारण से अपने भाग को न ले सके तो उसका भाग लुप्त नहीं होता है।

सोदर्या विभजेरंस्तं समेत्य सहिताः समम् ।
भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः ॥२१२॥

उस भाई के धन के हिस्से को उसके पुत्र को दे देना चाहिए। पुत्र के अभाव में सभी सगे भाई-बहन आपस में उस धन को बराबर-बराबर बाँट लें।

यो ज्येष्ठो विनिकुर्वीत लोभाद् भ्रातॄन् यवीयसः ।
सोऽज्येष्ठः स्यादभागश्च नियन्तव्यश्च राजभिः ॥२१३॥

जो जेठा भाई लोभ से छोटे भाइयों को ठगे वह सम्मान और ज्येष्ठांश पाने के योग्य नहीं होता है। किंतु राजा से दण्डित होने योग्य होता है।

सर्व एव विकर्मस्था नार्हन्ति भ्रातरो धनम् ।
न चादत्त्वा कनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठः कुर्वीत यौतकम् ॥२१४॥

यदि सभी भाई पतित (जुआ, वेश्यागमनादि कृत्यों को करने वाले) हों तो वे पितृधन के भागी नहीं होते। जेठा भाई छोटे भाइयों के अंश को न देकर स्वयं उसे ले लेवे।

भातॄणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत्सह ।
न पुत्रभागं विषमं पिता दद्यात्कथञ्चन ॥२१५॥

यदि सभी भाई एक साथ रह कर तरक्की करें तो पिता अधिक न्यून करके अपने धन का हिस्सा न दे।

ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनम् ।
संसृष्टास्तेन वा ये स्युर्विभजेत स तैः सह ॥२१६॥

पिता के जीवित अवस्था में ही यदि पुत्रों का धन विभाग हो गया हो और उसके बाद कोई पुत्र उत्पन्न हो तो इस पुत्र को पिता का ही भाग पिता के मरने के बाद मिलेगा। और विभाग होने पर जो पुत्र पिता के साथ रहता हो तो पिता के मरने के बाद दोनों अर्थात् जो लड़का साथ रह रहो है और जो धन विभाग के बाद उत्पन्न हुआ है मिलकर धन को बराबर-बराबर बाँट लें।

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् ।
मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम् ॥२१७॥

जो पुत्र निःसन्तान मर जाता है उसका हिस्सा उसकी माता को मिलना चाहिये। माता भी मर गई हो तो उसके पिता की माता (दादी) को धन मिलेगा।

ऋणे धने च सर्वस्मिन्प्रविभक्ते यथाविधि ।
पश्चाद् दृश्येत यत्किञ्चित्तत्सर्वं समतां नयेत् ॥२१८॥

सभी ऋण और धन यथोचित्त विधि से बाँटे जाने पर पीछे से यदि पिता का ऋण दिखाई दे तो उसे भी सभी अंशों में बाँट लेना चाहिये।

वस्त्रं पत्रमलङ्कारं कृतान्नमुदकं स्त्रियः ।
योगक्षेमं प्रचारं च न विभाज्यं प्रचक्षते ॥२१९॥

वस्त्र, वाहन, आभूषण, बनाया हुआ अन्न, जल, पुरोहित और पशुओं के मार्ग ये सभी चीजें नहीं बाँटनी चाहिए।

अयमुक्तो विभागो वः पुत्राणां च क्रियाविधिः ।
क्रमशः क्षेत्रजादीनां द्यूतधर्मं निबोधत ॥२२०॥

यह क्षेत्रज आदि पुत्रों की क्रिया विधि और धन विभाग का नियमादि कहा है अब द्यूत (जूआ) की व्यवस्था कहता हूँ।

द्यूतं समाह्वयं चैव राजा राष्ट्रान्निवारयेत् ।
राजान्तकरणावेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम् ॥२२१॥

राजा अपने राज्य में जुआ और समाह्वय दोनों को न होने दे क्योंकि ये दोनों दोष राजाओं के राज्य का अन्त कर देते हैं।

प्रकाशमेतत्तास्कर्यं यद्देवनसमाह्वयौ ।
तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान्भवेत् ॥२२२॥

क्योंकि ये दोनों जूआ और समाह्वय प्रत्यक्ष चोरी है। इसीलिए राजा इन दोनों कार्यों को रोकने में हमेशा यत्नशील रहे।

अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते ।
प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः ॥२२३॥

संसार में बिना जीव के वस्तुओं से (पासे से) बाजी लगाकर जो खेल खेलते हैं उसे द्यूत कहते हैं और जो जीवों (भेंड़ा, तीतर, बटेर आदि) से बाजी लगाकर खेल खेलते हैं। उसे समाह्वय कहते हैं।

द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात्कारयेत वा ।
तान्सर्वान्घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः ॥२२४॥

जो स्वयं द्यूत या समाह्वय करे या दूसरे से करावे उन सभी को राजा कठोर दण्ड दे। और जो शूद्र, ब्राह्मणादि के चिह्न को धारण कर ले उसे भी राजा दण्ड दे।

कितवान्कुशीलवान्क्रूरान्पाषण्डस्थांश्च मानवान् ।
विकर्मस्थाञ्छौण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत्पुरात् ॥२२५॥

जुआरी, नट, दुष्ट वेदनिन्दक, कुकर्मी और मदिरा बनाने वाले को राजा नगर से निकलवा दे।

एते राष्ट्रे वर्तमाना राज्ञः प्रच्छन्नतस्कराः ।
विकर्मक्रियया नित्यं बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः ॥ २२६ ॥

ये पूर्वोक्त गुप्त चोर हैं, ये राज्य में रहकर ही भद्र प्रजा को पीड़ा पहुँचाते हैं।

द्यूतमेतत्पुरा कल्पे दृष्टं वैरकरं महत् ।
तस्माद् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥ २२७ ॥

यह द्यूत पूर्वकाल में भी बड़ा ही वैर कराने वाला सिद्ध हो चुका है। इसलिए बुद्धिमान् हास-विलास के लिए भी इसका कभी सेवन न करें।

प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा तन्निषेवेत यो नरः ।
तस्य दण्डविकल्पः स्याद्यथेष्टं नृपतेस्तथा ॥ २२८ ॥

जो मनुष्य छिपकर अथवा प्रकाशरूप से जुआ खेलता हो राजा उसे उचित और यथेष्ट दण्ड दे।

क्षत्रविट्शूद्रयोनिस्तु दण्डं दातुमशक्नुवन् ।
आनृण्यं कर्मणा गच्छेद्विप्रो दद्याच्छनैः शनैः ॥ २२९ ॥

यदि क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र दण्ड (जुर्माना आदि) देने में असमर्थ हों तो इनसे काम लेकर दण्ड वसूल करे किंतु ब्राह्मण से धीरे-धीरे दण्ड वसूल करे।

स्त्रीबालोन्मत्तवृद्धानां दरिद्राणां च रोगिणाम् ।
शिफाविदलरज्ज्वाद्यैर्विदध्यान्नृपतिर्दमम् ॥ २३० ॥

स्त्री, बालक, पागल, वृद्ध, दरिद्र और रोगियों को राजा बेंत, बाँस की फराठी या रस्सी की सजा दे।

ये नियुक्तास्तु कार्येषु हन्युः कार्याणि कार्यिणाम् ।
धनोष्मणाः पच्यमानास्तान्निस्वान्कारयेन्नृपः ॥ २३१ ॥

जो कर्मचारी कार्य में नियुक्त कर्मचारियों के कार्यों को धन के लालच में आकर (घूस लेकर) नष्ट करे तो, राजा उसको दरिद्र बना दे। अर्थात् उसका सब कुछ ले लेवे।

कूटशासनकर्तॄंश्च प्रकृतीनां च दूषकान् ।
स्त्रीबालब्राह्मणघ्नांश्च हन्याद् विट्सेविनस्तथा ॥ २३२ ॥

छल से शासन करने वालों, प्रजा को बिगाड़ने वालों, स्त्री, बालक और ब्राह्मणों को मारने वालों और शत्रु की सेवा करने वालों को राजा मार डाले।

तीरितं चानुशिष्टं च यत्र क्वचन यद्भवेत् ।
कृतं तद्धर्मतो विद्यान्न तद्भूयो निवर्तयेत् ॥२३३॥

जहाँ कहीं भी ऋणादि व्यवहार में तथा दण्ड विधान में धर्मशास्त्र द्वारा जो निर्णय कहा गया है उसे मान लेना चाहिये उसको फिर बदलना नहीं चाहिये।

अमात्याः प्राड्विवाको वा यत्कुर्युः कार्यमन्यथा ।
तत्स्वयं नृपतिः कुर्यात्तान्सहस्रं च दण्डयेत् ॥२३४॥

मंत्रीगण या न्यायकर्ता जो कार्य उलटा करें उसे राजा अपने ही करे। और उन्हें राजा एक हजार पण दण्ड दे।

ब्रह्महा च सुरापश्च स्तेयी च गुरुतल्पगः ।
एते सर्वे पृथग्ज्ञेया महापातकिनो नराः ॥२३५॥

ब्रह्मघाती, मद्य को पीने वाला, चोर, गुरुपत्नी के साथ गमन करने वाला ये मनुष्य महापातकी हैं।

चतुर्णामपि चैतेषां प्रायश्चित्तमकुर्वताम् ।
शारीरं धनसंयुक्तं दण्डं धर्म्यं प्रकल्पयेत् ॥२३६॥

उपर्युक्त चारों मनुष्य यदि प्रायश्चित न करें तो शारीरिक और आर्थिक धर्मसम्बन्धी दण्ड देना चाहिये।

गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः ।
स्तेये च स्वपदं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान् ॥२३७॥

गुरु के स्त्री के साथ संभोग करने वाले के ललाट पर भग का, मद पीने वाले को मदिरा के पात्र का, चोर को कुत्ते के पंजे का और ब्रह्मघाती के ललाट पर बिना शिर के पुरुष का आकार तपे हुए लोहे से बना दे।

असम्भोज्या ह्यसंयाज्या असंपाठ्याविवाहिनः ।
चरेयुः पृथिवीं दीनाः सर्वधर्मबहिष्कृताः ॥२३८॥

पूर्वोक्त पातकियों को भोजन न करावे, उसका यज्ञ न करावे उनको न पढ़ावे उनसे विवाहादि सम्बन्ध भी न करे। वे सभी धर्मों से बहिष्कृत होकर पृथ्वी पर दीन होकर घूमा करें।

ज्ञातिसम्बन्धिभिस्त्वेते त्यक्तव्याः कृतलक्षणाः ।
निर्दया निर्नमस्कारास्तन्मनोरनुशासनम् ॥२३९॥

पूर्वोक्त चिह्नों से चिह्नित पापियों को भाई, बन्धु और सम्बन्धियों को

त्याग देना चाहिए। इनके ऊपर दया न करे और इनको नमस्कार न करें ऐसी मनु की आज्ञा है।

प्रायश्चितं तु कुर्वाणाः सर्ववर्णा यथोदितम्।
नाङ्क्या राज्ञा ललाटे स्युर्दाप्यास्तूत्तमसाहसम् ॥२४०॥

सभी वर्णों के पूर्वोक्त अपराधी यदि शास्त्रोक्त प्रायश्चित कर चुके हैं, तो राजा उनके ललाट पर चिह्न न करावे किन्तु उन्हें उत्तम साहस दंड दे।

आगसुः ब्राह्मणस्यैव कार्यो मध्यमसाहसः।
विवास्यो वा भवेद्राष्ट्रात्सद्रव्यः सपरिच्छदः ॥२४१॥

पूर्वोक्त दोषों का अपराधी यदि ब्राह्मण हो तो उसे उत्तम साहस दंड करे। अथवा उसे वस्त्र-अन्नादि देकर राज्य से निकाल देवे।

इतरे कृतवन्तस्तु पापान्येतान्यकामतः।
सर्वस्वहारमर्हन्ति कामतस्तु प्रवासनम् ॥२४२॥

यदि अन्य वर्ण वाले अनिच्छा से उक्त पापों को करें तो उनका सर्वस्व ले ले और यदि इच्छा से करें तो उन्हें देश से निकाल दे।

नाददीत नृपः साधुर्महापातकिनो धनम्।
आददानस्तु तल्लोभात्तेन दोषेण लिप्यते ॥२४३॥

धर्मात्मा नृपति महापापियों का धन न लेवे लोभ से लोग पापियों के धन को ले लेते हैं तो वे उसी पाप के भागी होते हैं।

अप्सु प्रवेश्य तं दण्डं वरुणायोपपादयेत्।
श्रुतवृत्तोपपन्ने वा ब्राह्मणे प्रतिपादयेत् ॥२४४॥

उस दण्डरूपी धन को जल में प्रवेश कराके वरुण देवता को दे देवे अथवा वेदज्ञ सच्चरित्र ब्राह्मण को दे देवे।

ईशो दण्डस्य वरुणो राज्ञां दण्डधरो हि सः।
ईशः सर्वस्य जगतो ब्राह्मणो वेदपारगः ॥२४५॥

दण्ड का स्वामी वरुण है, और वही वरुण राजाओं का भी मालिक है और वेदपारंगत ब्राह्मण सम्पूर्ण जगत् का स्वामी है।

यत्र वर्जयते राजा पापकृद्भ्यो धनागमम्।
तत्र कालेन जायन्ते मानवा दीर्घजीविनः ॥२४६॥
निष्पद्यन्ते च सस्यानि यथोप्तानि विशां पृथक्।
बालाश्च न प्रमीयन्ते विकृतं न च जायते ॥२४७॥

जहाँ का राजा पापियों के धन को नहीं लेता है वहाँ समय से दीर्घजीवी मनुष्य पैदा होते हैं, और वैश्यों के बोये हुए धान्य अलग-अलग उपजते हैं। और बालकों की मृत्यु नहीं होती और अङ्गहीन (कुब्जे आदि) का जन्म भी नहीं होता है।

ब्राह्मणान्बाधमानं तु कामादवरवर्णजम् ।
हन्याच्चित्रैर्वधोपायैरुद्वेजनकरैर्नृपः ॥२४८॥

यदि शूद्र इच्छा से (शारीरिक क्लेशों द्वारा) ब्राह्मण को कष्ट देता हो तो राजा उस शूद्र को छेदन, ताड़न आदि कठिन प्राणनाशक उद्वेगकारी दण्डों को दे।

यावानवध्यस्य वधे तावान्वध्यस्य मोक्षणे ।
अधर्मो नृपतेर्दृष्टे धर्मस्तु विनियच्छतः ॥२४९॥

जितना ही निरपराध व्यक्ति को मारने में राजा को पाप होता है उतना ही अपराधी को छोड़ने में पाप होता है। इसलिये अपराधी को दण्ड देने ही से राजा के धर्म की रक्षा होती है।

उदितोऽयं विस्तरशो मिथो विवदमानयोः ।
अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः ॥२५०॥

यह परस्पर विवाद करने वालों के व्यवहार का अठारह विभागों में निर्णय कहा।

एवं धर्म्याणि कार्याणि सम्यक्कुर्वन्महीपतिः ।
देशानलब्धांल्लिप्सेत लब्धांश्च परिपालयेत् ॥२५१॥

इस प्रकार सम्पूर्ण धार्मिक कार्यों को करता हुआ राजा अप्राप्त देशों के पाने की इच्छा और पाये हुए देशों का पालन करें।

सम्यङ् निविष्टदेशस्तु कृतदुर्गश्च शास्त्रतः ।
कण्टकोद्धरणे नित्यमातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ॥२५२॥

सब प्रकार से सुखी देश का शास्त्रोक्त रीति से पालन करता हुआ राजा दुर्ग (किला) बनाकर (चौरादि) कंटकों से देश का उद्धार करने में हमेशा यत्नशील रहे।

रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात् ।
नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः ॥२५३॥

प्रजा पालन में तत्पर राजे सच्चरित्र मनुष्यों की रक्षा करने और दुराचारियों को दण्ड देने से स्वर्ग में जाते हैं।

अशासंस्तस्करान्यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः ।
तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते ॥२५४॥

जो राजा चौरादि दुष्टों का दमन न करे और प्रजा से कर लेवे तो उसकी प्रजा विद्रोह करती है और वह स्वर्ग से भी च्युत होता है।

निर्भयं तु भवेद्यस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितम् ।
तस्य तद्वर्धते नित्यं सिच्यमान इव द्रुमः ॥२५५॥

जिस राजा के बाहुबल से आश्रित देश चौरादिक उपद्रवियों से निर्भय रहता है। उसका राज्य नित्य जल से सींचे हुये वृक्षों की भाँति बढ़ता है।

द्विविधांस्तस्करान्विद्यात्परद्रव्यापहारकान् ।
प्रकाशांश्चाप्रकाशांश्च चारचक्षुर्महीपतिः ॥२५६॥

दूसरे के द्रव्य को अपहरण करने वाले चोर दो प्रकार के होते हैं। एक प्रकट और दूसरे गुप्त। चारचक्षु[1] (दूतलोचन) राजा दोनों की खोज करे।

प्रकाशवञ्चकास्त्वेषां नानापण्योपजीविनः ।
प्रच्छन्नवञ्चकास्त्वेते ये स्तेनाटविकादयः ॥२५७॥

उनमें अनेक प्रकार की चीजों को धोखे से बेंचकर जीविका करने वाले प्रकट चोर कहलाते हैं। और जो यात्रा करने वालों को ठगते या लूटते हैं या गुप्तरूप से घर में चोरी करते हों ये गुप्त चोर हैं।

उत्कोचकाश्चौपधिका वञ्चकाः कितवास्तथा ।
मङ्गलादेशवृत्ताश्च भद्राश्चेक्षणिकैः सह ॥२५८॥
असम्यक्कारिणश्चैव महामात्राश्चिकित्सकाः ।
शिल्पोपचारयुक्ताश्च निपुणाः पण्ययोषितः ॥२५९॥
एवमादीन्विजानीयात्प्रकाशांल्लोककण्टकान् ।
निगूढचारिणश्चान्याननार्यानार्यलिङ्गिनः ॥२६०॥

घूस लेने वाले, डराकर धन लेने वाले, ठग, जुआरी, दूसरों के मंगल कामना से जीने वाले, पाप को छिपाकर साधुवेष में जिविका करने वाले, हस्तरेखा रमल आदि विद्याओं द्वारा जीवन निर्वाह करने वाले, हाथियों के द्वारा जीवन निर्वाह करने वाले, चिकित्सा से जीने वाले, चित्रकार तथा धूर्त और वेश्यायें ये और इस प्रकार के जीविका से जीने वाले सभी राजा के

१. जासूस (भेदिया) रूपी आँखों से गुप्त रहस्य देखने वाले राजा को चारचक्षु कहते हैं ।

लिये कण्टक स्वरूप प्रकट चोर हैं और इससे भिन्न छल करने वाले नीच अच्छे लोगों के रूप को धारण करने वाले जो मनुष्य हैं उन्हें भी चोर ही समझना चाहिये।

तान्विदित्वा सुचरितैर्गूढैस्तत्कर्मकारिभिः ।
चारैश्चानेकसंस्थानैः प्रोत्साद्य वशमानयेत् ॥ २६१ ॥

गुप्त वार्ताओं के पता लगाने के काम करने वाले सुन्दर सुचरित्र गुप्तचरों को अनेक स्थानों में नियुक्त कर राजा उन देश के कण्टक स्वरूप दुष्टों का पता लगाकर उन पर शासन करता हुआ अपने वश में लावे।

तेषां दोषानभिख्याप्य स्वे स्वे कर्मणि तत्त्वतः ।
कुर्वीत शासनं राजा सम्यक्सारापराधतः ॥ २६२ ॥

उन चोरों में जिसका जैसा कार्य हो उसे लोगों में बताते हुये उनके अपराधों के अनुसार सम्यक् प्रकार दण्ड दे।

नहि दण्डादृते शक्यः कर्तुं पापविनिग्रहः ।
स्तेनानां पापबुद्धीनां निभृतं चरतां क्षितौ ॥ २६३ ॥

पृथ्वी पर विचरने वाले पाप बुद्धि वाले चोरों की उनके कर्मों से अलग करना और उनके पापों का मार्जन बिना दण्ड दिये असम्भव है।

सभाप्रपापूपशालावेशमद्यान्नविक्रयाः ।
चतुष्पथाश्चैत्यवृक्षाः समाजाः प्रेक्षणानि च ॥ २६४ ॥
जीर्णोद्यानान्यरण्यानि कारुकावेशनानि च ।
शून्यानि चाप्यगाराणि वनान्युपवनानि च ॥ २६५ ॥
एवं विधान्नृपो देशान्गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः ।
तस्करप्रतिषेधार्थं चारैश्चाप्यनुचारयेत् ॥ २६६ ॥

सभा स्थान, प्रपा (पौसरा), मिठाई की दूकान, वेश्यागृह, मदिरा, और अनाज बिकने की जगह, चौराहा, प्रसिद्ध छाया वाला वृक्ष (जहाँ प्रायः लोग विश्राम करते हों), लोगों के बैठने की जगह, पुराना बगीचा, जंगल, चित्रशाला, निर्जन मकान, वन और उपवन इन उपरोक्त स्थानों में राजा सैनिकों और गुप्तचरों को नियुक्त करके उक्त स्थानों की रक्षा करे।

तत्सहायैरनुगतैर्नानाकर्मप्रवेदिभिः ।
विद्यादुत्सादयेच्चैव निपुणैः पूर्वतस्करैः ॥ २६७ ॥

जो चोरों के सहायक हों, उनके अनुगामी हों, और विषयक अनेक

कार्यों के जानकार हों, और जो पहले के पक्के चोर हों इन लोगों की सहायता से पूर्व कथित राज्य कण्टकों का पता लगाकर उनका नाश करे।

भक्ष्यभोज्योपदेशैश्च ब्राह्मणानां च दर्शनैः ।
शौर्यकर्मापदेशैश्च कुर्युस्तेषां समागमम् ॥२६८॥

गुप्तचर उन कण्टकों को खिलाने पिलाने के बहाने से अथवा ब्राह्मणों के दर्शन कराने के बहाने से, वीरता के काम को दिखलाने के बहाने से, लाकर पकड़वा दें।

ये तत्र नोपसर्पेयुर्मूलप्रणिहिताश्च ये ।
तान्प्रसह्य नृपो हन्यात्समित्रज्ञातिबान्धवान् ॥२६९॥

जो चोर गुप्तचरों के साथ न आवें अथवा गुप्तचरों को जानकर सावधान हो गये हों तो राजा गुप्तचरों द्वारा उनके गतिविधि का पता लगाकर उन्हें उनके मित्र, कुटुम्ब और बांधवों के साथ पकड़वा कर मरवा डाले।

न होढेन बिना चौरं घातयेद्धार्मिको नृपः ।
सहोढं सोपकरणं घातयेदविचारयन् ॥२७०॥

राजा बिना पूरा प्रमाण के संदेह वश चोर का बध न करे। चोरी का पूरा प्रमाण पा जाने पर विचार किये बिना उसका हाथ कटवा ले अथवा सूली दे दे।

ग्रामेष्वपि च ये केचिच्चौराणां भक्तदायकाः ।
भाण्डावकाशदाश्चैव सर्वास्तानपि घातयेत् ॥२७१॥

गाँव में भी कोई मनुष्य चोरों को भोजन, चोरी करने लायक बर्तन और रहने के लिये स्थान दे तो उन सबको भी राजा दण्ड दे।

राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान्सामन्तांश्चैव चोदितान् ।
अभ्याघातेषु मध्यस्थाञ्छिष्याच्चौरानिवद्रुतम् ॥२७२॥

राज्य में जो रक्षा के लिये नियुक्त हों, जो सीमा की रक्षा के लिये तैनात हों, यदि वे चोरों के सहायक हों तो उन्हें भी चोर की ही भाँति दण्ड दे।

यश्चापि धर्मसमयात्प्रच्युतो धर्मजीवनः ।
दण्डेनैव तमप्योषेत्स्वकाद्धर्माद्धि विच्युतम् ॥२७३॥

जो स्वयं धर्म को न करके दूसरे के धर्म से जीवन यापन करे या अपने धर्म से च्युत हो गये हों तो उन्हें भी दण्ड देकर सतावें।

ग्रामघाते हिताभङ्गे पथि मोषाभिदर्शने ।
शक्तितो नाभिधावन्तो निर्वास्याः सपरिच्छदाः ॥२७४॥

ग्राम में अराजकता होने पर, बाँध टूट जाने पर, रास्ते में चोर का दर्शन होने पर जो लोग अपनी शक्ति के अनुसार उनकी रक्षा के लिये न दौड़े तो राजा उन्हें सपरिच्छद देश से निकाल देवे।

राज्ञः कोषापहर्तृंश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान्।
घातयेद्विविधैर्दण्डैररीणां चोपजापकान्॥२७५॥

राजा के खजाने का अपहरण करने वाले को, राजा के प्रतिकूल चलने वाले और शत्रुओं को उसकाने वाले को राजा अनेक प्रकार के दण्डों से मारे।

सन्धिं छित्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तस्कराः।
तेषां छित्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णे शूले निवेशयेत्॥२७६॥

जो चोर रात में सेंध काटकर चोरी करते हैं, राजा उन चोरों के हाथों को कटवाकर तेज शूली पर चढ़ा दे।

अंगुलीर्ग्रन्थिभेदस्य छेदयेत्प्रथमे ग्रहे।
द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये वधमर्हति॥२७७॥

किसी चीज में बँधे हुए द्रव्य की गाँठ खोलकर चोराने वाले चोर को पहली बार के अपराध में अँगुलियों को कटवा दे। दूसरी बार हाथ पाँव कटवा दे और तीसरी बार बध करने योग्य होता है।

अग्निदान्भक्तदांश्चैव तथा शस्त्रावकाशदान्।
सन्निधातृंश्च मोषस्य हन्याच्चौरमिवेश्वरः॥२७८॥

चोरों का अग्नि, भोजन, हथियार और आराम करने की जगह देने वाले को राजा चोर के ही समान दण्ड दे।

तडागभेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा।
यद्वापि प्रतिसंस्कुर्याद् दाप्यस्तूत्तमसाहसम्॥२७९॥

तालाब को किसी प्रकार से नष्ट करने वाले को जल में डुबाकर मार डाले अथवा कोई कड़ा दण्ड देकर मार डाले। यदि वह नष्ट किए हुये वस्तु को दुरुस्त कर दे तो उसे एक उत्तम साहस का दण्ड दे।

कोष्ठागारायुधागारदेवतागारभेदकान्।
हस्त्यश्वरथहर्तृंश्च हन्यादेवाविचारयन्॥२८०॥

कोठार (भण्डार), शस्त्रागार और देवमन्दिर को नष्ट करने वालों का तथा हाथी, घोड़ा और रथ को चुराने वालों को बिना विचार किए प्राण दण्ड दे।

यस्तु पूर्वनिविष्टस्य तडागस्योदकं हरेत् ।
आगमं वाप्यपां भिद्यात्स दाप्यः पूर्वसाहसम् ॥ २८१॥

जो कि सर्व साधारण के उपकारार्थ बने हुए तालाब के जल को खराब करे या ले लेवे। अथवा तालाब में जल आने के रास्ते को बन्द करे तो राजा उसे प्रथम साहस का दण्ड दे।

समुत्सृजेद्राजमार्गे यस्त्वमेध्यमनापदि ।
स द्वौ कार्षापणौ दद्यादमेध्यं चाशु शोधयेत् ॥ २८२॥

जो बिना किसी आपत्ति अवस्था में राजमार्ग में मल इत्यादि को डाल दे। उसको दो कर्षापण दण्ड देना चाहिए और शीघ्र फेके हुए वस्तु को मार्ग में से हटा दे।

आपद्गतोऽथवा वृद्धा गर्भिणी बाल एव वा ।
परिभाषणमर्हन्ति तच्च शोध्यमिति स्थितिः ॥ २८३॥

जो किसी प्रकार के रोगादि आपत्तियों में फँसा हो, वृद्धा और गर्भिणी स्त्री तथा बालक यदि रास्ते में मलादि का उत्सर्ग करें तो दण्डनीय नहीं हैं। उनको केवल प्रतारण मात्र करके उनसे मलादि को रास्ते से साफ करा दे। यही शास्त्रीय व्यवस्था है।

चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्या प्रचरतां दमः ।
अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः ॥ २८४॥

वैद्यक शास्त्र के बिना अध्ययन के ही झूठे वैद्य होकर विचरने वाले को जो कि पशुओं की चिकित्सा में अयोग्य हों उन्हें प्रथम साहस और मनुष्यों के चिकित्सा में अयोग्य हों तो मध्यम साहस का दण्ड करे।

संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः ।
प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पञ्च दद्याच्छतानि च ॥ २८५॥

संक्रम (जो पानी के सोतों को पार करने वाली लकड़ी या पत्थर होता है उसे संक्रम कहते हैं), पताका खंभा जिसका पूजन होता हो, मूर्ति, इनको नष्ट करने वाले को पाँच सौ पण दण्ड देना चाहिये और बिगड़ी चीजों को फिर से बना देना चाहिये।

अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे भेदने तथा ।
मणीनामपवेधे च दण्डः प्रथमसाहसः ॥ २८६॥

निर्दोष द्रव्यों को दूषित करने, रत्नादिकों को तोड़ने और मणियों को ठीक-ठीक न छेदने से प्रथम साहस दण्ड दे।

समैर्हि विषमं यस्तु चरेद्वै मूल्यतोऽपि वा।
समाप्नुयाद्दमं पूर्वं नरो मध्यममेव वा ॥२८७॥

जो कोई एक ही दाम पर विषम वस्तु किसी को कम या किसी को अधिक दे वह मनुष्य प्रथम साहस या मध्यम साहस का दण्ड पाने योग्य है।

बन्धनानि च सर्वाणि राजा मार्गे निवेशयेत्।
दुःखिता यत्र दृश्येरन्विकृताः पापकारिणः ॥२८८॥

राजा सभी प्रकार के दण्डनीय स्थान (जेलखाने आदि) सड़क के किनारे में ही बनवावे। जिससे अपने पाप के कारण दुःख भोगने वालों को सर्व साधारण लोग देख सकें।

प्राकरस्य च भेत्तारं परिखाणां च पूरकम्।
द्वाराणां चैव भङ्क्तारं क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥२८९॥

किले की चाहार दीवारी (किले के चारों तरफ जो दीवार होती है उसे प्राकार कहते हैं) को तोड़ने वाले को, परिखा (जो किला के बाहर चारों तरफ जल की खाईं होती है उसे परिखा कहते हैं) पाटने वालों को और दरवाजा तोड़ने वाले को शीघ्र ही राज्य से निकाल देवें।

अभिचारेषु सर्वेषु कर्तव्यो द्विशतो दमः।
मूलकर्मणि चानाप्तेः कृत्यासु विविधासु च ॥२९०॥

सभी प्रकार के अभिचार (मारण-उच्चाटनादि) करने पर भी यदि अभीष्ट सिद्ध न हो तो अभिचार करने वाले को दो सौ पण दण्ड देना चाहिये।

अबीजविक्रयी चैव बीजोत्कृष्टं तथैव च।
मर्यादाभेदकश्चैव विकृतं प्राप्नुयाद्वधम् ॥२९१॥

जो मनुष्य न जमने वाले बीज या खराब बीज को अच्छा कहकर बेचे, गाँव के मर्यादा को नष्ट करे तो राजा उसका अङ्ग-भङ्ग करके मरण तुल्य दण्ड दे।

सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिवः।
प्रवर्तमानमन्याये छेदयेल्लवशः क्षुरैः ॥२९२॥

सभी प्रकार के कंटकों में पापी कंटक सुनार होते हैं यदि यह अन्याय में प्रवृत्त हो तो राजा छूरे से इनके अंगों को खण्ड-खण्ड करा दे।

सीताद्रव्यापहरणे शस्त्राणामौषधस्य च ।
कालमासाद्य कार्यं च राजा दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ २९३ ॥

खेती करने के हथियारों को, शस्त्रों और औषधि की चोरी कर जाने पर राजा समय के अनुसार दण्ड को करे।

स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा ।
सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥ २९४ ॥

राजा, मन्त्री, ग्राम, देश, खजाना, सेना और मित्र ये सात राज्य की प्रकृति हैं। इसलिए राज्य को सप्ताङ्ग कहते हैं।

सप्तानां प्रकृतीनां तु राज्यस्यासां यथाक्रमम् ।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं जानीयाद्व्यसनं महत् ॥ २९५ ॥

इन राज्य के सप्ताङ्गों में यथाक्रम से प्रत्येक दूसरे से पहला बली होता है। इसी प्रकार प्रत्येक दूसरे से पहला विपत्ति में भी बलवान् होता है।

सप्ताङ्गस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत् ।
अन्योन्यगुणवैशेष्यान्न किञ्चिदतिरिच्यते ॥ २९६ ॥

राज्य के ये सातो अङ्ग परस्पर एक दूसरे के उपकारी होने के कारण संन्यासी के त्रिदण्ड की तरह सभी एक दूसरे से मिले हुए और समान हैं!

तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते ।
येन यत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिन् श्रेष्ठमुच्यते ॥ २९७ ॥

जिस अङ्गों की जिस कार्य में निपुणता है उन-उन अङ्गों की उन्हीं-उन्हीं में विशेषता है उसी कार्य में वह अङ्ग श्रेष्ठ माना जाता है।

चारेणोत्साहयोगेन क्रिययैव च कर्मणाम् ।
स्वशक्तिं परशक्तिं च नित्यं विद्यान्महीपतिः ॥ २९८ ॥

गुप्तचरों और सेना के द्वारा और नियन्त्रित क्रियाओं के कर्मों से राजा अपने और शत्रु की शक्ति का पता लगाता रहे।

पीडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च ।
आरभेत ततः कार्यं संचिन्त्य गुरुलाघवम् ॥ २९९ ॥

सब प्रकार के दुर्व्यसन और पीड़ाओं का अपने और शत्रु के राज्य का पता लगाकर और उनके गौरव, लाघव का विचार करके कार्य को आरम्भ करे।

आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः ।
कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते ॥ ३०० ॥

बारम्बार थक जाने पर भी बार-बार कार्य को आरम्भ करे, क्योंकि कार्य को आरम्भ करने वाले की सेवा स्वयं लक्ष्मी करती हैं।

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते ॥३०१॥

सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग में राजाओं के ही कर्मों के वृत्तान्त हैं, इसलिए राजा को ही युग कहते हैं।

कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद् द्वापरं युगम्।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरस्तु कृतं युगम् ॥३०२॥

राजा सुप्तावस्था में कलि होता है, सोते से जागने पर द्वापर, कर्म करने में उद्यत होने पर त्रेता और कर्म करता हुआ सत्ययुग होता है।

इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च।
चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत् ॥३०३॥

इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्रमा, अग्नि और पृथ्वी इनके तेज के समान ही राजा को व्यवहार करना चाहिए।

वार्षिकांश्चतुरो मासान्यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति।
तथाभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥३०४॥

जिस प्रकार वर्षाऋतु के चार मासों में इन्द्र वर्षा करते हैं। उसी प्रकार इन्द्रव्रत को करता हुआ अभीप्सित द्रव्यादि की वर्षा करते हुए राजा अपने राष्ट्र को सन्तुष्ट करे।

अष्टौ मासान्यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः।
तथा हरेत्करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥३०५॥

जिस प्रकार सूर्य आठ महीने तक अपने किरणों से जल को हरता है उसी प्रकार राजा अपने राष्ट्र से कर ले इसी को राजा के लिए सूर्यव्रत कहा है।

प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः।
तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥३०६॥

जिस प्रकार सभी प्राणियों में वायु प्रवेश कर घूमता है उसी प्रकार अपने गुप्तचरों द्वारा अपने राष्ट्र में घूमना चाहिये। यही राजा का वायुव्रत है।

यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति।
तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥३०७॥

जिस प्रकार यमराज मृत्यु के समय मित्र और शत्रु का भेद छोड़कर सभी

को मारता है उसी प्रकार राजा को भी प्रजा के ऊपर नियन्त्रण करना चाहिए, इसको राजा का यमव्रत कहते हैं।

वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवाभिदृश्यते ।
तथा पापान्निगृह्णीयाद् व्रतमेतद्धि वारुणम् ॥ ३०८॥

जैसे वरुण देवता से पास में बाँधे जाते हुए देखे जाते हैं। उस प्रकार राजा पापियों को बन्धन में बाँधे, यह राजा का वारुणव्रत है।

परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः ।
तथा प्रकृतयो यस्मिन्स चान्द्रव्रतिको नृपः ॥ ३०९॥

पूर्ण चन्द्रमा को देखकर मनुष्य को जैसी प्रसन्नता होती है, वैसी ही प्रसन्नता यदि राजा को देखकर प्रजा को हो तो यही राजा के लिए चान्द्रव्रत है।

प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु ।
दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥ ३१०॥

पापियों को नित्य दण्ड देने में तेजस्वी और प्रतापी होकर दुष्ट मन्त्रियों को भी त्रास देवे। यही राजा के लिए आग्नेय व्रत है।

यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम् ।
तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम् ॥ ३११॥

जिस प्रकार समान भाव से सब प्राणियों को पृथ्वी धारण करती है। उसी प्रकार सभी प्राणियों का भरण-पोषण करते हुए धारण करना राजा के लिए पार्थिवव्रत है।

एतैरुपायैरन्यैश्च युक्तो नित्यमतन्द्रितः ।
स्तेनान् राजा निगृह्णीयात् स्वराष्ट्रे पर एव च ॥ ३१२॥

इन उपायों से तथा अन्य उपायों से युक्त और नित्य निरालस्य होकर राजा स्वदेशीय और परराष्ट्रीय चोरों का दमन करे।

परामप्यापदं प्राप्तो ब्राह्मणान्न प्रकोपयेत् ।
ते ह्येनं कुपिता हन्युः सद्यः सबलवाहनम् ॥ ३१३॥

अत्यन्त विपत्ति आने पर भी राजा ब्राह्मणों को कुपित न करे। यदि ब्राह्मण कुपित हो जायँ तो सेना और वाहन के साथ उसका नाश कर देते हैं।

यैः कृतः सर्वभक्ष्योऽग्निरपेयश्च महोदधिः ।
क्षयी चाप्यायितः सोमः को न नश्येत् प्रकोप्य तान् ॥ ३१४॥

जिन्होंने अग्नि को सर्वभक्षी, समुद्र को अपेय, क्षय होने वाले चन्द्रमा को पूर्ण कर दिया। तो उनके कुपित हो जाने से कौन नहीं नष्ट होगा।

लोकानन्यान्सृजेयुर्ये लोकपालांश्च कोपिताः ।
देवान् कुर्युरदेवांश्च कः क्षिण्वंस्तान्समृध्नुयात् ॥ ३१५ ॥

जो कुपित होने पर अन्य लोकों की और लोकपालों की रचना कर सकते हैं और देवताओं को मनुष्य कर सकते हैं उनको छेड़ कर कौन समृद्धिशाली हो सकता है।

यानुपाश्रित्य तिष्ठन्ति लोका देवाश्च सर्वदा ।
ब्रह्म चैव धनं येषां को हिंस्यात्ताञ्जिजीविषुः ॥ ३१६ ॥

जिनके आश्रय से लोक और देवता सदा रहते हैं। जिनका ब्रह्म ही धन है, उनको जीने की इच्छा वाला कौन सतावेगा।

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत् ।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाऽग्निर्दैवतं महत् ॥ ३१७ ॥

जिस प्रकार वैदिक और अवैदिक रीति से स्थापित की हुई अग्नि महान् देवता है, उसी प्रकार ब्राह्मण पण्डित हो या मूर्ख हो महान् देवता है।

श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति ।
हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्धते ॥ ३१८ ॥

श्मशान में भी तेजस्वी अग्नि दूषित नहीं होती है और यज्ञ में हवन करने से भी वह बढ़ती ही है।

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु ।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत् ॥ ३१९ ॥

उसी प्रकार सभी प्रकार के अपवित्र कार्यों में संलग्न रहने पर भी ब्राह्मण सब प्रकार पूजनीय है क्योंकि वह परम देवता है।

क्षत्रस्यातिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणान्प्रति सर्वशः ।
ब्राह्मैव सन्नियन्तृ स्यात्क्षत्रं हि ब्रह्मसम्भवम् ॥ ३२० ॥

सब प्रकार से अत्यन्त उत्कट रूप से ब्राह्मणों को पीड़ा देने वाले क्षत्रिय का शासन ब्राह्मण ही कर सकता है क्योंकि क्षत्रिय ब्राह्मण से ही उत्पन्न हुआ है।

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ ३२१ ॥

जल से अग्नि, ब्राह्मण से क्षत्रिय और पत्थर से लोहा उत्पन्न हुआ है उनका तेज सर्वत्र व्याप्त होने पर भी अपने उत्पत्ति स्थान में ही शान्त हो जाता है।

नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते ।
ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते ॥३२२॥

बिना ब्राह्मण के क्षत्रिय की वृद्धि नहीं होती है और क्षत्रिय के बिना ब्राह्मण की उन्नति नहीं होती है। यदि ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों परस्पर मिले रहें तो यहाँ और परलोक दोनों जगह दोनों की वृद्धि होती है।

दत्त्वा धनं तु विप्रेभ्यः सर्वदण्डसमुत्थितम् ।
पुत्रे राज्यं समासृज्य कुर्वीत प्रायणं रणे ॥३२३॥

सभी प्रकार के दण्डों से पाये हुये धन को ब्राह्मण को देकर और अपने पुत्र को राज्य देकर राजा रण में प्रयाण करे।

एवं चरन् सदा युक्तो राजधर्मेषु पार्थिवः ।
हितेषु चैव लोकस्य सर्वान्भृत्यान्नियोजयेत् ॥३२४॥

इस प्रकार राजा सदा राजधर्म में संयुक्त होकर सभी प्रजाओं के कल्याण के लिए सभी कर्मचारियों को नियुक्त करे।

एषोऽखिलः कर्मविधिरुक्तो राज्ञः सनातनः ।
इमं कर्मविधिं विद्यात्क्रमशो वैश्यशूद्रयोः ॥३२५॥

यह राजाओं की सनातन कर्मविधि को कहा है और अब क्रम से वैश्य और शूद्रों के कर्मविधि को जानना चाहिये।

वैश्यस्तु कृतसंस्कारः कृत्वा दारपरिग्रहम् ।
वार्तायां नित्ययुक्तः स्यात्पशूनां चैव रक्षणे ॥३२६॥

वैश्य यज्ञोपवीत संस्कार के बाद विवाह करके खेती, व्यापार और पशुओं की रक्षा करने में नित्य तैयार रहे।

प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून् ।
ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः ॥३२७॥

ब्रह्मा ने पशुओं की सृष्टि करके वैश्यों को उनका भार दे दिया और ब्राह्मण तथा राजा को सभी प्रजाओं का भार दे दिया।

न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति ।
वैश्ये चेच्छति नान्येन रक्षितव्याः कथञ्चन ॥३२८॥

वैश्य को कभी यह इच्छा नहीं करनी चाहिये कि मैं पशुओं की रक्षा न करूँ। और वैश्य जब तक पशुपालन की इच्छा करे तबतक दूसरे से कभी भी पशु की रक्षा न करावे।

मणिमुक्ताप्रवालानां लोहानां तान्तवस्य च ।
गन्धानां च रसानां च विद्यादर्घबलाबलम् ॥३२९॥

मणि, मोती, मूँगा, लोहा, वस्त्र, गन्ध और रसों के भाव में कमी वेशी का ज्ञान वैश्य को हमेशा रखना चाहिये।

बीजानामुप्तिविच्च स्यात्क्षेत्रदोषगुणस्य च।
मानयोगं च जानीयात्तुलायोगांश्च सर्वशः ॥३३०॥

बीजों के बोने का ज्ञान और खेतों के दोष और गुण का ज्ञान भी रहना चाहिये।

सारासारं च भाण्डानां देशानां च गुणागुणान्।
लाभालाभं च पण्यानां पशूनां परिवर्धनम् ॥३३१॥
भृत्यानां च भृतिं विद्याद्भाषाश्च विविधा नृणाम्।
द्रव्याणां स्थानयोगांश्च क्रयविक्रयमेव च ॥३३२॥

प्रत्येक वस्तुओं के अच्छे बुरे की पहचान, प्रत्येक देशों की सस्ती और महँगी चीजों का ज्ञान, विक्रय की जाने वाली वस्तुओं के हानि लाभ का ज्ञान, पशुओं के वृद्धि के उपाय, नौकरों के मासिक देने का ज्ञान, मनुष्यों के अनेक प्रकार की भाषाओं का ज्ञान, वस्तुओं के सुरक्षित रखने वाले स्थानों का ज्ञान और खरीद विक्री का ज्ञान रखना चाहिये।

धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम्।
दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः ॥३३३॥

धर्म से द्रव्य की वृद्धि में उत्तम यत्न करना चाहिये। और प्रयत्न करके सभी प्राणियों को अन्न देना चाहिये।

विप्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां यशस्विनाम्।
शूश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्रेयसः परः ॥३३४॥

वेद को जानने वाले ब्राह्मणों की और यशस्वी गृहस्थों की सेवा करना ही शूद्र को स्वर्ग देने वाला परम धर्म है।

शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहंकृतः।
ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जात्तिमश्नुते ॥३३५॥

यत्न और वाणी से पवित्र रहने वाला, श्रेष्ठ जातियों की सेवा करने वाला, मीठा वचन बोलने वाला, अहंकार रहित, और ब्राह्मण के आश्रित रहने वाला शूद्र अपने से उत्कृष्ट जाति को पाता है।

एषोऽनापदि वर्णानामुक्तः कर्मविधिः शुभः।
आपद्यपि हि यस्तेषां क्रमशस्तन्निबोधत ॥३३६॥

यह चारों वर्णों का निरापद स्थिति में शुभ कर्मविधि कहा। अब आपत्तिकाल में उन लोगों का जो धर्म है उसे भी सुनो।

इति नवम अध्याय समाप्त।

दशमोऽध्यायः (१०)

अधीयीरंस्त्रयो वर्णाः स्वकर्मस्था द्विजातयः ।
प्रब्रूयाद् ब्राह्मणस्त्वेषां नेतराविति निश्चयः ॥ १ ॥

अपने-अपने कर्मों में निरत द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) वेदों को पढ़े। इनमें ब्राह्मण ही वेद को पढ़ावे, अन्य कोई भी न पढ़ावे यही निश्चय है।

सर्वेषां ब्राह्मणो विद्याद्वृत्त्युपायान् यथाविधि ।
प्रब्रूयादितरेभ्यश्च स्वयं चैव तथा भवेत् ॥ २ ॥

ब्राह्मण सबके वृत्ति का उपाय यथा विधि जानकर उसका सब लोगों को उपदेश करे और स्वयं भी अपनी जीविका का उपाय करे।

वैशेष्यात्प्रकृतिश्रेष्ठ्यान्नियमस्य च धारणात् ।
संस्कारस्य विशेषाच्च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ३ ॥

अत्यन्त श्रेष्ठता, प्रकृति की श्रेष्ठता के कारण, नियमों को धारण करने में और संस्कारों की विशेषता से सभी वर्णों का स्वामी ब्राह्मण है।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः ॥ ४ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन्हीं तीनों वर्णों को द्विजाति कहते हैं चौथा एक जाति वर्ण शूद्र है पाँचवाँ कोई नहीं है।

सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु ।
आनुलोम्येन सम्भूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते ॥ ५ ॥

सभी वर्णों में सजातीय अक्षतयोनि वाली स्त्रियों से अनुलोम विधि से जो सन्तान होगी वह उसी वर्ण की होगी। (जैसे ब्राह्मण से ब्राह्मण में उत्पन्न पुत्र ब्राह्मण ही होगा एवं अन्य वर्णों में जानना।)

स्त्रीष्वनन्तरजातासु द्विजैरुत्पादितान्सुतान् ।
सदृशानेव तानाहुर्मातृदोषविगर्हितान् ॥ ६ ॥

व्यवधान रहित अपने से निम्नवर्ण की स्त्रियों में द्विजातियों से उत्पन्न हुए पुत्र (अर्थात् ब्राह्मण से क्षत्रिय में, क्षत्रिय से वैश्या में वैश्य से शूद्रा में) माता के हीन जातीय होने से निन्दित और पिता के सदृश होते हैं।

अनन्तारासु जातानां विधिरेष सनातनः ।
द्व्येकान्तरासु जातानां धर्म्यं विद्यादिमं विधिम् ॥ ७ ॥

यह व्यवधान रहित अपने से हीन जाति के स्त्रियों से उत्पन्न पुत्रों का यह सनातन विधि कहा। अब दो अथवा एक वर्ण के अन्तर वाली स्त्रियों से उत्पन्न पुत्रों के लिये यह नियम है।

ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामम्बष्ठो नाम जायते ।
निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते ॥८॥

ब्राह्मण से वैश्य कन्या में उत्पन्न पुत्र को अम्बष्ठ कहते हैं। और शूद्र कन्या से उत्पन्न पुत्र को निषाद कहते हैं और उसी को पारशव भी कहते हैं।

क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां क्रूराचारविहारवान् ।
क्षत्रशूद्रवपुर्जन्तुरुग्रो नाम प्रजायते ॥९॥

क्षत्रिय से शूद्र कन्या में उत्पन्न पुत्र क्रूर आचार और विहार करने वाला होता है। उसकी प्रकृति क्षत्रिय और शूद्र दोनों के ऐसी होती है और उसे उग्र कहते हैं।

विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु नृपतेर्वर्णयोर्द्वयोः ।
वैश्यस्य वर्णे चैकस्मिन् षडेतेऽपसदाः स्मृताः ॥१०॥

ब्राह्मण से अन्य तीन वर्णवाली (क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) स्त्रियों में उत्पन्न पुत्र, और वैश्य से केवल शूद्र वर्ण की स्त्री से उत्पन्न पुत्र ये छः पुत्रों को अपसद कहते हैं।

क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः ।
वैश्यान्मागधवैदेहो राजविप्राङ्गनासुतौ ॥११॥

ब्राह्मण की कन्या में क्षत्रिय से उत्पन्न हुए पुत्र की सूत जाति होती है। क्षत्रिय और ब्राह्मण की कन्या से वैश्य द्वारा उत्पन्न पुत्र क्रमशः मागध और वैदेह जाति के होते हैं।

शूद्रादायोगवः क्षत्ता चण्डालश्चाधमो नृणाम् ।
वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसङ्कराः ॥१२॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य के कन्या में शूद्र से उत्पन्न हुए लड़के क्रम से अयोगव, क्षत्ता और अधम चाण्डाल वर्णसंकर होते हैं।

एकान्तरे त्वानुलोम्यादम्बष्ठोग्रौ यथा स्मृतौ ।
क्षत्तृ वैदेहकौ तद्वत्प्रातिलोम्येऽपि जन्मनि ॥१३॥

अनुलोम से एकान्तर में जैसे अम्बष्ठ और उग्र हैं वैसे ही प्रतिलोम रीति से एकान्तर वर्ण में उत्पन्न क्षत्ता और वैदेह भी है।

पुत्रा येऽनन्तरस्त्रीजाः क्रमेणोक्ता द्विजन्मनाम् ।
ताननन्तरनाम्नस्तु मातृदोषात्प्रचक्षते ॥ १४ ॥

द्विजातियों के अनन्तर स्त्रियों में जो सन्तानें होती हैं, वे माता के दोष से (अर्थात् माता के भिन्न जाति होने से) उसी जाति के पुकारे जाते हैं।

ब्राह्मणादुग्रकन्यायामावृतो नाम जायते ।
आभीरोऽम्बष्ठकन्यायामायोगव्यां तु धिग्वणः ॥ १५ ॥

उग्रकन्या (क्षत्रिय से शूद्रा में उत्पन्न कन्या को उग्रा कहते हैं) में ब्राह्मण से उत्पन्न बालक को आवृत, अम्बष्ठ (ब्राह्मण से वेश्या में उत्पन्न कन्या) कन्या में उत्पन्न पुत्र आभीर और आयोगवी कन्या (शूद्र से वेश्या में उत्पन्न कन्या) में उत्पन्न पुत्र को धिग्व्रण कहते हैं।

आयोगवश्च क्षत्ता च चण्डालश्चाधमो नृणाम् ।
प्रातिलोम्येन जायन्ते शूद्रादपसदास्त्रयः ॥ १६ ॥

प्रतिलोम रीति से उत्पन्न आयोगव, क्षत्ता और मनुष्यों में अधम चांडाल ये तीनों सर्वदा शूद्र से भी नीच होते हैं।

वैश्यान्मागधवैदेहौ क्षत्रियात्सूत एव तु ।
प्रतीपमेते जायन्ते परेऽप्यपसदास्त्रयः ॥ १७ ॥

प्रतिलोम रीति से वैश्य से उत्पन्न (अर्थात् क्षत्रिय और ब्राह्मण की कन्या में) पुत्र क्रम से मागध और वैदेह तथा क्षत्रिय से उत्पन्न (ब्राह्मण की कन्या में) पुत्र रूप ये तीनों सर्वदा भ्रष्ट होते हैं।

जातो निषादाच्छूद्रायां जात्या भवति पुक्कसः ।
शूद्राज्जातो निषाद्यां तु स वै कुक्कुटकः स्मृतः ॥ १८ ॥

शूद्र के कन्या में निषाद से उत्पन्न पुत्र पुक्कस और निषाद के कन्या में शूद्र से उत्पन्न पुत्र कुक्कुटक कहा जाता है।

क्षत्तुर्जातस्तथोग्रायां स्वापक इति कीर्त्यते ।
वैदेहकेन त्वम्बष्ठ्यामुत्पन्नो वेण उच्यते ॥ १९ ॥

उग्र कन्या में क्षत्ता से उत्पन्न पुत्र को श्वपाक कहते हैं। अम्बष्ठ कन्या में वैदेह से उत्पन्न पुत्र को वेण कहते हैं।

द्विजातयः सवर्णासु जनयन्त्यव्रतांस्तु यान् ।
तान्सावित्रीपरिभ्रष्टान्व्रात्यानिति विनिर्दिशेत् ॥ २० ॥

द्विजातियों से सवर्ण स्त्रियों में जो पुत्र होते हैं यदि उनका यज्ञोपवीत संस्कार न किया गया हो तो सावित्री से भ्रष्ट होने के कारण वे व्रात्य कहे जाते हैं।

व्रात्यात्तु जायते विप्रात्पापात्मा भूर्जकण्टकः ।
आवन्त्यवाटधानौ च पुष्पधः शैख एव च ॥२१॥

व्रात्य विप्र से पापात्मा भूर्जकण्टक पुत्र उत्पन्न होता है। उसी को आवन्त्य, वाटधान, पुष्पध और शैख भी कहते हैं।

झल्लो मल्लश्च राजन्याद् व्रात्यान् लिच्छिविरेव च ।
नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड एवं च ॥२२॥

क्षत्रिय वर्ण के व्रात्य से उत्पन्न पुत्र को झल्ल, मल्ल, लिच्छिवि, नट, करण, खस और द्रविण कहते हैं।

वैश्यात्तु जायते व्रात्यात्सुधन्वाचार्य एव च ।
कारुषश्च विजन्मा च मैत्रः सात्वत एव च ॥२३॥

वैश्य वर्ण के व्रात्य से स्वजातीय स्त्री से उत्पन्न पुत्र को सुधन्वाचार्य, कारुष्य, विजन्मा, मैत्र और सात्वत कहते हैं।

व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च ।
स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसङ्कराः ॥२४॥

विप्रादि वर्गों का परस्पर व्यभिचार करने से, स्वगोत्र में विवाह करने में और अपने-अपने कर्मों को छोड़ देने से वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं।

सङ्कीर्णयोनयो ये तु प्रतिलोमानुलोमजाः ।
अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥२५॥

प्रतिलोम और अनुलोम से जो संकीर्ण जातियाँ उत्पन्न होती हैं तथा परस्पर व्यभिचार से उत्पन्न जाति को सम्पूर्ण कहता हूँ।

सूतो वैदेहकश्चैव चण्डालश्च नराधमः ।
मागधः क्षत्रजातिश्च तथाऽऽयोगव एव च ॥२६॥

सूत, वैदेहक, नराधम, चाण्डाल, मागध, क्षत्ता और आयोगव ये ६ वर्णसंकर हैं।

एते षट् सदृशान्वर्णाञ्जनयन्ति स्वयोनिषु ।
मातृजात्यां प्रसूयन्ते प्रवरासु च योनिषु ॥२७॥

ये छः अपने सजातीय, माता की जाति तथा श्रेष्ठ जाति की कन्यायें अपने ही अनुरूप सन्तान को उत्पन्न करते हैं।

यथा त्रयाणां वर्णानां द्वयोरात्मास्य जायते ।
आनन्तर्यात्स्वयोन्यां तु तथा बाह्येष्वपि क्रमात् ॥ २८ ॥

जैसे (क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) तीनों वर्णों के बीच दो वर्णों (क्षत्रिय, वैश्य) की विवाहिता कन्याओं से ब्राह्मण द्वारा अनुलोमक्रम से उत्पन्न पुत्र श्रेष्ठ होता है उसी प्रकार वैश्य और क्षत्रिय से क्षत्रिया और ब्राह्मणी स्त्री में उत्पन्न पुत्र, शूद्र के प्रतिलोमज पुत्र से श्रेष्ठ होता है।

ते चाऽपि बाह्यान्सुबहूंस्ततोऽप्यधिकदूषितान् ।
परस्परस्य दारेषु जनयन्ति विगर्हितान् ॥ २९ ॥

वे पूर्वोक्त वर्णसंकर परस्पर की स्त्रियों में उभयक्रम से अत्यन्त निन्दित सन्तान उत्पन्न करते हैं।

यथैव शूद्रो ब्राह्मण्यां बाह्यं जन्तुं प्रसूयते ।
तथा बाह्यतरं बाह्यश्चातुर्वर्ण्ये प्रसूयते ॥ ३० ॥

जिस प्रकार से शूद्र ब्राह्मणी (ब्राह्मण की स्त्री) में चाण्डाल को पैदा करता है। उसी प्रकार चारों चाण्डाल जातियाँ अपने से भी निन्दित सन्तानों को उत्पन्न करती हैं।

प्रतिकूलं वर्तमाना बाह्या बाह्यतरान्पुनः ।
हीना हीनात्प्रसूयन्ते वर्णान्पञ्चदशैव तु ॥ ३१ ॥

प्रतिकूल वर्तमान बाह्यहीन पुत्रों से चारों वर्णों की स्त्रियों से उत्पन्न और स्वजातीय स्त्रियों में पन्द्रह-पन्द्रह प्रकार की बाह्यतर हीन जाति उत्पन्न होती हैं।

प्रसाधनोपचारज्ञमदासं दासजीवनम् ।
सैरिन्ध्रं वागुरावृत्तिं सूते दस्युरयोगवे ॥ ३२ ॥

आयागव स्त्री से दस्यु द्वारा उत्पन्न हुये पुत्र को सैरिन्ध्र कहते हैं। वह प्रसाधनोपचार (केश रचनादि) में कुशल और जूठा न खाकर दासवृत्ति और व्याध (बहेलिये) की वृत्ति से अपना निर्वाह करता है।

मैत्रेयकं तु वैदेहो माधूकं संप्रसूयते ।
नृन्प्रशंसत्यजस्रं यो घण्टाताडोऽरुणोदये ॥ ३३ ॥

वैदेह से पूर्वोक्त स्त्री में उत्पन्न पुत्र को मैत्रेय कहते हैं। वह मधुर बोलने वाला और सूर्योदय में घंटा बजाकर अपनी जीविका के लिये मनुष्यों की प्रशंसा करता फिरता है।

निषादो मार्गवं सूते दासं नौकर्मजीविनम् ।
कैवर्तमिति यं प्राहुरार्यावर्तनिवासिनः ॥३४॥

निषाद से पूर्वोक्त स्त्री में उत्पन्न पुत्र को भार्गव या दास कहते हैं। जो कि नौका के द्वारा जीवन निर्वाह करता है। जिसे आर्यावर्त के रहने वाले कैवर्त कहते हैं।

मृतवस्त्रभृत्सु नारीषु गर्हितान्नाशनासु च ।
भवन्त्यायोगवीष्वेते जातिहीनाः पृथक् त्रयः ॥३५॥

पूर्वोक्त तीनों (सैरिन्ध्र, मैत्रेय, भार्गव) हीन जातियाँ मुर्दे का वस्त्र पहनने वाली और गर्हित (जूठा) खाने वाली आयोगवी स्त्रियों से उत्पन्न होकर भिन्न-भिन्न होती हैं।

कारावरो निषादात्तु चर्मकारः प्रसूयते ।
वैदेहिकादन्ध्रमेदौ बहिर्ग्रामप्रतिश्रयौ ॥३६॥

निषाद जाति से वैदेह पत्नी में उत्पन्न पुत्र करावर नाम की चमार जाति उत्पन्न होती है। और वैदेहिक जाति से पूर्वोक्त पत्नियों में अन्ध्र और मेद क्रम से उत्पन्न होते हैं। ये ग्राम से बाहर घर बनाकर रहते हैं।

चण्डालात्पाण्डुसोपाकस्त्वक्सारव्यवहारवान् ।
आहिण्डिका निषादेन वैदेह्यामेव जायते ॥३७॥

चाण्डाल से वैदेहिक स्त्री में पाण्डुलोपाक नाम का पुत्र होता है जो कि (त्वक्साठ) बाँस से जीविका करने वाला होता है। निषाद से वैदेहिक पत्नी में आहिण्डक नामक पुत्र उत्पन्न होता है।

चण्डालेन तु सोपाको मूलव्यसनवृत्तिमान् ।
पुक्कस्यां जायते पापः सदा सज्जनगर्हितः ॥३८॥

चाण्डाल से पुक्कसी स्त्री में सोपाक उत्पन्न होते हैं। ये अपने मूल व्यवसाय (वधिक वृत्ति) को करने वाले होते हैं। हमेशा पाप करने वाले होते हैं इसलिये सज्जनों से निन्दित हैं।

निषादस्त्री तु चण्डालात्पुत्रमन्त्यावसायिनम् ।
श्मशानगोचरं सूते बाह्यानामपि गर्हितम् ॥३९॥

निषाद जाति की स्त्री चाण्डाल से अन्त्यावसायी पुत्र को उत्पन्न करती है। श्मशान का काम करने वाला और चाण्डाल से भी हीन होता है।

सङ्करे जातयस्त्वेताः पितृमातृप्रदर्शिताः ।
प्रच्छन्ना वा प्रकाशा वा वेदितव्याः स्वकर्मभिः ॥४०॥

वर्णसंकरों की इतनी जातियाँ पिता-माता के भेद से दिखाई गईं और जो गुप्त और प्रकाश में जातियाँ हैं उन्हें उनके कर्म से समझाना चाहिये।

सजातिजानन्तरजाः षट् सुता द्विजधर्मिणः ।
शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः ॥४१॥

द्विजातियों को सजातीय स्त्रियों में और अनन्तर जातियों (अनुलोमक्रम से) द्वारा (अर्थात् ब्राह्मण द्वारा क्षत्रिया और वैश्या से तथा क्षत्रिय द्वारा वैश्या में) ये छः पुत्र द्विजत्व के अधिकारी होते हैं, और प्रतिलोम क्रम से उत्पन्न जातियाँ शूद्र के सहधर्मी हैं इसलिए वे द्विजत्व के योग्य नहीं हैं।

तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे ।
उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः ॥४२॥

वे (पूर्वोक्त सजातीय और अनुलोमज) युग-युग में तपस्या और बीज के प्रभाव से जन्म से ही मनुष्यों के बीच उच्चता और नीचता को प्राप्त होते हैं।

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥४३॥

ये (आगे कहे हुए) क्षत्रिय जातियाँ क्रिया के (उपनयनादि) लोप होने से ब्राह्मण का दर्शन न होने के कारण (अनध्ययनादि से) इस लोक में शूद्रत्व को प्राप्त होती हैं।

पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः ।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराताः दरदाः खशाः ॥४४॥

पौंड्रक, औड्र, द्रविड़, कम्बोज, यवन, शक, पारद, पहलव, चीन, किरात, दरद और खश।

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः ।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥४५॥

(मुख) ब्राह्मण, (बाहु) क्षत्रिय, (उरू) वैश्य और (पद) शूद्र की बाह्य जातियाँ हो गई हैं, वे चाहे म्लेच्छ या आर्य दोनों में चाहे जिस भाषा को बोलें वे संसार में दस्यु कही जाती हैं।

ये द्विजानामपसदा ये चापध्वंसजाः स्मृताः ।
ते निन्दितैर्वर्तयेयुर्द्विजानामेव कर्मभिः ॥४६॥

द्विजों से उत्पन्न अपसद और प्रतिलोमज जातियाँ वे द्विजों के कर्म के लिये आगे कहे हुये निन्दित कर्मों द्वारा अपना जीवन निर्वाह करें।

सूतानामश्वसारथ्यमम्बष्ठानां चिकित्सनम्।
वैदेहकानां स्त्रीकार्यं मागधानां वणिक्पथः ॥४७॥

सूतों का कार्य घोड़ों का सारथ्य (सहीसी) करना और रथ हाँकना (कोचवानी) है। अम्बष्ठों का चिकित्सा (दवा) करना, वैदेहकों का जानानखाने में स्त्रियों का कार्य करना और मागधों का स्थलमार्ग से रोजगार करना है।

मत्स्यघातो निषादानां तष्टिस्त्वायोगवस्य च।
मेदान्ध्रचुञ्चुमद्गूनामारण्यपशुहिंसनम् ॥४८॥

निषादों का कार्य मछली मारना, आयोगवों का कार्य लकड़ी का है। मेद, आन्ध्र चुञ्चु, और मद्गुओं का कार्य जंगली पशुओं का बध करना है।

क्षत्तुग्रपुक्कसानां तु बिलौकावधबन्धनम्।
धिग्वणानां चर्मकार्यं वेणानां भांडवादनम् ॥४९॥

क्षत्ता, उग्र और पुक्कसों का कार्य बिल में रहने वाले जीवों को बाँधना और मारना है। धिग्वणों का कार्य चमड़ा बेचना और वेणों का कार्य बजाने वाले बर्तनों को बजाना है।

चैत्यद्रुमश्मशानेषु शैलेषूपवनेषु च।
वसेयुरेते विज्ञाना वर्तयन्तः स्वकर्मभिः ॥५०॥

ये पूर्वोक्त जातियाँ ग्राम के निकट किसी विशिष्ट वृक्ष के नीचे अथवा श्मशान, पहाड़ अथवा उपवन में अपने कर्म के अनुरूप जीविका करते हुये वास करें।

चण्डालश्वपचानां तु बहिर्ग्रामात्प्रतिश्रयः।
अपपात्राश्च कर्तव्या धनमेषां श्वगर्दभम् ॥५१॥
वासांसि मृतचेलानि भिन्नभाण्डेषु भोजनम्।
कार्ष्णायसमलङ्कारः परिव्रज्या च नित्यशः ॥५२॥

चाण्डाल और श्वपचों के रहने का स्थान गाँव के बाहर रहना चाहिये। इनका पात्र (बर्तन) मिट्टी के होने चाहिये और कुत्ता और गदहा ही इनका धन है, मुर्दों के उतारे वस्त्र ही इनके वस्त्र हैं, टूट-फूटे बर्तनों में भोजन करना चाहिये, लौह के आभूषण पहनना चाहिये, और नित्य एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमना चाहिये।

न तैः समयमन्विच्छेत्पुरुषो धर्ममाचरन् ।
व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह ॥५३॥

धर्मकार्य में संलग्न मनुष्य इनके साथ भाषण आदि व्यवहार न करे। इनका विवाह और परस्पर का व्यवहार (लेन-देन का) आपस में ही होता है।

अन्नमेषां पराधीनं देयं स्याद्भिन्नभाजने ।
रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च ॥५४॥

इनको अपने नौकरों से टूटे-फूटे बर्तनों से अन्न दिलावे। ये रात में ग्राम या नगर में न घूमें।

दिवा चरेयुः कार्यार्थं चिह्निता राजशासनैः ।
अबान्धवं शवं चैव निर्हरेयुरिति स्थितिः ॥५५॥

ये राजा की आज्ञा से राजचिह्नों को धारण कर दिन में काम के लिये घूमें। जिनके कोई बन्धु-बांधव नहीं हैं ऐसे मुर्दों को ढोवें यही निर्णय है।

वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाज्ञया ।
वध्यवासांसिगृह्णीयुः शय्याश्चाभरणानि च ॥५६॥

शास्त्र के अनुसार राजा की आज्ञा से दिये हुये वध के दंड वाले मनुष्य (फाँसी पाने वाले) का वध करें। और उनके कपड़े, चारपाई और आभूषण ले लेवें।

वर्णापेतमविज्ञातं नरं कलुषयोनिजम् ।
आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभिः स्वैर्विभावयेत् ॥५७॥

जो मनुष्य वर्ण से रहित अज्ञात और कलुषित योनि (वर्णसंकर से उत्पन्न) के रूप में अनार्य हों उन्हें उनके कर्म से जानना चाहिये।

अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता ।
पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम् ॥५८॥

अनार्यता (असाधुता), निष्ठुरता, क्रूरता, अकर्मण्यता, ये लक्षण इस संसार में कलुषित योनि में उत्पन्न पुरुषों के होते हैं।

पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा ।
न कथञ्चन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति ॥५९॥

पूर्वोक्त पुरुष पिता या माता के अथवा दोनों के शीलस्वभाव के अनुसार ही होते हैं। किसी भी प्रकार वह दुष्टकुल में उत्पन्न पुरुष अपने असली रूप को नहीं छिपा सकता है।

कुले मुख्येऽपि जातस्य यस्य स्याद्योनिसङ्करः ।
संश्रयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमपि वा बहु ॥६०॥

श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न होकर भी जो वर्णसंकर हो जाता है, वह अपने जन्म देने वाले के स्वभाव से वंचित नहीं रहता। थोड़ा या अधिक अपने पूर्वज का स्वभाव उसमें अवश्य रहता है।

यत्र त्वेते परिध्वंसाज्जायन्ते वर्णदूषकाः ।
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥६१॥

जहाँ पर जिस देश में ये वर्ण को दुखित करने वाले वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं, वह देश प्रजा के साथ शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा देहत्यागोऽनुपस्कृतः ।
स्त्रीबालाभ्युपपत्तौ च बाह्यानां सिद्धिकारणम् ॥६२॥

ब्राह्मण के लिये, गौ के लिये और स्त्रियों और बालकों के आपत्ति काल में इनकी रक्षा के लिये निरपेक्ष बुद्धि से प्रतिलोमज जातियों का प्राण दे देना उनको (रक्षा करने में प्राण देने वालों के लिये) स्वर्ण अवसर होता है।

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥६३॥

अहिंसा (किसी को भी मन, वाणी और शरीर से दुःख न देना), सत्य बोलना, चोरी नहीं करना, पवित्रता और इन्द्रियों का निग्रह करना ये संक्षेप से चारों वर्णों का धर्म मनुजी ने कहा है।

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्प्रजायते ।
अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद्युगात् ॥६४॥

ब्राह्मण से शूद्रा (शूद्र जाति के स्त्री में) उत्पन्न कन्या यदि ब्राह्मण के साथ व्याही जाय और आगे भी यही क्रम रहे तो वह अपनी सातवीं पीढ़ी में अपनी नीच योनि से उद्धार पाकर ब्राह्मण हो जाती है।

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चेति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेव तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥६५॥

जैसे शूद्र ब्राह्मणत्व कों और ब्राह्मण शूद्रता को प्राप्त होता है उसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य से उत्पन्न शूद्र भी क्षत्रित्व और वैश्यत्व को प्राप्त होता है।

अनार्यायां समुत्पन्नो ब्राह्मणात्तु यदृच्छया ।
ब्राह्मण्यामप्यनार्यात्तु श्रेयस्त्वं क्वेति चेद्भवेत् ॥६६॥

ब्राह्मण से अपनी इच्छा से क्वारी अविवाहित शूद्र कन्या में और शूद्र से ब्राह्मण कन्या में उत्पन्न पुत्र, इन दोनों में श्रेष्ठ कौन है, ऐसी शङ्का होने पर–

जातो नार्यामनार्यायामार्यादार्यो भवेद् गुणैः ।
जातोऽप्यनार्यादार्यायामनार्य इति निश्चयः ॥६७॥

ब्राह्मण से शूद्र कन्या में उत्पन्न पुत्र पाकादि यज्ञ गुणों से युक्त होने के कारण श्रेष्ठ है। शूद्र से ब्राह्मण के कन्या में उत्पन्न पुत्र प्रतिलोमज होने के कारण अप्रशस्त है, यही निश्चय है।

तावुभावप्यसंस्कार्याविति धर्मो व्यवस्थितः ।
वैगुण्याज्जन्मनः पूर्व उत्तरः प्रतिलोमतः ॥६८॥

ये दोनों (पूर्वोक्त उत्पन्न पुत्र) उपनयनादि संस्कारों के अधिकारी नहीं होते, यही धर्मशास्त्र की व्यवस्था है मंत्र से ही वैगुण्य होने के कारण और दूसरा प्रतिलोमज होने के कारण यज्ञोपवीतादि संस्कारों के योग्य नहीं हैं।

सुबीजं चैव सुक्षेत्रे जातं सम्पद्यते यथा ।
तथार्याज्जात आर्यायां सर्वं संस्कारमर्हति ॥६९॥

जैसे अच्छे खेत में अच्छा बीज बोने से अच्छी उपज होती है उसी प्रकार आर्य पुरुष से आर्य स्त्री में उत्पन्न पुत्र संस्कारों का अधिकारी होता है।

बीजमेके प्रशंसन्ति क्षेत्रमन्ये मनीषिणः ।
बीजक्षेत्रे तथैवान्ये तत्रेयं तु व्यवस्थितिः ॥७०॥

कोई बीज की प्रशंसा करता है, कोई क्षेत्र की और कोई दोनों की प्रशंसा करता है इसलिए इस विषय में यह व्यवस्था है।

अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति ।
अबीजकमपि क्षेत्रं केवलं स्थण्डिलं भवेत् ॥७१॥

खराब खेत में (ऊसर में) बोया हुआ बीज फल देने के पूर्व ही नष्ट हो जाता है, और जिस क्षेत्र में बीज ही न पड़े वह केवल स्थंडिल ही रहता है।

यस्माद् बीजप्रभावेण तिर्यग्जा ऋषयोऽभवन् ।
पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद् बीजं प्रशस्यते ॥७२॥

जिस कारण से बीज के प्रभाव से तिर्यक् जाति में उत्पन्न होने पर भी ऋषि होकर पूजित हुए इसलिए बीज ही प्रधान है।

अनार्यमार्यकर्माणमार्यं चानार्यकर्मिणम् ।
संप्रधार्याब्रवीद्धाता न समौ नासमाविति ॥७३॥

आर्य (द्विज) का काम करने वाला अनार्य (शूद्र) और अनार्य का काम करने वाला आर्य इन दोनों के विषय में विचार करके ब्रह्मा ने कहा कि वे दोनों न तो समान हैं और न असमान ही हैं।

ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ये स्वकर्मण्यवस्थिताः ।
ते सम्यगुपजीवेयुः षट्कर्माणि यथाक्रमम् ॥७४॥

जो ब्राह्मण अपने कर्म में संलग्न और ब्रह्मनिष्ठ हैं वे आगे कहे हुए छः कर्मों का भलीभाँति अनुष्ठान करें।

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः ॥७५॥

अध्यापन, अध्ययन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह ये छः कार्य ब्राह्मणों के हैं।

षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका ।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥७६॥

इन छः कार्यों में तीन काम याजन (यज्ञ कराना), अध्यापन और विशुद्ध दान लेना ब्राह्मणों की जीविका है।

त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात्क्षत्रियं प्रति ।
अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः ॥७७॥

ब्राह्मण से क्षत्रिय तीन धर्मों अध्यापन, याजन और तीसरा प्रतिग्रह (दान लेना) से रहित हैं।

वैश्यं प्रति तथैवैते निवर्तेरन्निति स्थितिः ।
न तौ प्रति हि तान्धर्मान्मनुराह प्रजापतिः ॥७८॥

उसी प्रकार वैश्य भी इन तीन धर्मों से निवृत्त है यह स्थित है। क्योंकि प्रजापति मनु ने इन लोगों के प्रति ये धर्म नहीं कहे हैं।

शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषिर्विशः ।
आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः ॥७९॥

क्षत्रिय को हथियार धारण करना और वैश्य को पशुपालन, खेती और व्यापार जीविका के लिये करना चाहिये। इनका धर्म दान देना अध्ययन और यज्ञ करना है।

वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम् ।
वार्त्ता कर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु ॥८०॥

ब्राह्मण को वेदाभ्यास, क्षत्रिय को प्रजा की रक्षा और वैश्य को रोजगार करना ये ही उनके विशेष कर्म हैं।

अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा।
जीवेत्क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः ॥८१॥

यदि ब्राह्मण अपने यथोक्त कर्म से जीविका न कर सके तो वह क्षत्रिय धर्म रे (रक्षा कार्य) जीविका चलावे, क्योंकि क्षात्र धर्म ही उसके निकट धर्म है।

उभाभ्यामप्यजीवस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।
कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम् ॥८२॥

यदि दोनों प्रकार के जीविका से ब्राह्मण अपनी जीविका न कर सके तो उसकी जीविका कैसे हो, ऐसी स्थिति में खेती और गोरक्षा को करके वैश्य वृत्ति से अपनी जीविका करें।

वैश्यवृत्त्यापि जीवस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा।
हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत् ॥८३॥

वैश्य की वृत्ति से जीता हुआ ब्राह्मण या क्षत्रिय हिंसा वाली पराधीन कृषि को यत्न से त्याग दे।

कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्विगर्हिता।
भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम् ॥८४॥

कृषि कर्म श्रेष्ठ है ऐसा कोई-कोई मानते हैं, किन्तु सज्जनों ने कृषि की निन्दा की है क्योंकि खेती के औजार (फरसा, फार, हल) से भूमि और भूमि में रहने वाले जीवों का नाश होता है।

इदं तु वृत्तिवैकल्यात्त्यजतो धर्मनैपुणम्।
विट्पण्यमुद्धृतोद्धारं विक्रेयं वित्तवर्धनम् ॥८५॥

जिन ब्राह्मण, क्षत्रियों ने अपने निज वृत्ति से जीविका असंभव समझकर अपने धर्म नैपुण्य का त्याग किया हो, वे वैश्यों के व्यापार पदार्थों को छोड़कर अन्य वस्तुओं का व्यापार अपने धन को बढ़ाने के लिये करें।

सर्वान्रसानपोहेत कृतान्नं च तिलैः सह।
अश्मनो लवणं चैव पशवो ये च मानुषाः ॥८६॥

सभी प्रकार के रसों से युक्त पदार्थ, अन्न से बने पदार्थ, तिल, पत्थर, नमक, पशु और मनुष्य।

सर्वं च तान्तवं रक्तं शाणक्षौमाविकानि च।
अपि चेत्स्युररक्तानि फलमूले यथौषधीः ॥८७॥

सभी प्रकार के बने वस्त्र, लाल रङ्ग, तीसी के छाल का और ऊनी वस्त्र यदि रंगे न हो तब भी और फल, मूल और औषधि।

अपः शस्त्रं विषं मांसं सोमं गन्धांश्च सर्वशः।
क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुडं कुशान् ॥८८॥

पानी, हथियार, विष, मांस, सोमरस, सभी प्रकार के सुगंधित पदार्थ, दूध, दही, घी, तैल, मधु, गुड़, और कुश।

आरण्यांश्च पशून्सर्वान्दंष्ट्रिणश्च वयांसि च।
मद्यं नीलिं च लाक्षां च सर्वांश्चैकशफांस्तथा ॥८९॥

सभी प्रकार के जंगल में रहने वाले जानवर, दाढ़ीवाले पशु, पक्षी, मदिरा, नील, लाख (लाह) और जिन पशुओं का खुर जुटा हो (उन्हें न बेंचे)।

काममुत्पाद्य कृष्यां तु स्वयमेव कृषीबलः।
विक्रीणीत तिलाञ्छूद्रान्धर्मार्थमचिरस्थितान् ॥९०॥

अपनी किसी खेती में अन्य धानों के साथ अधिक मात्रा में तिल पैदा कर धर्मार्थ शीघ्र उसे बेच दे।

भोजनाभ्यञ्जनाद्दानाद्यदन्यत्कुरुते तिलैः।
कृमिभूतः श्वविष्ठायां पितृभिः सह मज्जति ॥९१॥

जो भोजन, अबटन, और दान के सिवा अन्य कार्य तिल से करता है तो वह कीड़ा होकर पितरों के साथ कुत्ते की विष्टा में गिरता है।

सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च।
त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ॥९२॥

मांस, लाख और नमक बेचने से ब्राह्मण शीघ्र ही पतित हो जाता है। और दूध बेचने से तीन ही दिन में शूद्र हो जाता है।

इतरेषां तु पण्यानां विक्रयादिह कामतः।
ब्राह्मणः सप्तरात्रेण वैश्यभावं नियच्छति ॥९३॥

इतर पदार्थों (मांसादि को छोड़कर) को स्वेच्छा से बेचने से ब्राह्मण सात रात में ही वैशत्व को प्राप्त हो जाता है।

रसा रसैर्निमातव्या न त्वेव लवणं रसैः।
कृतान्नं चाकृतान्नेन तिला धान्येन तत्समाः ॥९४॥

रस को रस से बदल सकते हैं (गुड़ादि को घी आदि से बदलना) किन्तु नमक अन्य रसों से नहीं बदला जाता है। पक्वान्न कच्चे अन्न से और तिल धान से दोनों बराबर-बराबर तौल कर बदला जा सकता है।

जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः।
न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित् ॥९५॥

इस प्रकार आपत्ति में फँसा हुआ क्षत्रिय अपनी जीविका करे किन्तु कभी भी ब्राह्मण के वृत्ति का अवलम्बन न करे।

यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः।
तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥९६॥

जो अधम जाति मोह से उत्तम वृत्ति से जीवन निर्वाह करता हो उसको राजा निर्धन करके शीघ्र ही देश से निकाल देवे।

वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः।
परधर्मेण जीवन्हि सद्यः पतति जातितः ॥९७॥

अपना धर्म यदि किसी प्रकार से खण्डित हो तो भी श्रेष्ठ है किन्तु दूसरे का धर्म सर्वाङ्ग सम्पन्न होते हुए भी श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि दूसरे के बल पर जीने वाला शीघ्र ही जाति से पतित हो जाता है।

वैश्योऽजीवन्स्वधर्मेण शूद्रवृत्यापि वर्तयेत्।
अनाचरन्नकार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान् ॥९८॥

यदि वैश्य अपनी जीविका से जीवन निर्वाह न कर सके तो शूद्र वृत्ति से जीविका का निर्वाह करे और शक्तिशाली हो जाने पर उसे छोड़ दे।

अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम्।
पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत्कारुककर्मभिः ॥९९॥

यदि द्विजातियों की सेवा करने में शूद्र असमर्थ हो और उसके स्त्री बच्चे अन्नादि का कष्ट पा रहे हों तो, वह कारीगरी का काम करके जीविका चलाकर सबका भरण-पोषण करे।

यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः।
तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च ॥१००॥

जिन प्रचलित कार्यों द्वारा द्विजातियों की सेवा की जा सकती है वे अनेक प्रकार के शिल्प और कारीगरी के काम हैं।

वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन्ब्राह्मणः स्वे पथि स्थितः ।
अवृत्तिकर्षितः सीदन्निमं धर्मं समाचरेत् ॥१०१॥

अपने मार्ग में स्थित ब्राह्मण यदि वृत्ति के अभाव में पीड़ित होकर यदि वैश्य वृत्ति न कर सके तो आगे कही हुई वृत्ति को करे।

सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद् ब्राह्मणस्त्वनयं गतः ।
पवित्रं दुष्यतीत्येतद्धर्मतो नोपपद्यते ॥१०२॥

आपत्ति में फँसा हुआ ब्राह्मण दान लेवे। धर्मशास्त्र में यह प्रसिद्ध है कि पवित्र वस्तु दूषित नहीं होती।

नाध्यापनाद्याजनाद्वा गर्हिताद्वा प्रतिग्रहात् ।
दोषो भवति विप्राणां ज्वलनाम्बुसमा हि ते ॥१०३॥

अध्यापन (अपात्र को पढ़ाने) से, याजन (यज्ञ करने से) अथवा निकृष्ट दान लेने से ब्राह्मणों को दोष नहीं होता क्योंकि ब्राह्मण अग्नि और जल के बराबर हैं।

जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः ।
आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते ॥१०४॥

जैसे आकाश कीचड़ से लिप्त नहीं होता वैसे ही प्राण जाने के भय से जो कहीं इधर-उधर अन्न खा लेता है वह प्राणी भी पाप से लिप्त नहीं होता है।

अजीगर्तः सुतं हन्तुमुपासर्पद् बुभुक्षितः ।
न चालिप्यत पापेन क्षुत्प्रतीकारमाचरन् ॥१०५॥

भूख से व्याकुल अजीगर्त ऋषि पुत्र को मारने (वध करने) के लिये तैयार हो गये (यज्ञ में बलि देने को), किन्तु क्षुधा के मिटाने के लिये ऐसा करने पर भी वे पाप से लिप्त नहीं हुये।

श्वमांसमिच्छन्नार्तोऽत्तुं धर्माधर्मविचक्षणः ।
प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवो न लिप्तवान् ॥१०६॥

धर्म-अधर्म को जानने वाले वामदेव ऋषि प्राणों की रक्षा के लिये क्षुधा से आर्त होकर कुत्ते के मांस को खाने की इच्छा की और उस पाप से वे लिप्त नहीं हुये।

भरद्वाजः क्षुधार्तस्तु सपुत्रो विजने वने ।
बह्वीर्गाः प्रतिजग्राह वृधोस्तक्षणो महातपाः ॥१०७॥

निर्जन वन में क्षुधा से पीड़ित महातपस्वी भरद्वाज ऋषि पुत्र के साथ वृधु नामक बढ़ई से बहुत से गायें माँगी थीं।

क्षुधार्तश्चात्तु मभ्यागाद्विश्वामित्रः श्वजाघनीम् ।
चण्डालहस्तादादाय धर्माधर्मविचक्षणः ॥१०८॥

धर्म-अधर्म के जानने वाले विश्वामित्र ऋषि भूख से आर्त होकर चांडाल के हाथ से कुत्ते के जंघे का मांस लेकर खाने को तैयार हुए।

प्रतिग्रहाद्याजनाद्वा तथैवाध्यापनादपि ।
प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गर्हितः ॥१०९॥

दान से, यज्ञ से और अध्यापन से जो प्रतिग्रह लिया जाता है, वह ब्राह्मण के लिये अत्यन्त निकृष्ट है, वह अन्तिम अवस्था में नरक देने वाला होता है।

याजनाध्यापने नित्यं क्रियेते संस्कृतात्मनाम् ।
प्रतिग्रहस्तु क्रियते शूद्रादप्यन्त्यजन्मनः ॥११०॥

सभी द्विजों के जिनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ है सभी समयों में याजन और अध्यापन होता है। शूद्र और अन्त्यज से भी प्रतिग्रह लिया जाता है (अर्थात् पढ़ने और यज्ञ कराने से दान लेना निषिद्ध कर्म है)।

जपहोमैरपैत्येनो याजनाध्यापनैः कृतम् ।
प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्यागेन तपसैव च ॥१११॥

याजन और अध्यापन से किया हुआ पाप जप और होम से नष्ट होता है। और प्रतिग्रह से जो पाप होता है वह प्रतिग्रह ली हुई वस्तु के त्याग और तपस्या से नष्ट होता है।

शिलोञ्छमप्याददीत विप्रोऽजीवन्यतस्ततः ।
प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयांस्ततोऽप्युञ्छः प्रशस्यते ॥११२॥

इधर-उधर जीविका के लिये प्रतिग्रह न लेकर ब्राह्मण शिलोञ्छवृत्ति का आश्रय ले। प्रतिग्रह से शिलवृत्ति[१] अच्छी है और शिल से उञ्छवृत्ति[२] अच्छी होती है।

---

१. कटे हुए खेत की बाल बीनकर लाने को शिलवृत्ति कहते हैं।
२. खेत में गिरे हुए धान का एक एक दाना चुनने को उञ्छ वृत्ति कहते हैं।

सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिर्धने वा पृथिवीपतिः ।
याच्यः स्यात्स्नातकैर्विप्रैरदित्संस्त्यागमर्हति ॥११३॥

स्नातक ब्राह्मण द्रव्याभाव के कारण दुखी होकर यदि धन की इच्छा करे तो राजा से याचना करे, यदि राजा धन न दे तो इसका त्याग कर दे।

अकृतं च कृतात्क्षेत्राद् गौरजाविकमेव च ।
हिरण्यं धान्यमन्नं च पूर्वं पूर्वमदोषवत् ॥११४॥

जोते बोये हुये खेत से बिना जोता बोया खेत प्रतिग्रह के लिये अच्छा होता है। इसी प्रकार गौ, बकरी, भेड़, सोना, धान और अन्न इसमें पूर्व-पूर्व (अर्थात् एक दूसरे से पहला) दोषहीन है।

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः ।
प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥११५॥

दाय (पूर्वजों की सम्पत्ति), लाभ (गड़े हुए धन की प्राप्ति), क्रय (मोल लेना), जय (जीतकर लेने से), प्रयोग (ब्याज पर द्रव्य देने से), कर्मयोग (खेती और वाणिज्य) ये सात रास्ते धर्म मार्ग से धन के हैं।

विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः ।
धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः ॥११६॥

विद्या (जीविकोपयोगी विद्या), शिल्प (कारीगरी), वेतन लेकर काम करना, सेवा, गोरक्षा, रोजगार, खेती, सन्तोष, भिक्षा और ब्याज का व्यापार ये दश जीवनोपयोगी व्यापार हैं।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वृद्धिं नैव प्रयोजयेत् ।
कामं तु खलु धर्मार्थं दद्यात्पापीयसेऽल्पिकाम् ॥११७॥

ब्राह्मण या क्षत्रिय ब्याज न लें, किन्तु धर्म कार्य के लिये यदि पापी भी रुपया चाहे तो उसे थोड़े ब्याज पर ऋण दे देना चाहिये।

चतुर्थमाददानोऽपि क्षत्रियो भागमापदि ।
प्रजा रक्षन्परं शक्त्या किल्बिषात्प्रतिमुच्यते ॥११८॥

आपत्तिकाल में उपज का चौथा भाग भी लेकर राजा यथाशक्ति प्रजा की रक्षा करे तो वह अधिक कर लगाने के पाप से मुक्त हो जाता है।

स्वधर्मो विजयस्तस्य नाहवे स्यात्पराङ्मुखः ।
शस्त्रेण वैश्यान्रक्षित्वा धर्म्यमाहारयेत् बलिम् ॥११९॥

राजा का धर्म युद्ध में विजय पाना ही है इसलिये वह युद्ध से पराङ्मुख न हो। शस्त्र से वैश्यों की रक्षा करके धर्मानुकूल प्रजा से बलि लेवे।

धान्येऽष्टमं विशां शुल्कं विंशं कार्षापणावरम्।
कर्मोपकरणाः शूद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा॥१२०॥

(आपत्ति काल में) वैश्यों से धान्य (अन्न) का आठवाँ भाग और कार्षापण पर्यन्त द्रव्य का बीसवाँ भाग कर लेना श्रेष्ठ है। शूद्र, कारीगर, शिल्पी (जो कि अनेक प्रकार के चित्रकारी वगैरह करते हैं) आदि से काम लेना चाहिये।

शूद्रस्तु वृत्तिमाकाङ्क्षन्क्षत्रमाराधयेद्यदि।
धनिनं वाप्युपाराध्य वैश्यं शूद्रो जिजीविषेत्॥१२१॥

ब्राह्मण की सेवा करते हुये यदि शूद्र का जीवन निर्वाह न हो तो क्षत्रिय की सेवा करे यदि उससे भी पेट न भरे तो धनिक वैश्य की सेवा कर जीवन निर्वाह करे।

स्वर्गार्थमुभयार्थं वा विप्रानाराधयेत्तु सः।
जातब्राह्मणशब्दस्य सा ह्यस्य कृतकृत्यता॥१२२॥

वह (शूद्र) स्वर्ग के लिये या दोनों (स्वार्थ और परमार्थ) के लिये ब्राह्मणों की ही सेवा करे। इस शूद्र की (ब्राह्मण की सेवा करता है) ऐसी प्रसिद्धि होना ही उसके लिये कृतकृत्यता है।

विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते।
यततोऽन्यद्धि कुरुते तद्भवत्यस्य निष्फलम्॥१२३॥

ब्राह्मण की सेवा करना ही शूद्र का विशिष्ट कर्म कहा गया है। इस कार्य से भिन्न वह जो कुछ कार्य करता है वह उसके लिये निष्फल होता है।

प्रकल्प्या तस्य तैर्वृत्तिः स्वकुटुम्बाद्यथार्हतः।
शक्तिं चावेक्ष्य दाक्ष्यं च भृत्यानां च परिग्रहम्॥१२४॥

उस शूद्र की (जो सेवा कर रहा है) शक्ति, कार्यकुशलता और भृत्यों का परिग्रह (उसके कुटुम्ब के भरण-पोषण का खर्च) देखकर ब्राह्मण अपने कुटुम्ब से यथार्थ प्रबन्ध करे।

उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च।
पुलाकाश्चैव धन्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदाः॥१२५॥

उस शूद्र को जूठा अन्न, पुराना वस्त्र, सारहीन अन्न, पुराना ओढ़ना और बिछौना देना चाहिए।

न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति।
नास्याविकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम् ॥१२६॥

शूद्र को पातक नहीं होता (दूषित पदार्थ खाने से), उसको कोई संस्कार भी नहीं है, धर्म कार्य में उसका कोई अधिकार भी नहीं है और न तो धर्मकार्य से निषेध ही है।

धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः।
मन्त्रवर्ज्यं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ॥१२७॥

जो धर्म में इच्छा रखने वाले हैं, धर्मज्ञ हैं, सज्जनों की वृत्ति से रहते हैं मन्त्रहीन धर्माचरणों (पंच महायज्ञादिकों के करने से) को करने से वे दोषी नहीं होते, किन्तु प्रशंसा को ही पाते हैं।

यथायथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः।
तथा तथेमं चामुं च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः ॥१२८॥

जैसे-जैसे वह अनिन्दक (दूसरे की निन्दा न करने वाला) होकर सज्जन वृत्ति को करते रहते हैं, वैसे-वैसे वह इस लोक में कीर्ति और परलोक में स्वर्ग को पाता है।

शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसञ्चयः।
शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेन बाधते ॥१२९॥

धन सञ्चय करने में समर्थ होता हुआ भी शूद्र धन का संग्रह न करे। क्योंकि धन को पाकर शूद्र ब्राह्मण को ही बाधता (सताता) है।

एते चतुर्णां वर्णानामापद्धर्माः प्रकीर्तिताः।
यान्सम्यगनुतिष्ठन्तो व्रजन्ति परमां गतिम् ॥१३०॥

यह चारों वर्णों के आपत्काल के कर्म को कहा। जिसका सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान करके सभी वर्ण वाले परम गति को पाते हैं।

एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः।
अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधिं शुभम् ॥१३१॥

यह चारों वर्णों की सम्पूर्ण धर्म विधि को कहा। अब इसके बाद प्रायश्चित की विधि को कहूँगा।

इति दशम अध्याय समाप्त।

●

एकादशोऽध्यायः (११)

सान्तानिकं यक्ष्यमाणमध्वगं सर्ववेदसम् ।
गुर्वर्थं पितृमात्रर्थं स्वाध्यायार्थ्युपतापिनः ॥१॥
नैवतान्स्नातकान्विद्याद् ब्राह्मणान्धर्मभिक्षुकान् ।
निःस्वेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्याविशेषतः ॥२॥

सन्तान की इच्छा वाला, यज्ञ करने की इच्छा वाला, पथिक (राहगीर), सर्वस्व दान देकर यज्ञ करने वाला, गुरु (विद्या गुरु) और माता पिता के भरण पोषण के लिये धन चाहने वाला, वेद पढ़ने वाला और रोगी मनुष्य धर्म भिक्षुक ब्राह्मण स्नातक हैं (अर्थात् इनको स्नातक जाने) इन निर्धनों को विद्या और इनकी योग्यता के अनुसार धन देना चाहिये।

एतेभ्यो हि द्विजाग्र्येभ्यो देयमन्नं सदक्षिणम् ।
इतरेभ्यो बहिर्वेदि कृतान्नं देयमुच्यते ॥३॥

इन द्विजों में श्रेष्ठ ब्राह्मणों को दक्षिणा के सहित अन्न देना चाहिये। इनसे भिन्न ब्राह्मणों को वेदी के बाहर सिद्ध अन्न को देना चाहिये।

सर्वरत्नानि राजा तु यथार्हं प्रतिपादयेत् ।
ब्राह्मणान्वेदविदुषो यज्ञार्थं चैव दक्षिणाम् ॥४॥

राजा यज्ञ के लिये वेद के जानने वाले ब्राह्मण को यथायोग्य सभी रत्न और दक्षिणा देवे।

कृतदारोऽपरान्दारान्भिक्षित्वा योऽधिगच्छति ।
रतिमात्रं फलं तस्य द्रव्यदातुस्तु सन्ततिः ॥५॥

जो विवाह करके फिर भिक्षा माँगकर दूसरा विवाह करता है उसे रति मात्र फल होता है। उसकी जो सन्तति वह द्रव्य देने वाले की होती है।

धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत् ।
वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते ॥६॥

जो पुत्र कलत्रादि से अशक्त वेदज्ञ ब्राह्मणों को धन देता है वह मरने के बाद स्वर्ग को जाता है।

यस्य त्रिवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये ।
अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ॥७॥

जिसके पास अपने भृत्यों की वृत्ति के लिये तीन वर्ष या अधिक दिनों के भरण पोषण के लिये धन हो वह सोम यज्ञ कर सकता है।

अतः स्वल्पीयसि द्रव्ये यः सोमं पिबति द्विजः ।
स पीतसोमपूर्वोऽपि न तस्याप्नोति तत्फलम् ॥८॥

इससे अल्प द्रव्य में जो द्विज सोमयज्ञ को करता है वह पहले किये हुये सोम के फल को नहीं पाता है।

शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखवजीविनि ।
मध्वापातो विषास्वादः स धर्मप्रतिरूपकः ॥९॥

जो दाता (दान देने वाला) अपने आत्मीयों को दुःखी देखता हुआ दूसरों को दान देने में समर्थ होता हैं, उसका वह दान धर्म का वह वास्तव रूप नहीं होता है। मधु के सदृश दीखने पर भी परिणाम में विष के सदृश होता है।

भृत्यानामुपरोधेन यत्करोत्यौर्ध्वदेहिकम् ।
तद्भवत्यसुखोदर्कं जीवतश्च मृतस्य च ॥१०॥
(वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या शिशुः सुतः ।
अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत् ॥१॥)

जो भरण पोषण पाने योग्य लोगों को कष्ट देकर अपने परलोकार्थ दानादि करता है उसका यह कर्म इहलोक और परलोक दोनों में कहीं भी सुख का हेतु नहीं होता है।

(वृद्ध माता-पिता, पतिव्रता स्त्री, पुत्र, बालक इनका अनेक अकार्य करके भी पालन-पोषण करें, ऐसा मनु ने कहा है।)

यज्ञश्चेत्प्रतिरुद्धः स्यादेकेनाङ्गेन यज्वनः ।
ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि ॥११॥
यो वैश्यः स्याद् बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः ।
कुटुम्बात्तस्य तद् द्रव्यमाहरेद्यज्ञ सिद्धये ॥१२॥

धार्मिक राजा के रहते यज्ञ करने वालों का विशेषकर ब्राह्मण का यज्ञ यदि एक अङ्ग से अपूर्ण रह जाय तो जिस वैश्य के यहाँ बहुत पशु हों और जो यश से हीन हो और सोम न किया हो तो उस वैश्य के कुटुम्ब से उसका धन यज्ञ सिद्धि के लिये ले लेवें।

आहरेत्त्रीणि वा द्वे वा कामं शूद्रस्य वेश्मनः ।
न हि शूद्रस्य यज्ञेषु कश्चिदस्ति परिग्रहः ॥१३॥

यदि यज्ञ के दो या तीन अङ्ग शेष रह जायँ तो उसके पूर्ति के लिये शूद्र

के घर से बलपूर्वक धन ले आवे, क्योंकि शूद्र को यज्ञ में किसी तरह का सम्बन्ध नहीं है।

योऽनाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सहस्रगुः ।
तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन् ॥ १४॥

जो एक सौ गाय रखकर अग्निहोत्र न करता हो, और जो एक हजार गौ रखकर यज्ञ न करता हो, उसके घर से भी बिना विचार के ही धन यज्ञ पूर्त्ति के लिये ले लेवे।

आदाननित्याच्चादातुराहरेदप्रयच्छतः ।
तथा यशोऽस्य प्रथते धर्मश्चैव प्रवर्धते ॥ १५॥

यज्ञ के लिये धन माँगने पर भी जो न देवे उसका धन हरण कर लेना चाहिये। इससे हरण करने वाले को यश, धर्म दोनों की वृद्धि होती है।

तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनश्नता ।
अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥ १६॥

जो छः शाम उपवास कर चुका हो उसे सातवें उपवास को (याने चौथे दिन भोजन करने के लिये भोज्य पदार्थ, यदि हीन कर्म करने वाले मनुष्य के घर से चुरा लावे तो उसे इसका दोष नहीं होता है।

खलात्क्षेत्रादगाराद्वा यतो वाप्युपलभ्यते ।
आख्यातव्यं तु तत्तस्मै पृच्छते यदि पृच्छति ॥ १७॥

खलिहान (जहाँ अन्न बैलों से दाँकर निकाला जाता है) से, खेत से, घर से या अन्य किसी स्थान से अन्न चुराकर ले आवे तो यदि उस अन्न का स्वामी पूछे तो उसे अन्न चुराने का कारण ठीक-ठीक बतला देना चाहिये।

ब्राह्मणस्वं न हर्तव्यं क्षत्रियेण कदाचन ।
दस्युनिष्क्रिययोस्तु स्वमजीवन्हर्तुमर्हति ॥ १८॥

क्षत्रिय कभी भी ब्राह्मण के धन का हरण न करे। यदि ब्राह्मण क्षत्रिय अपने धर्मादि क्रियाओं से च्युत हो गये हों और निषिद्ध कर्म करते हों तो उनके धन को ले सकते हैं।

योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः संप्रयच्छति ।
स कृत्वा प्लवमात्मानं संतारयति तावुभौ ॥ १९॥

जो मनुष्य दुष्टों से धन लेकर सज्जनों को देता है वह अपने को नौका बनाकर उन दोनों को तार (दुःख से पार कर) देता है।

यद्धनं यज्ञशीलानां देवस्वं तद्विदुर्बुधाः ।।
अयज्वनां तु यद्वित्तमासुरस्वं तदुच्यते ॥२०॥

यज्ञ करने वालों का जो धन है उसको पंडित लोग देवधन और यज्ञ नहीं करने वालों के धन को आसुर (राक्षस) धन कहते हैं।

न तस्मिन्धारयेद्दण्डं धार्मिकः पृथिवीपतिः ।
क्षत्रियस्य हि बलिश्याद् ब्राह्मणः सीदति क्षुधा ॥२१॥

इसलिये इसमें (अर्थात् इस धन के चोरी आदि जाने पर चोरों को) धार्मिक राजा दंड न दे, क्योंकि राजा के ही मूर्खता से ब्राह्मण भूख से कष्ट पाते हैं।

तस्य भृत्यजनं ज्ञात्वा स्वकुटुम्बान्महीपतिः ।
श्रुतशीले च विज्ञाय वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् ॥२२॥

उस ब्राह्मण के परिवार उसकी विद्या और शील स्वाभाव को जान कर राजा अपने कुटुम्ब से उसकी धार्मिक वृत्ति कर दे।

कल्पयित्वास्य वृत्तिं च रक्षेदेनं समन्ततः ।
राजा हि धर्म षड्भागं तस्मात्प्राप्नोति रक्षितात् ॥२३॥

इसकी वृत्ति निश्चित करके सब प्रकार से इस ब्राह्मण की रक्षा करें। क्योंकि इसकी रक्षा करने से उसके कर्म का छठाँ भाग राजा को मिलता है।

न यज्ञार्थं धनं शूद्राद्विप्रो भिक्षेत कर्हिचित् ।
यजमानो हि भिक्षित्वा चण्डालः प्रेत्य जायते ॥२४॥

यज्ञ करने के लिये ब्राह्मण कभी भी शूद्र से भिक्षा न माँगे। क्योंकि शूद्र से भिक्षा माँगने वाला ब्राह्मण यज्ञकर्त्ता मरने पर चांडाल होता है।

यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यो न सर्वं प्रयच्छति ।
स याति भासतां विप्रः काकतां वा शतं समाः ॥२५॥

यज्ञ के लिए दान माँगकर जो ब्राह्मण सभी द्रव्य यज्ञ में नहीं लगा देता है वह ब्राह्मण सौ वर्ष तक भासपक्षी या कौआ होता है।

देवस्वं ब्राह्मणस्वं वा लोभेनोपहिनस्ति यः ।
स पापात्मा परे लोके गृध्रोच्छिष्टेन जीवति ॥२६॥

जो लोभ से देवता के निमित्त अर्पण किये हुये धन को या ब्राह्मण के धन को अपहरण करता है वह पापात्मा मरने के बाद परलोक में गिद्ध के जूठे से जीता है।

इष्टिं वैश्वानरीं नित्यं निर्वपेदब्दपर्यये ।
क्लृप्तानां पशुसोमानां निष्कृत्यर्थमसम्भवे ॥ २७॥

एक वर्ष बीत जाने पर यदि दूसरे वर्ष के अन्दर पशु सोमयज्ञ न कर सके तो उस दोष के शान्त्यर्थ शूद्रादिकों से धन लेकर वैश्वानर यज्ञ अवश्य करे।

आपत्कल्पेन यो धर्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः ।
स नाप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम् ॥ २८॥

जो द्विज निरापद स्थिति में आपत्कालीन धर्म का अनुष्ठान करता है। वह परलोक में उसका फल नहीं पाता है यह ऋषियों ने विचार कर कहा है।

विश्वैश्च देवैः साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ।
आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधेः प्रतिनिधिः कृतः ॥ २९॥

विश्वेदेव, साध्यगण और मृत्यु से डरे हुए ब्राह्मणों और महर्षियों ने आपत्काल में इस वैश्वानर यज्ञ को सोमयज्ञ का प्रतिनिधि कहा है।

प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते ।
न सांपरायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ॥ ३०॥

जो प्रथमकल्प (दान कर्मादि) के करने में समर्थ होता हुआ भी आपत्कालीन विधि से कर्मादि करता है, उस दुर्बुद्धि को उस कर्म का पाप नाश करने वाला पारलौकिक फल नहीं मिलता है।

न ब्राह्मणोऽवेदयेत किञ्चिद्राजनि धर्मवित् ।
स्ववीर्येणैव ताञ्छिष्यान्मानवानपकारिणः ॥ ३१॥

धर्मात्मा ब्राह्मण राजा से किसी के विषय में कुछ न कहे उन अपकारियों को अपने सामर्थ्य से ही दंड दे।

स्ववीर्याद्राजवीर्याच्च स्ववीर्यं बलवत्तरम् ।
तस्मात्स्वेनैव वीर्येण निगृह्णीयादरीन्द्विजः ॥ ३२॥

अपनी ताकत और राजा की ताकत दोनों में अपना ही सामर्थ्य बली होता है। इसलिए ब्राह्मण अपने ही शक्ति से शत्रुओं का नाश करे।

श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीः कुर्यादित्यविचारयन् ।
वाक्शस्त्रं वै ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन् द्विजः ॥ ३३॥

अथर्ववेद में अङ्गिरा से कही हुई (दुष्टों के नाशार्थ) श्रुति को बिना विचार किये करे। ब्राह्मण की वाणी ही शस्त्र है, उसी से शत्रुओं का नाश करे।

क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापदमात्मनः ।
(तद्धि कुर्वन्यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ।)
धनेन वैश्यशूद्रौ तु जपहोमैर्द्विजोत्तमः ॥ ३४॥

अपने विपत्ति को क्षत्रिय अपने बाहुबल द्वारा पार करे। वैश्य और शूद्र धन से और ब्राह्मण जप और होम से अपने विपत्ति को हटावे।

विधाता शासिता वक्ता मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।
तस्मै नाकुशलं ब्रूयान्न शुष्कां गिरमीरयेत् ॥ ३५॥

विधाता (शास्त्रोक्त कर्मों को करने वाला), शासिता (शिष्यादिक शासन करने वाला), वक्ता (प्रायश्चित्तादि का आदेश देने वाला), मैत्र (सबसे मित्रता) करने वाला ब्राह्मण कहा जाता है। उस ब्राह्मण को किसी को भी अनिष्ट वचन या रूखा वचन नहीं कहना चाहिये।

न वै कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः ।
होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तो नासंस्कृतस्तथा ॥ ३६॥

कन्या, युवा स्त्री, थोड़े पढ़े लिखे, मूर्ख, पीड़ित और जिनका यज्ञोपवीतादि नहीं हुआ है वे अग्निहोत्र के (होता) हवनीय कार्य को न करें।

नरके हि पतन्त्येते जुह्वन्तः स च यस्य तत् ।
तस्माद्वैतानकुशलो होता स्याद्वेदपारगः ॥ ३७॥

यदि ये लोग हवन करें तो नरक में जाते हैं और जिसके द्वारा कराते हैं वह भी नरक में जाता है। इसलिये जो वैदिक कृत्यों में कुशल और वेद का पारङ्गत हो उसी को होता होना चाहिये।

प्राजापत्यमदत्त्वाश्वमग्न्याधेयस्य दक्षिणाम् ।
अनाहिताग्निर्भवति ब्राह्मणो विभवे सति ॥ ३८॥

धनिक होता हुआ भी ब्राह्मण अग्निहोत्र को दक्षिणा में प्रजापति की दक्षिणा अश्व न देकर यदि अग्न्याधान करे तो अग्न्याधान न होने के बराबर है।

पुण्यान्यन्यानि कुर्वीत श्रद्धानो जितेन्द्रियः ।
न त्वल्पदक्षिणैर्यज्ञैर्यजेतेह कथञ्चन ॥ ३९॥

श्रद्धा से जितेन्द्रिय होकर अन्य पुण्य कार्यों को करे किन्तु कभी भी अल्प दक्षिणा देकर यज्ञ न करना चाहिये।

इन्द्रियाणि यशः स्वर्गमायुः कीर्तिं प्रजाः पशून् ।
हन्त्यल्पदक्षिणो यज्ञस्तस्मान्नाल्पधनो यजेत् ॥ ४०॥

यज्ञ में थोड़ी दक्षिणा देने से इन्द्रिय, यश, स्वर्ग, आयु, कीर्ति, प्रजा और पशुओं का नाश होता है इसलिये अल्प दक्षिणा देकर यज्ञ न करे।

(अन्नहीनो दहेद्राष्ट्रं मन्त्रहीनस्तु ऋत्विजः ।
दीक्षितं दक्षिणाहीनो नास्ति यज्ञसमो रिपुः ॥३॥)

अन्न हीन (अर्थात् जिस यज्ञ में अन्न न दिया जाय) यज्ञ राष्ट्र का, मन्त्रहीन यज्ञ ऋत्विज (ब्राह्मणों का) और दक्षिणा से हीन यज्ञ यजमान का नाश करता है, यज्ञ के बराबर कोई शत्रु नहीं है।

अग्निहोत्र्यपविध्याग्नीन् ब्राह्मणः कामकारतः ।
चान्द्रायणं चरेन्मासं वीरहत्यासमं हि तत् ॥४१॥

ब्राह्मण अपनी इच्छा से यदि प्रातः और सायंकालिक अग्निहोत्र के हवन को न करे तो एक मास तक चान्द्रायण व्रत करे, क्योंकि अग्निहोत्र का हवन न करना पुत्र हत्या के समान है।

ये शूद्रादधिगम्यार्थमग्निहोत्रमुपासते ।
ऋत्विजस्ते हि शूद्राणां ब्रह्मवादिषु गर्हिताः ॥४२॥

जो शूद्रों से धन लेकर अग्निहोत्र करते हैं वे शूद्रों के ही ऋत्विज (ब्राह्मण) होते हैं और वैदिकों में वे निन्दित होते हैं।

तेषां सततमज्ञानां वृषलाग्न्युपसेविनाम् ।
पदा मस्तकमाक्रम्य दाता दुर्गाणि सन्तरेत् ॥४३॥

निरन्तर उन मूर्ख (जो कि शूद्रों के धन से अग्निहोत्र करते हैं), ब्राह्मणों के शिर पर पैर रखकर वह शूद्रदाता संसार के सभी दुःखों को पार करता है।

अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥४४॥

शास्त्र से विहित कर्म को न करने वाला और निन्दित कार्यों को करने वाला तथा इन्द्रियों को विषयों में आसक्त करने वाला मनुष्य प्रायश्चित्ती होता है।

अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः ।
कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥४५॥

अनिच्छा से किये हुये पाप का प्रायश्चित होता है ऐसा पंडितों ने कहा है। और इच्छा से किये हुये पाप का प्रायश्चित श्रुति के अनुसार होता है ऐसा किसी का मत है।

अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुद्ध्यति ।
कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥४६॥

अनिच्छा से किया हुआ पाप वेदाभ्यास से छूट जाता है और जो इच्छा से जानकर पाप किया जाता है उसका प्रायश्चित्त अनेक प्रकार से अलग-अलग होता है।

प्रायश्चित्तीयतां प्राप्यं दैवात्पूर्वकृतेन वा ।
न संसर्गं व्रजेत्सद्भिः प्रायश्चित्तऽकृते द्विजः ॥४७॥
(प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते ।
तपोनिश्चय संयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् ॥४॥)

प्रायश्चित्ती होने की अवस्था में चाहे वह इस जन्म के पाप से अथवा पूर्वजन्मार्जित दुर्दैव से हो प्रायश्चित्त न करने वाला द्विज सज्जनों से संसर्ग न करे।

(प्रायः नाम तप का है और चित्त निश्चय को कहते हैं, तप और निश्चय से युक्त होकर प्रायश्चित्त होता है।)

इह दुश्चरितैः केचित्केचित्पूर्वकृतैस्तथा ।
प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो नरा रूपविपर्ययम् ॥४८॥

कोई दुरात्मा इस जन्म के दुश्चरित्रों से और कोई पूर्व जन्म के किये हुये पापों से विकृत रूप को पाते हैं।

सुवर्णचौरः कौनख्यं सुरापः श्यामदन्तताम् ।
ब्रह्महा क्षयरोगित्वं दौश्चर्म्यं गुरुतल्पगः ॥४९॥
पिशुनः पौतिनासिक्यं सूचकः पूतिवक्त्रताम् ।
धान्यचौरोऽङ्गहीनत्वमातिरेक्यं तु मिश्रकः ॥५०॥
अन्नहर्ताऽऽमयावित्वं मौक्यं वागपहारकः ।
वस्त्रापहारकः श्वैत्र्यं पङ्गुतामश्वहारकः ॥५१॥
(दीपहर्ता भवेदन्धः काणो निर्वापको भवेत् ।
हिंसया व्याधिभूयस्त्वमरोगित्वमहिंसया ॥५॥)

सोना चुराने वाले के नह (नाखून) खराब होते हैं। शराब (मदिरा) पीने वाले का दाँत काला हो जाता है। ब्रह्मघात करने वाले को क्षयरोग होता है। गुरुपत्नी से व्यभिचार करने वाले की जननेन्द्रिय के ऊपर का चमड़ा खराब हो जाता है। चुगली करने वाले की नाक से और झूठे निन्दा करने वाले के मुख से दुर्गन्ध अगती है। धान्य चुराने वाला अङ्गहीन होता है। मिलावट

करने वाले को कोई अङ्ग अधिक हो जाता है। अन्न (भोजन का) हरण करने वाले को मन्दाग्नि होती है। विद्या चुराने वाला मूक (गूँगा) होता है। वस्त्र चुराने वाले को सफेद कोढ़ और घोड़ा चुराने वाला पंगुल होता है। (दीपक चुराने वाला अंधा और दीपक बुझाने वाला बहरा, हिंसा करने वाला रोगी और हिंसा न करने वाला निरोगी होता है।)

एवं कर्मविशेषेण जायन्ते सद्विगर्हिताः ।
जडमूकान्धबधिरा विकृताकृतयस्तथा ॥५२॥

इस प्रकार कर्म विशेष के कारण मनुष्य जड़, मूक, अन्धा, बहिरा और विकृत रूप वाले और सज्जनों में निन्दित होते हैं।

चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये ।
निन्द्यैर्हि लक्षणैर्युक्ता जायन्तेऽनिष्कृतैनसः ॥५३॥

इसलिए शरीर शुद्ध्यर्थ हमेशा प्रायश्चित्त करना चाहिये। जो लोग प्रायश्चित्त के द्वारा पापों को नाश नहीं करते वे कुलक्षण उत्पन्न होते हैं।

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः ।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥५४॥

ब्रह्महत्या, मदिरापान, चोरी करना, गुरुपत्नी गमन, ये महापातक हैं, इनके साथ संसर्ग भी महापातक होता है।

अनृतं च समुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम् ।
गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया ॥५५॥

अपनी उन्नति के लिए झूठ बोलना, राजा के पास चुगली करना, और गुरु की झूठी ही निन्दा करना, ये सभी कर्म ब्रह्महत्या के बराबर हैं।

ब्रह्मोज्झता वेदनिन्दा कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः ।
गर्हितानाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट् ॥५६॥

पढ़े हुए वेद को अभ्यास न करके भुलवा देना, वेद की निन्दा, झूठी गवाही देना, मित्र का वध करना, गर्हित और अखाद्य वस्तुओं का खाना, ये छः कर्म मदिरापान के समान हैं।

निक्षेपस्यापहरणं नराश्वरजतस्य च ।
भूमिवज्रमणीनां च रुक्मस्तेयसमं स्मृतम् ॥५७॥

किसी के धरोहर का अपहरण करना और मनुष्य, घोड़ा, चाँदी, भूमि, हीरा और मणि इनका अपहरण करना सोने के चोरी के बराबर है।

रेतः सेकः स्वयोनीषुः कुमारीष्वन्त्यजासु च।
सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरुतल्पसमं विदुः ॥५८॥

सगी बहिन, कुमारी, चाण्डाल की स्त्री, और पुत्र की स्त्री इनके साथ व्यभिचार करना ये गुरुपत्नी गमन के बराबर है।

गोवधोऽयाज्यसंयाज्यपारदार्यात्मविक्रयाः ।
गुरुमातृपितृत्यागः स्वाध्यायाग्न्योः सुतस्य च ॥५९॥
परिवित्तितानुजेऽनूढे परिवेदनमेव च।
तयोर्दानं च कन्यायास्तयोरेव च याजनम् ॥६०॥
कन्यायां दूषणं चैव वार्धुष्यं व्रतलोपनम्।
तडागारामदाराणामपत्यस्य च विक्रयः ॥६१॥
व्रात्यता बान्धवत्यागो भृत्याध्यापनमेव च।
भृत्या चाध्ययनादानमपण्यानां च विक्रयः ॥६२॥
सर्वाकरेष्वधीकारो महायन्त्रप्रवर्तनम्।
हिंसौषधीनां स्त्र्याजीवोऽभिचारो मूलकर्म च ॥६३॥
इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामवपातनम्।
आत्मार्थं च क्रियारम्भो निन्दितान्नदनं तथा ॥६४॥
अनाहिताग्निता स्थेयमृणानामनपक्रिया।
असच्छास्त्राधिगमनं कौशीलव्यस्य च क्रिया ॥६५॥
धान्यकुप्यपशुस्तेयं मद्यपस्त्रीनिषेवणम्।
स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो नास्तिक्यं चोपपातकम् ॥६६॥

गौ का वध करना, जाति और कर्म से दूषित मनुष्यों का यज्ञ कराना, परस्त्रीगमन, अपने को बेचना, गुरु. माता, पिता की सेवा न करना, वेदाध्ययन न करना, स्मार्त अग्नि का परित्याग, सन्तान का भरण-पोषण न करना, परिवित्ति (विवाहित छोटे भाई का अविवाहित बड़ा भाई) और परिवेत्ता विवाहित छोटा भाई इन दोनों को कन्या देना, इन दोनों का यज्ञ कराना, कन्या को दूषित करना, सूद पर रुपया लगाना, ब्रह्मचर्य व्रत का लोप, तालाब, बाग, स्त्री और सन्तान का बेचना, व्रात्यता, बन्धुत्याग, वेतन लेकर शास्त्र पढ़ाना, नियत वृत्ति-प्रदान पूर्वक पढ़ाना, जो वस्तु बेचने योग्य न हो उसको बेचना, सब प्रकार की खानों में अधिकारी होना, बड़ी-

बड़ी (यन्त्रों) कलें बनाना, औषधियों की जड़ खोदना, स्त्री के व्यभिचार से जीविका चलाना, मन्त्र-यन्त्र के द्वारा मारण-उच्चाटन आदि, ईंधन के लिये हरे पेड़ों को कटाना, अपने लिए ही रसोई बनाना, निन्दित अन्न खाना, अग्निहोत्र न कराना, किसी की चीज चुराना, ऋण न चुकाना, वेदोक्त शास्त्रों का न पढ़ाना, अभिनय करना, धान्य, ताँबा और पशु चुराना, मद्य पीने वाली स्त्री का सेवन करना, स्त्री, शूद्र, वैश्य और क्षत्रिय का वध तथा नास्तिकता, ये सब उपपातक हैं।

ब्राह्मणस्य रुजः कृत्वा घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः ।
जैह्म्यं च मैथुनं पुंसि जातिभ्रंशकरं स्मृतम् ॥ ६७ ॥

ब्राह्मण को लाठी या हाथ से पीड़ा पहुँचाना, अत्यन्त दुर्गन्ध युक्त (लहसुन, विष्टा आदि) और मदिरा का सूँघना, दुष्टता और पुरुष के साथ मैथुन करना ये सभी जातिभ्रंशकर पाप हैं।

खराश्वोष्ट्रमृगेभानामजाविकवधस्तथा ।
संकरीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च ॥ ६८ ॥

गदहा (गधा), घोड़ा, ऊँट, मृग, हाथी, बकरा, भेड़, मछली, साँप और भैंस इनका वध करना संकरीकरण पाप हैं।

निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम् ।
अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम् ॥ ६९ ॥

निन्दितों से धन लेना, रोजगार करना, शूद्रों की सेवा करना और झूठ बोलना ये अपात्री-करण पाप हैं।

कृमिकीटवयोहत्या मद्यानुगतभोजनम् ।
फलैधः कुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम् ॥ ७० ॥

कीड़ा, कीट (चिंउटी इत्यादि) और पक्षियों की हत्या करना, मदिरा के साथ लाई हुई वस्तुओं का भोजन करना, फल, लकड़ी, फूल की चोरी और अधैर्य (असंतोष), मलावह (मलिनीकरण) पाप हैं।

एतान्येनांसि सर्वाणि यथोक्तानि पृथक्पृथक् ।
यैर्यैर्व्रतैरपोह्यन्ते तानि सम्यङ्निबोधत ॥ ७१ ॥

ये पूर्वोक्त पाप जो अलग-अलग कहे गये हैं। वे जिन-जिन व्रतों से नष्ट होते हैं। उन्हें अच्छी प्रकार से सुनो।

ब्रह्महा द्वादश समाः कुटीं कृत्वा वने वसेत्।
भैक्षाश्यात्मविशुद्ध्यर्थं कृत्वा शवशिरोध्वजम् ॥७२॥

ब्रह्महत्या वाला, बारह वर्ष तक जंगल में कुटी बनाकर बसे और उक्त पाप से छुटकारा पाने के लिये हाथ में मुर्दे का मुण्ड लेकर भिक्षा माँगे और उसी भिक्षा से जीवन निर्वाह करे।

लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्याद्विदुषामिच्छयात्मनः।
प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः ॥७३॥

अपनी इच्छा से शस्त्रधारी विद्वानों का अपने को लक्ष्य (निसाना) बनावे अथवा जलती हुई अग्नि में सिर नीचा करके उसमें अपने को तीन बार झोंके।

यजेत वाश्वमेधेन स्वर्जिता गोसवेन वा।
अभिजिद्विश्वजिद्भ्यां च त्रिवृताग्निष्टुताऽपि वा ॥७४॥

अश्वमेध, स्वर्जित, गोसव, अभिजित्, विश्वजित्, अथवा तीन बार अग्निष्टोम यज्ञ करे।

जपन्वान्यतमं वेदं योजनानां शतं व्रजेत्।
ब्रह्महत्यापनोदाय मितभुङ्नियतेन्द्रियः ॥७५॥

अल्पाहारी और जितेन्द्रिय होकर वेदों में से किसी वेद का जप करता हुआ ब्रह्महत्या जनति पाप को दूर करने के लिए एक सौ योजन तक जाय।

सर्वस्वं वेदविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत्।
धनं वा जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छदम् ॥७६॥

अथवा वेद के विद्वान् ब्राह्मण को अपना सर्वस्व दान कर दे अथवा उनके जीवनोपयोगी आवश्यक धन गृह परिच्छद के साथ दे।

हविष्यभुग्वाऽनुसरेत्प्रतिस्त्रोतः सरस्वतीम्।
जपेद्वा नियताहारस्त्रिर्वै वेदस्य संहिताम् ॥७७॥

अथवा हविष्य भोजन करता हुआ सरस्वती नदी का स्त्रोत जहाँ तक गया हो वहाँ तक जाय। अथवा नियत आहार करता हुआ तीन बार वेद संहिता का पारायण पाठ करे।

कृतवापनो निसवेद् ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा।
आश्रमे वृक्षमूले वा गोब्राह्मणहिते रतः ॥७८॥

अथवा शिर का बाल बनवाकर गौ, ब्राह्मण का उपकार करता हुआ ग्राम के बाहर गोशाला में कुटी बनाकर अथवा पेड़ के नीचे बास करे।

ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सद्यः प्राणान्परित्यजेत् ।
मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोर्ब्राह्मणस्य च ॥७९॥

अथवा ब्राह्मण की रक्षा में या गौ की रक्षा में शीघ्र ही प्राण का त्याग कर दे। क्योंकि गो, ब्राह्मण की रक्षा करने वाला ब्रह्महत्या से छूट जाता है।

त्रिवारं प्रतिरोद्धा वा सर्वस्वमवजित्य वा ।
विप्रस्य तन्निमित्ते वा प्राणालाभे विमुच्यते ॥८०॥

अथवा ब्राह्मण के धन को तीन बार (डाकुओं या चोरों से) रोकने वाला या सर्वस्व को जीतकर ब्राह्मण को अर्पण करने वाला अथवा उसके निमित्त प्राण देने वाला ब्रह्महत्या से छूट जाता है।

एवं दृढव्रतो नित्यं ब्रह्मचारी समाहितः ।
समाप्ते द्वादशे वर्षे ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥८१॥

इस प्रकार दृढव्रत एकाग्रचित्त और ब्रह्मचारी होकर सर्वदा नियम पूर्वक बारह वर्ष तक रहने वाला ब्रह्महत्या के पाप से छूट जाता है।

शिष्ट्वा वा भूमिदेवानां नरदेवसमागमे ।
स्वमेनोऽवभृथस्नातो हयमेधे विमुच्यते ॥८२॥

अश्वमेध यज्ञ में ब्राह्मण ऋत्विज और यज्ञकर्त्ता राजा के सामने अपनी ब्रह्महत्या के व्यवहार को कहके अवभृथ स्नान करने से ब्रह्महत्या के पाप से छूट जाता है।

धर्मस्य ब्राह्मणो मूलमग्रं राजन्य उच्यते ।
तस्मात्समागमे तेषामेनो विख्याप्य शुद्ध्यति ॥८३॥

धर्म का मूल ब्राह्मण है और क्षत्रिय उसका अग्रभाग है। इसलिए उन लोगों के समागम से यज्ञ में उनके सामने अपने पापों को प्रकट करने से वह शुद्ध हो जाता है।

ब्राह्मणः सम्भवेनैव देवानामपि दैवतम् ।
प्रमाणं चैव लोकस्य ब्रह्मात्रैव हि कारणम् ॥८४॥

जन्म से ही ब्राह्मण देवताओं का भी देवता होता है और लोक में उसका प्रमाण माना जाता है इसमें वेद ही कारण है।

तेषां वेदविदो ब्रूयुस्त्रयोऽप्येनः सुनिष्कृतिम् ।
सा तेषां पावनाय स्यात्पवित्रा विदुषां हि वाक् ॥८५॥

ऐसे ब्राह्मणों में-से वेद को जानने वाले तीन भी ब्राह्मण छुटकारा पाने

के लिए जो उपाय बतावें उससे भी पापियों की शुद्धि हो जाती है। क्योंकि पण्डितों की वाणी ही पवित्र होती है।

अतोऽन्यतममास्थाय विधिं विप्रः समाहितः।
ब्रह्महत्याकृतं पापं व्यपोहत्यात्मवत्तया ॥८६॥

इसलिए इसमें से किसी उपाय का संयतात्मा होकर ब्राह्मण अनुष्ठान करे। आत्मसंयम से ब्राह्मण पाप का नाश कर सकता है।

हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेत्।
राजन्यवैश्यो चेजानावात्रेयीमेव च स्त्रियम् ॥८७॥

अज्ञात गर्भ यज्ञ करते हुए क्षत्रिय और वैश्य को तथा रजोधर्मयुक्त स्त्री को मारकर ब्रह्महत्या से छुटकारा पाने वाले उपायों (पूर्वोक्त) को ही करे।

उक्त्वा चैवानृतं साक्ष्ये प्रतिरुध्य गुरुं तथा।
अपहृत्य च निःक्षेपं कृत्वा च स्त्रीसुहृद्वधम् ॥८८॥

झूठी गवाही देने पर, गुरु पर झूठा आरोप लगाने पर, किसी के धरोहर का अपहरण करने पर तथा स्त्री और मित्र का वध करने पर भी ब्रह्महत्या में कहे हुए प्रायश्चित्तों को करे।

इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम्।
कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥८९॥

अनिच्छा से किये हुये ब्राह्मण के वध की यह विशुद्धि कही गयी है। और इच्छा से ब्राह्मण के वध का प्रायश्चित नहीं है।

सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत्।
तया स काये निर्दग्धे मुच्यते किल्विषात्ततः ॥९०॥

ब्राह्मण यदि मोह से मदिरापान कर ले तो इस पाप के नाश के लिये अग्नि वर्ण के समान (अर्थात् वैसी ही जलती हुई) मदिरा पीवे। क्योंकि उससे जब उसका शरीर जलता है, तब वह उस पाप से छूट जाता है।

गोमूत्रमग्निवर्णं वा पिबेदुदकमेव वा।
पयो घृतं वाऽऽमरणाद् गोशकृद्रसमेव वा ॥९१॥

अथवा गोमूत्र, जल, गाय का दूध, गोघृत और गाय के गोबर का रस इनमें से किसी एक चीज को आग के समान तप्त करके मरण पर्यन्त पीता रहे (अर्थात् जब तक मर न जाय बराबर पीता रहे)।

कणान्वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि।
सुरापानापनुत्त्यर्थं बालवासा जटी ध्वजी ॥९२॥

अथवा एक वर्ष तक मदिरापान के दोष के शान्त्यर्थ रात में एक ही बार किसी अन्न का कण अथवा तिल की खली खाय और ऊनी वस्त्र पहने, जटा रखे तथा मदिरापान का ध्वजा (चिन्ह) धारण करे।

सुरां वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते।
तस्माद् ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥९३॥

सुरा (मदिरा) अन्न के मल को कहते हैं। मल को पाप कहते हैं। इसलिये ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य सुरा को न पीवें।

गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा।
यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः ॥९४॥

गौड़ी, षैष्ठी और माध्वी ये तीन प्रकार की मदिरा होती है। इनमें जैसी एक है वैसी ही तीनों हैं, इसलिये ब्राह्मण उनका पान न करे।

यक्षरक्षः पिशाचान्नं मद्यं मांसं सुराऽऽसवम्।
तद् ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः ॥९५॥

मद्य[1], मांस, मदिरा और आसव ये यक्ष, राक्षस और पिशाचों के खाद्यान्न हैं, इसलिये देवताओं के हविष्य खाने वाले ब्राह्मण इन पदार्थों को न खाँय।

अमेध्ये वा पतेन्मत्तो वैदिकं वाप्युदाहरेत्।
अकार्यमन्यत्कुर्याद्वा ब्राह्मणो मदमोहितः ॥९६॥

मदिरापान से उत्तम ब्राह्मण अपवित्र जगह में गिर पड़े या निषिद्ध जगहों में वेद पाठ करे, या और ही कोई न करने योग्य कार्य को करे इसलिये उसको मदिरापान नहीं करना चाहिए।

यस्य कायगतं ब्रह्म मद्येनाप्लाव्यते सकृत्।
तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं शूद्रत्वं च स गच्छति ॥९७॥

जिस ब्राह्मण के शरीर स्थित ब्रह्म (आत्मा) एक बार भी मदिरा से प्लावित हो जाती है, उसका ब्राह्मणत्व नष्ट हो जाता है और वह शूद्रवत् हो जाता है।

---

१. पानसद्राक्षमाध्वीकं खर्जूरं तालमैक्षवम्।
माध्वीकं टाङ्कमार्द्वीकमैरेयं नारिकेलजम्।
सामान्यानि द्विजातीनां मद्यान्येकादशैव च॥ पुलस्त्य ॥

एषा विचित्राभिहिता सुरापानस्य निष्कृतिः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सुवर्णस्तेयनिष्कृतिम् ॥९८॥

यह मदिरापान का विचित्र प्रायश्चित कहा, अब इसके बाद सोना चुराने का प्रायश्चित कहूँगा।

सुवर्णस्तेयकृद्विप्रो राजानमभिगम्य तु ।
स्वकर्म ख्यापयन्ब्रूयान्मां भवाननुशास्त्विति ॥९९॥

सुवर्ण को चुराने वाला ब्राह्मण राजा के सन्मुख उपस्थित होकर अपने किये हुये कर्म का व्याख्यान करता हुआ कहे कि आप मुझे इस कर्म का दण्ड दें।

गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम् ।
वधेन शुद्ध्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव तु ॥१००॥

राजा स्वयं मुसल लेकर उस ब्राह्मण पर एक बार प्रहार करे। चोर वध से शुद्ध होता है किन्तु ब्राह्मण तपस्या से शुद्ध होता है।

तपसाऽपनुनुत्सुस्तु सुवर्णस्तेयजं मलम् ।
चीरवासा द्विजाऽरण्ये चरेदाब्रह्महणो व्रतम् ॥१०१॥

सुवर्ण के चुराने से उत्पन्न पाप को तपस्या द्वारा नाश करने की इच्छा वाला ब्राह्मण पुराने कपड़े को पहनकर वन में ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त को करे।

एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः ।
गुरुस्त्रीगमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥१०२॥

इन पूर्वोक्त व्रतों (ब्रह्महत्या के प्रायश्चितों) द्वारा ब्राह्मण चोरी के पापों का नाश करे। गुरुपत्नी गमन के पाप को आगे कही हुई विधियों से नष्ट करे।

गुरुतल्प्यभिभाष्यैनस्तप्ते स्वप्यादयोमये ।
सूर्मीं ज्वलन्तीं स्वाश्लिष्येन्मृत्युना स विशुद्ध्यति ॥१०३॥

गुरुपत्नी से गमन करने वाला अपने पाप की प्रसिद्धि करके लोहे की जलती हुई शय्या पर सोये अथवा लोहे की स्त्री बनाकर उसे आग में तपाकर उसका आलिंगन करे और मर जाय यही उसकी शुद्धि है।

स्वयं वा शिश्नवृषणावुत्कृत्याधाय चाञ्जलौ ।
नैर्ऋतीं दिशमातिष्ठेदानिपातादजिह्मगः ॥१०४॥

अथवा स्वयं ही अपने लिङ्ग और अण्डकोशों को काटकर अपने

अंजलि में लेकर जबतक शरीर पात न हो जाय तब तक सीधे नैर्ऋत्य (दक्षिण-पश्चिम के कोण) में दौड़ता हुआ जाय।

खट्वाङ्गी चीरवासा वा श्मश्रुलो विजने वने ।
प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रमब्दमेकं समाहितः ॥१०५॥

अथवा खट्वाङ्ग धारण कर, पुराना कपड़ा पहनकर, दाढ़ी बाल बढ़ाकर निर्जन वन में एक वर्ष तक निरालस्य होकर कृच्छ प्राजापत्य व्रत को करे।

चान्द्रायणं वा त्रीन्मासानभ्यस्येन्नियतेन्द्रियः ।
हविष्येण यवाग्वा वा गुरुतल्पापनुत्तये ॥१०६॥

अथवा जितेन्द्रिय होकर तीन मास पर्यन्त हविष्य या यवागू[1] भोजन कर गुरुपत्नी गमन जन्य पाप के नाशार्थ चान्द्रायण व्रत करे।

एतैर्व्रतैरपोहेयुर्महापातकिनो मलम् ।
उपपातकिनस्त्वेवमेभिर्नानाविधैर्व्रतैः ॥१०७॥

इन पूर्वोक्त व्रतों द्वारा महापातकी अपने पापों का नाश करे और उपपातकी आगे कहे हुए अनेक प्रकार के व्रतों से अपने पाप का नाश करे।

उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मासं यवान्पिबेत् ।
कृतवापो वसेद् गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः ॥१०८॥

गौ वध करने वाला उपपातकी एक मास पर्यन्त यवागू को पीवे। और शिखा सहित मुंडन कराकर उसी मरी हुई गौ के चमड़े को ओढ़कर गोशाला में वास करे।

चतुर्थकालमश्नीयादक्षारलवणं मितम् ।
गोमूत्रेणाचरेत्स्नानं द्वौ मासौ नियतेन्द्रियः ॥१०९॥

जितेन्द्रिय होकर दो मास नित्य गोमूत्र से स्नान करे, तीन शाम उपवास कर चौथे शाम को खावे, नमक का त्याग कर परिमित हविष्य का भोजन करे।

दिवानुगच्छेदगास्तास्तु तिष्ठन्नूर्ध्वं रजः पिबेत्।
शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासनं वसेत् ॥११०॥

दिन में गौओं के पीछे-पीछे उनके पैर से उड़ती हुई धूलि को पीता हुआ घूमे। रात में उनकी सेवा कर और उन्हें प्रणाम करके वीरासन से उनके पास बैठे।

---

१. षड्गुणजलपक्वघनद्रव-द्रव्यविशेषः।
अन्यच्च-मण्डश्चतुऽर्दशगुणे यवागूः षड्गुणेऽम्भसि ।

तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु व्रजन्तीष्वप्यनुव्रजेत् ।
आसीनासु तथासीनो नियतो वीतमत्सरः ॥१११॥

गौ के खड़ी होने पर अपने भी खड़ा हो जाय, जब चले तो उनके पीछे-पीछे चले और उनके बैठने पर आप भी बैठ जाय, यह कार्य (तीन मास तक) नियमपूर्वक क्रोध रहित होकर करे।

आतुरामभिशस्तां वा चौरव्याघ्रादिभिर्भयैः ।
पतितां पङ्कलग्नां वा सर्वोपायैर्विमोचयेत् ॥११२॥

जो गाय रोगग्रस्त हो, चोर, व्याघ्र आदि दुष्टों के भय से भयभीत हो, गिर पड़ी हो या कीचड़ में फँसी हो, उसको सब उपायों से उद्धार करे।

उष्णे वर्षति शीते वा मारुते वाति वा भृशम् ।
न कुर्वीतात्मनस्त्राणं गोरकृत्वा तु शक्तितः ॥११३॥

गर्मी, वर्षा, जाड़े में और जिस समय बड़ी तेजी से हवा बह रही हो उस समय अपने शक्ति भर गौ की रक्षा किये बिना अपनी रक्षा न करे।

आत्मनो यदि वाऽन्येषां गृहे क्षेत्रेऽथवा खले ।
भक्षयन्तीं न कथयेत्पिबन्तं चैव वत्सकम् ॥११४॥

अपने या अन्य के गृह में अथवा खेत में या खलिहान में खाती हुई गौ को और दूध पीते हुये बछड़े को न रोके और न दूसरे से इस कार्य के लिये कहे।

अनेन विधिना यस्तु गोघ्नो गामनुगच्छति ।
स गोहत्याकृतं पापं त्रिभिर्मासैर्व्यपोहति ॥११५॥

इस विधि से जो गौ को मारने वाला गौ की सेवा करता है, वह तीन मास में ही गोहत्या के पाप से छूट जाता है।

वृषभैकादशा गाश्च दद्यात्सुचरितव्रतः ।
अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेत् ॥११६॥

सुन्दर प्रकार से व्रत करके वैदिक ब्राह्मण को एक बैल और दस गाय दे। यदि इतने गौ न हो तो जो उसके पास हो वह सब ब्राह्मण को दे देवे।

एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः ।
अवकीर्णिवर्ज्यं शुद्ध्यर्थं चान्द्रायणमथापि वा ॥११७॥

अवकीर्णी (व्रत भ्रष्ट) को छोड़कर उपपातकी द्विज पाप शुद्ध्यर्थ पूर्वोक्त व्रत को करे अथवा चान्द्रायण व्रत को करे।

अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे ।
पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं निशि ॥११८॥

अवकीर्णी[1] (व्रत भ्रष्ट) रात को काने गधे के साथ चौराहे पर पाकयज्ञ की विधि से निर्ऋति देवता का यजन करे।

हुत्वाग्नौ विधिवद्धोमानन्ततश्च समेत्यृचावा ।
वातेन्द्रगुरुवह्नीनां जुहुयात्सर्पिषाऽऽहुतीः ॥११९॥

विधिवत् अग्नि में हवन करने के बाद "समासिञ्चन्तुमरुतः" इस ऋचा से वायु, इन्द्र बृहस्पति और अग्नि को घी से आहुति दे।

कामतो रेतसः सेकं व्रतस्थस्य द्विजन्मः ।
अतिक्रमं व्रतस्याहुर्धर्मज्ञा ब्रह्मवादिनः ॥१२०॥

जो व्रतस्थ (ब्रह्मचारी) द्विज इच्छा से वीर्यसिञ्चन करता है उसका व्रत नष्ट हो जाता है। धर्मज्ञ वेदवादियों ने ऐसा कहा है।

मारुतं पुरुहूतं च गुरुं पावकमेव च ।
चतुरो व्रतिनोऽभ्येति ब्राह्मं तेजोऽवकीर्णिनः ॥१२१॥

अवकीर्णी (व्रत भंग हुए) ब्रह्मचारी का ब्रह्मतेज वायु, इन्द्र, बृहस्पति और अग्नि इन चारों देवताओं के पास चला जाता है।

एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वसित्वा गर्दभाजिनम् ।
सप्तागारांश्चरेद्भैक्षं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥१२२॥

इस पाप के (अवकीर्ण हो जाने पर) हो जाने पर ब्रह्मचारी गदहे के चमड़े को पहन कर और (पूर्वोक्त गर्दभ यज्ञ करके) अपने कर्म को कहता हुआ सात घरों से भिक्षा माँगकर लावे।

तेभ्यो लब्धेन भैक्षेण वर्तयन्नेककालिकम् ।
उपस्पृशंस्त्रिषवणं त्वब्देन स विशुद्ध्यति ॥१२३॥

उस पाई हुई भिक्षा से दिन रात में एक बार आहार करे और तीन बार स्नान करता हुआ एक वर्ष में उस पाप से शुद्ध होता है।

जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वान्यतममिच्छया ।
चरेत्सांतपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥१२४॥

अपनी इच्छा से कोई अपकर्म जातिभ्रंशकर पापों में करे तो कृच्छ्रसांतपन व्रत करे। और अनिच्छा से किया हो तो आगे कहे हुए प्राजापत्य व्रत को करे।

---

१. अवकीर्णी भवेद् गत्वा ब्रह्मक्षारी च योषितम् ॥

संकरापात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम् ।
मलिनीकरणीयेषु तप्तः स्याद्यावकैस्त्र्यहम् ॥१२५॥

(अपनी इच्छा से) संकरीकरण अथवा अपात्रीकरण इन दोनों पापों में से किसी एक को करने वाला किये हुए पाप के शान्त्यर्थ चान्द्रायण व्रत को करे। और मलिनीकरण पापों के शान्त्यर्थ तीन दिन पर्यन्त गरम लपसी पीवे।

तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधं स्मृतः ।
वैश्येऽष्टमांशो वृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडशः ॥१२६॥

क्षत्रिय का वध करने पर ब्रह्महत्या का चौथा भाग, अपने काम में लगे हुए वैश्य के वध करने से आठवाँ भाग और शूद्र के वध में सोलहवाँ भाग प्रायश्चित कहा है।

अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः ।
वृषभैकसहस्रा गा दद्यात्सुचरितव्रतः ॥१२७॥

अनिच्छा (अज्ञान) से क्षत्रिय की हत्या करे तो ब्राह्मण विधिवत् व्रत का आचरण करके एक बैल और एक सहस्र गौ ब्राह्मणों को दे।

त्र्यब्दं चरेद्वा नियतो जटी ब्रह्महणो व्रतम् ।
वसन्दूरतरे ग्रामाद् वृक्षमूलनिकेतनः ॥१२८॥

अथवा जटा बढ़ाकर गाँव के बाहर किसी वृक्ष के नीचे रह कर तीन वर्ष तक ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करे।

एतदेव चरेदब्दं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमः ।
प्रमाप्य वैश्यं वृत्तस्थं दद्याच्चैकशतं गवाम् ॥१२९॥

अपनी वृत्ति में लगे हुए वैश्य का वध करके एक वर्ष तक यही (पूर्वोक्त) प्रायश्चित्त करे और एक सौ गौ दान कर ब्राह्मणों को दे।

एतदेव व्रतं कृत्स्नं षण्मासान् शूद्रहा चरेत् ।
वृषभैकादशा वापि दद्याद्विप्राय गाः सिताः ॥१३०॥

अज्ञान वश शूद्र का वध करने वाला यही पूर्वोक्त व्रत को छः मास तक करे अथवा एक सफेद बैल और दस गाय ब्राह्मण को दे।

मार्जारनकुलौ हत्वा चाषं मण्डूकमेव च ।
श्वगोधोलूककाकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥१३१॥

बिल्ली, नेवला, नीलकण्ठ पक्षी, मेघा, कुत्ता, गोह, उल्लू और कौआ इनमें से किसी का वध करने पर शूद्र के वध का प्रायश्चित्त करे।

पयः पिबेत् त्रिरात्रं वा योजनं वाऽऽध्वनो व्रजेत् ।
उपस्पृशेत्स्रवन्त्यां वा सूक्तं वाऽब्दैवतं जपेत् ॥१३२॥

अथवा तीन रात तक दूध ही पीकर रहे, या एक योजन पैदल चले या नदी में स्नान करे अथवा (आपोहिष्ठेत्यादि) ऋचा का जप करे।

अभ्रिं कार्ष्णायसीं दद्यात्सर्पं हत्वा द्विजोत्तमः ।
पलालभारकं षण्ढे सैसकं चैकमाषकम् ॥१३३॥

साँप को मारकर ब्राह्मण नोकदार लोहे का डण्डा और हिजड़े को मारकर एक भार पुआल और एक मासा सीसा ब्राह्मण को देवे।

घृतकुम्भं वराहे तु तिलद्रोणं तु तित्तिरौ ।
शुके द्विहायनं वत्सं क्रौञ्चं हत्वात्रिहायनम् ॥१३४॥

वराह (शूकर) को मारने पर एक घड़ाभर घी, तीतर के मारने पर एक द्रोण तिल, सुग्गा के मारने पर दो वर्ष का बछड़ा, क्रौञ्चपक्षी के मारने पर तीन वर्ष का बछड़ा ब्राह्मण को दे।

हत्वा हंसं बलाकां च बकं बर्हिणमेव च ।
वानरं श्येनभासौ च स्पर्शयेत् ब्राह्मणाय गाम् ॥१३५॥

हंस, बलाका, बगुल (बक) मोर, बानर, बाज और भास पक्षी इनमें किसी को मारने पर एक गौ स्पर्श कर ब्राह्मण को देवे।

वासो दद्याद्धयं हत्वा पञ्च नीलान्वृषान्गजम् ।
अजमेषावनड्वाहं खरं हत्वैकहायनम् ॥१३६॥

घोड़े को मारने पर वस्त्र, गज (हाथी) का वध करने पर पाँच नीले बैल, बकरा और भेड़ को मारने पर एक बैल और गधे का वध करने से एक वर्ष का बछड़ा दानकर ब्राह्मण को देवे।

क्रव्यादांस्तु मृगान्हत्वा धेनुं दद्यात्पयस्विनीम् ।
अक्रव्यादान्वत्सतरीमुष्ट्रं हत्वा तु कृष्णलम् ॥१३७॥

कच्चे मांस खाने वाले पशुओं को मारने पर दुधार गाय, तृण, भोगी पशुओं (हिरण आदि) को मारने पर जवान बछिया और ऊँट को मारकर रत्ती भर सोना दान करे।

जीनकार्मुकबस्तावीन्पृथग्दद्याद्विशुद्धये ।
चतुर्णामपि वर्णानां नारीर्हत्वाऽनवस्थिताः ॥१३८॥

चारों वर्णों की अव्यवस्थित (दुराचारिणी) स्त्रियों को मारकर शरीर शुद्ध्यर्थ क्रमशः (ब्राह्मणादि क्रम से) चर्मपुट, धनुष, बकरा और भेढ़ दान करे।

दानेन वधनिर्णेकं सर्पादीनामशक्नुवन् ।
एकैकशश्चरेत्कृच्छ्रं द्विजः पापापनुत्तये ॥१३९॥

यदि द्विज सर्पादिकों के मारने का प्रायश्चित्त दान करके करने में असमर्थ हो तो प्रत्येक पाप के शान्त्यर्थ एक कृच्छ्र प्राजापत्य व्रत को करे।

अस्थिमतां तु सत्त्वानां सहस्रस्य प्रमापणे ।
पूर्णे चानस्यनस्थ्नां तु शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥१४०॥

हड्डी वाले एक सहस्र प्राणियों का वध करने पर, तथा बहुत से बिना हड्डी वाले जानवरों का वध करने पर शूद्रवध का प्रायश्चित करना चाहिए।

किञ्चिदेव तु विप्राय दद्यादस्थिमतां वधे ।
अनस्थ्नां चैव हिंसायां प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥१४१॥

हड्डीवाले जीवों का वध करने पर ब्राह्मण को कुछ दे देवे। बिना हड्डीवाले जीवों की हत्या करने पर प्राणायाम से ही शुद्धि हो जाती है।

फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृक्शतम् ।
गुल्मवल्लीलतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम् ॥१४२॥

फल देने वाले वृक्ष, गुल्म, बल्ली, लतर और फैलने वाले वृक्षों को काटने पर एक सौ बार गायत्री का जप करे।

अन्नाद्यजानां सत्वानां रसजानां च सर्वशः ।
फलपुष्पोद्भवानां च घृतप्राशो विशोधनम् ॥१४३॥

अनाजों में उत्पन्न जीवों का तथा रसों (गुड़ आदि में) और फल-पुष्पों में उत्पन्न जीवों का वध करने पर घी चाट लेने से शुद्धि हो जाती है।

कृषिजानामोषधीनां जातानां च स्वयं वने ।
वृथालम्भेऽनुगच्छेद्गां दिनमेकं पयोव्रतः ॥१४४॥

जोते हुए खेत में उत्पन्न औषधियों और जंगल में स्वयं उत्पन्न वृक्षों को वृथा काटने से एक दिन केवल दूध ही पीकर रहे और गाय के पीछे-पीछे घूमे।

एतैर्व्रतैरपोह्यं स्यादेनो हिंसासमुद्भवम् ।
ज्ञानाज्ञानकृतं कृत्स्नं श्रृणुतानाद्यभक्षणे ॥१४५॥

ज्ञान पूर्वक अथवा अज्ञान पूर्वक किये हुए हिंसा जनित पापों का प्रायश्चित्त पूर्वोक्त विधि से दूर करे। अब अभोग्य पदार्थ भक्षण के प्रायश्चित्तों को सुनो।

अज्ञानाद्वारुणीं पीत्वा संस्कारेणैव शुद्ध्यति ।
मतिपूर्वमनिर्देश्यं प्राणान्तिकमिति स्थितिः ॥१४६॥

अज्ञान से वारुणी पी लेने पर पुनः संस्कार से शुद्ध होता है। किन्तु ज्ञान पूर्वक पीने पर जिस प्रायश्चित्त से प्राणान्त हो जाय, ऐसा ही प्रायश्चित्त उसके लिए हो सकता है। यही शास्त्र का निर्णय है।

अपः सुराभाजनस्था मद्यभाण्डस्थितास्तथा ।
पञ्चरात्रं पिबेत्पीत्वा शङ्खपुष्पीश्रितं पयः ॥१४७॥

सुरापात्र (पैष्ठीपात्र) में अथवा मद्य के पात्र में रखा हुआ जल पी लेने से शंखपुष्पी के साथ औटाया दूध पाँच रात्रि पीवे।

स्पृष्ट्वा दत्वा च मदिरां विधिवत्प्रतिगृह्य च ।
शूद्रोच्छिष्टाश्च पीत्वापः कुशवारि पिबेत्त्र्यहम् ॥१४८॥

मदिरा को स्पर्श कर विधिवत् उसे ग्रहण करने पर, शूद्र का जूठा जल पीने पर तीन दिन तक कुशा मिलाकर औटाया जल पीवे।

ब्राह्मणस्तु सुरापस्य गन्धमाघ्राय सोमपः ।
प्राणानप्सु त्रिरायम्य घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥१४९॥

सोम पीने वाला ब्राह्मण यदि सुरा पीने वाले के मुख की गंध को सूँघ ले तो वह जल के भीतर तीन बार प्राणायाम करके घी चाट कर शुद्ध होता है।

अज्ञानात्प्राश्य विण्मूत्रं सुरासंस्पृष्टमेव च ।
पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥१५०॥

तीनों द्विजाति वर्ण यदि अज्ञान से विष्टा, मूत्र या मदिरा से मिला हुआ कोई रस आस्वादन कर लें तो फिर से संस्कार कराने योग्य होते हैं।

वपनं मेखला दण्डो भैक्षचर्या व्रतानि च ।
निवर्तन्ते द्विजातीनां पुनः संस्कारकर्मणि ॥१५१॥

द्विजातियों के पुनः संस्कार कर्म में मुण्डन, मेखला, दण्ड, भिक्षा और ब्रह्मचर्य व्रत नहीं करना होता।

अभोज्यानां तु भुक्त्वान्नं स्त्रीशूद्रोच्छिष्टमेव च ।
जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च सप्तरात्रं यवान्पिबेत् ॥१५२॥

जिनका अन्न नहीं खाना चाहिये उसका अन्न खाने पर और स्त्री, शूद्र का जूठा खाने पर और अभक्ष्य मांस खा लेने पर सात रात्रि तक यवागू या जल और जौ का सत्तू पीवे।

शुक्तानि च कषायांश्च पित्वाऽमेध्यान्यपि द्विजः ।
तावद्भवत्यप्रयतो यावत्तन्न व्रजत्यधः ॥१५३॥

सिरका और अर्क शुद्ध होते हुये भी उसको पीने वाला द्विज तब तक अपवित्र रहता है, जब तक कि यह शरीर से निकल नहीं जाता है।

विड्वराहखरोष्ट्राणां गोमायोः कपिकाकयोः ।
प्राश्य मूत्रपुरीषाणि द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥१५४॥

ग्राम में रहने वाले शूकर, गदहा, ऊँट, शृगाल, बानर, और कौआ इनके मल-मूत्र को खा लेने पर द्विज चान्द्रायण व्रत को करे।

शुष्काणि भुक्त्वा मांसानि भौमानि कवकानि च ।
अज्ञातं चैव सूनास्थमेतदेव व्रतं चरेत् ॥१५५॥

सूखे हुए मांस या जो न जाना हो, तथा जो मांस कसाई के यहाँ का हो तथा गोबर छत्ता के खा लेने से भी चन्द्रायण व्रत करे।

क्रव्यादसूकरोष्ट्राणां कुक्कुटानां च भक्षणे ।
नरकाकखराणां च तप्तकृच्छ्रं विशोधनम् ॥१५६॥

कच्चा मांस खाने वाले पशु, सूअर, ऊँट, मुर्गा, कौआ और गदहा इनमें से किसी का मांस ज्ञानपूर्वक खा लेवे तो पाप शुद्ध्यर्थ तप्तकृच्छ व्रत करे।

मासिकान्नं तु योऽश्नीयादसमावर्तको द्विजः ।
स त्रीण्यहान्युपवसेदेकाहं चोदके वसेत् ॥१५७॥

जिसका समावर्तन संस्कार नहीं हुआ है, ऐसा द्विज (ब्रह्मचारी) यदि मासिक श्राद्ध सम्बन्धी अन्न खाय तो तीन दिन तक उपवास करे और एक दिन जल पीकर रहे।

ब्रह्मचारी तु योऽश्नीयान्मधु मांसं कथञ्चन ।
स कृत्वा प्राकृतं कृच्छ्रं व्रतशेषं समापयेत् ॥१५८॥

जो ब्रह्मचारी किसी प्रकार से मधु, मांस खा ले तो वह प्राजापत्य व्रत को करके ब्रह्मचर्य व्रत को समाप्त करे।

विडालकाकाखूच्छिष्टं जग्ध्वा श्वनकुलस्य च ।
केशकीटावपन्नं च पिबेद् ब्रह्मसुवर्चलाम् ॥१५९॥

बिल्ली, कौआ, मूसा, कुत्ता और नेवले का जूठा और केश, कीड़े से व्याप्त जो अन्न हो उसको खा लेने पर ब्रह्मसुवर्चला (क्वाथ) को पीवे।

अभोज्यमन्नं नात्तव्यमात्मनः शुद्धिमिच्छता ।
अज्ञानभुक्तं तूत्तार्यं शोध्यं वाप्याशु शोधनैः ॥१६०॥

अपनी शुद्धि चाहने वाला अभोज्य (अभक्ष्य) अन्न को न खावे यदि अज्ञान से खा ले तो वमन कर उसे निकाल दे अथवा शीघ्र ही प्रायश्चित द्वारा अपने को शुद्ध कर ले।

एषोऽनाद्यादनस्योक्तो व्रतानां विविधो विधिः ।
स्तेयदोषापहर्तॄणां व्रतानां श्रूयतां विधिः ॥१६१॥

यह अभक्ष्य पदार्थ के भक्षण के अनेक प्रायश्चित्त कहे। अब चोरी के दोषों को हरने वाले प्रायश्चित्तों की विधि सुनो।

धान्यान्नधनचौर्याणि कृत्वा कामाद् द्विजोत्तमः ।
स्वजातीयगृहादेव कृच्छ्राब्देन विशुध्यति ॥१६२॥

ब्राह्मण इच्छा से (ज्ञान पूर्वक) अपने स्वजातीय के गृह से धान्य, अन्न (भात-रोटी आदि) और धन चुरा ले तो एक वर्ष तक प्राजापत्य व्रत को करने से शुद्ध होता है।

मनुष्याणां तु हरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहस्य च ।
कूपवापीजलानां च शुद्धिश्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥१६३॥

मनुष्य, स्त्री, खेत, गृह, कूआँ और बावली का जल चुराने वाला चान्द्रायण व्रत करने से शुद्ध होता है।

द्रव्याणामल्पसाराणां स्तेयं कृत्वान्यवेश्मतः ।
चरेत्सांतपनं कृच्छ्रं तन्निर्यात्यात्मशुद्धये ॥१६४॥

दूसरे के घर से अल्प मूल्य की वस्तु चुराने पर आत्मशुद्ध्यर्थ वह वस्तु उसके मालिक को दे देवे और कृच्छ्रसान्तपन व्रत करे।

भक्ष्यभोज्यापहरणे यानशय्यासनस्य च ।
पुष्पमूलफलानां च पञ्चगव्यं विशोधनम् ॥१६५॥

भक्ष्य (मोदकादि), भोज्य (दूध आदि), सवारी, शय्या, आसन, फूल, मूल और फल इनके चुराने पर पञ्चगव्य प्राशन से शुद्धि होती है।

तृणकाष्ठद्रुमाणां च शुष्कान्नस्य गुडस्य च ।
चेलचर्मामिषाणां च त्रिरात्रं स्यादभोजनम् ॥१६६॥

तृण, काष्ठ, पेड़, सूखा, अन्न, गुण, वस्त्र, चमड़ा, और मांस इन पदार्थों में-से किसी एक पदार्थ को चुराने पर तीन रात तक उपवास करे।

मणिमुक्ताप्रवालानां ताम्रस्य रजतस्य च।
अयः कांस्योपलानां च द्वादशाहं कणान्नता ॥१६७॥

मणि, मोती, मूँगा, ताँबा, चाँदी, लोहा, काँसा, और पत्थर इनमें किसी एक को चुराने वाला बारह दिन तक अन्न का कण खाने से शुद्ध होता है।

कार्पासकीटजीर्णानां द्विशफैकशफस्य च।
पक्षिगन्धौषधीनां च रज्ज्वाश्चैव त्र्यहं पयः ॥१६८॥

सूती, रेशमी, ऊनी, कपड़े, घोड़ा, बैल और पक्षी, कपूर, चन्दन और औषधि तथा रस्सी-में से किसी एक के चोरी करने पर तीन दिन तक दूध पीकर रहे।

एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः।
अगम्यागमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥१६९॥

इन पूर्वोक्त उपायों से द्विज चोरी के पापों से शुद्ध होवे और अगम्या गमन के पापों को आगे कहे हुए व्रतों से नष्ट करे।

गुरुतल्पव्रतं कुर्याद्रेतः सिक्त्वा स्वयोनिषु।
सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च ॥१७०॥

सगी बहन, मित्र की स्त्री, पुत्र की स्त्री, कुमारी और चण्डालिन के साथ स्त्री प्रसंग करने वाला गुरुपत्नी गमन का प्रायश्चित्त करे।

पैतृष्वसेयीं भगिनीं स्वस्रीयां मातुरेव च।
मातुश्च भ्रातुस्तनयां गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥१७१॥

फुफेरी, मौसेरी, ममेरी बहनों के साथ प्रसंग करके चन्द्रायण व्रत करे।

एतास्तिस्रस्तु भार्यार्थे नोपयच्छेत्तु बुद्धिमान्।
ज्ञातित्वेनानुपेयास्ताः पतति ह्युपयन्नधः ॥१७२॥

बुद्धिमान् इन तीनों (फुफेरी, मौसेरी, ममेरी बहनों को) स्त्री बनाने के लिये (विवाह के लिये) उपयोग न करें। क्योंकि ये बहन होने के कारण ब्याहने योग्य नहीं हैं। यदि कोई कर लेता है तो वह नरकगामी होता है।

अमानुषीषु पुरुष उदक्यायामयोनिषु।
रेतः सिक्त्वा जले चैव कृच्छ्रं सातपनं चरेत् ॥१७३॥

जो मनुष्य अमानुषी (मनुष्य से भिन्न योनि चौपाये) में, रजस्वला स्त्री में, योनि से भिन्न स्थान में, तथा जल में वीर्यपात करता है उसकी कृच्छ्रसान्तपन करने से शुद्धि होती है।

मैथुनं तु समासेव्यं पुंसि योषिति वा द्विजः ।
गोयानेऽप्सु दिवा चैव सवासाः स्नानमाचरेत् ॥१७४॥

जो द्विज पुरुष या स्त्री के साथ बैलगाड़ी (या रथ जिसमें बैल जुते हों), जल में या दिन में मैथुन करे तो उसको सचैलस्नान (जो पकड़ा पहिने हो उसके साथ) करना चाहिये।

चण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च ।
पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति ॥१७५॥

यदि ब्राह्मण अज्ञान से चांडाल या म्लेक्ष की स्त्री के साथ संभोग करे, उनका अन्न खाय, अथवा उनका दान ले तो पतित हो जाता है, यदि जान बूझकर ऐसा करे तो उसके बराबर हो जाता है।

विप्रदुष्टां स्त्रियं भर्ता निरुन्ध्यादेकवेश्मनि ।
यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद् व्रतम् ॥१७६॥

स्वेच्छा से व्यभिचार में प्रवृत्त स्त्री को उसका पति उसे एक घर में बन्द कर दे और पुरुषों को परस्त्रीगमन विषय में जो प्रायश्चित्त कहा है वही उससे करावे।

सा चेत्पुनः प्रदुष्येत्तु सदृशेनोपयन्त्रिता ।
कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव तदस्याः पावनं स्मृतम् ॥१७७॥

पूर्वोक्त प्रकार से नियन्त्रित होते हुए भी यदि वह स्त्री अपने स्वजातीय के साथ फिर व्यभिचार करे तो उसके लिये कृच्छ चन्द्रायण व्रत करावे।

यत्करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवनाद् द्विजः ।
तद्भैक्षभुग्जपन्नित्यं त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति ॥१७८॥

द्विज एक रात में चाण्डालिन के सेवन से जो पाप संचित करता है उस पाप को तीन वर्ष पर्यन्त भिक्षा का अन्न खाकर गायत्री का जप करता हुआ नष्ट करता है।

एषा पापकृतामुक्ता चतुर्णामपि निष्कृतिः ।
पतितैः संप्रयुक्तानामिमाः शृणुत निष्कृतीः ॥१७९॥

यह चार प्रकार (हिंसा, अभक्ष्य भोजन, चोरी, अगम्या गमन) के पापों को करने वालों का प्रायश्चित्त कहा है। अब पतितों के संसर्गियों का प्रायश्चित्त सुनो।

संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरम् ।
याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात् ॥१८०॥

पतित के साथ सवारी में यात्रा करने से, एक आसन पर बैठने से, उसके साथ भोजन करने से एक वर्ष में पतित हो जाता है, किन्तु उसका यज्ञ कराने, पढ़ाने या उसके साथ सम्बन्ध (विवाहादि) करने से एक वर्ष में पतित नहीं होता किन्तु तत्काल ही पतित हो जाता है।

यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः।
स तस्यैव व्रतं कुर्यात्तत्संसर्गविशुद्धये ॥१८१॥

जो मनुष्य जिस प्रकार के पतित के साथ संसर्ग करने से पतित हुआ है वह उसी पतित के ही शुद्ध होने वाले प्रायश्चित्त को करे।

पतितस्योदकं कार्यं सपिण्डैर्बान्धवैर्बहिः।
निन्दितेऽहनि सायाह्ने ज्ञात्यृत्विग्गुरुसंनिधौ ॥१८२॥

पतित के सपिण्ड बान्धवगण ग्राम से बाहर जाति, ऋत्विग् (पुरोहित) और गुरु के सामने निन्दित दिन में सन्ध्या समय पतित को जीते जी जलाञ्जलि देवें।

दासी घटमपां पूर्णं पर्यस्येत्प्रेतवत्पदा।
अहोरात्रमुपासीरन्नशौचं बान्धवैः सह ॥१८३॥

दासी दक्षिणाभिमुख होकर जल भरे हुये घड़े को पैर से जैसे प्रेत के लिये लुढ़का दिया जाता है वैसे ही लुढ़का दे, इसके बाद सपिण्ड (दायाद) लोग एक अहोरात्र का अशौच का व्यवहार करें।

निवर्तेरंश्च तस्मात्तु सम्भाषणसहासने।
दायाद्यस्य प्रदानं च यात्रा चैव हि लौकिकी ॥१८४॥

उस पातकी से बोलना, एक ही आसन पर बैठना, देन-लेन का व्यवहार और उसके साथ भोजनादि का व्यवहार सब छोड़ दें।

ज्येष्ठता च निवर्तेत ज्येष्ठावाप्यं च यद्धनम्।
ज्येष्ठांशं प्राप्नुयाच्चास्य यवीयान्गुणतोऽधिकः ॥१८५॥

पतित हो जाने पर जेठे भाई की जेठता नहीं रहती है और जेठे भाई का प्राप्य धन और जो उसका ज्येष्ठांश हो वह सब छोटा भाई पाता है। जो सब भाइयों में श्रेष्ठ गुणी होगा।

प्रायश्चित्ते तु चरिते पूर्णकुम्भमपां नवम्।
तेनैव सार्धं प्रास्येयुः स्नात्वा पुण्ये जलाशये ॥१८६॥

पतित के प्रायश्चित्त कर लेने पर उसके सपिण्ड बांधवगण उसके साथ पवित्र जलाशय में स्नान कर जल से पूर्ण नया घड़ा पानी में फेंक दें।

स त्वप्सु तं घटं प्रास्य प्रविश्य भवनं स्वकम्।
सर्वाणि ज्ञातिकार्याणि यथापूर्वं समाचरेत् ॥१८७॥

वह उस घड़े को जल में फेंककर अपने घर में प्रवेश कर सभी भाई बन्धुओं के साथ जैसा पहले व्यवहार था वैसा करें।

एतदेव विधिं कुर्याद्योषित्सु पतितास्वपि।
वस्त्रान्नपानं देयं तु वसेयुश्च गृहान्तिके ॥१८८॥

यही विधि पतित स्त्रियों के साथ भी करना चाहिये। किन्तु उन्हें अन्न जल और वस्त्र देना चाहिये और वह गृह के समीप झोपड़ी में रहे।

एनस्विभिरनिर्णिक्तैर्नार्थं किञ्चित्सहाचरेत्।
कृतनिर्णेजनाश्चैव न जुगुप्सेत कर्हिचित् ॥१८९॥

जिन पापात्माओं ने प्रायश्चित्त नहीं किया है उनके साथ किसी प्रकार का व्यवहार नहीं करना चाहिये। किन्तु जिन लोगों ने प्रायश्चित्त किया हो उनकी निन्दा कभी न करनी चाहिये।

बालघ्नांश्च कृतघ्नांश्च विशुद्धानपि धर्मतः।
शरणागतहन्तॄंश्च स्त्रीहन्तॄंश्च न संवसेत् ॥१९०॥

बालकों का वध करने वाले, कृतघ्न, शरणागत की हत्या करने वाले और स्त्री की हत्या करने वाले यदि प्रायश्चित्त करके शुद्ध हो जायँ तो भी उनका संसर्ग न करें।

येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधिः।
तांश्चारयित्वा त्रीन्कृच्छ्रान्यथाविध्युपनाययेत् ॥१९१॥

जिन द्विजों का शास्त्रानुसार यज्ञोपवीत संस्कार न हुआ हो उनसे तीन प्राजापत्य व्रत करा के विधिवत् उनका यज्ञोपवीत संस्कार करा दे।

प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति विकर्मस्थास्तु ये द्विजाः।
ब्रह्मणा च परित्यक्तास्तेषामप्येतदादिशेत् ॥१९२॥

जो द्विज निषिद्ध धर्म करने वाले हों और वेदाध्ययन से रहित हों यदि वे प्रायश्चित्त करना चाहें तो उन्हें भी यही विधि करना चाहिये।

यद्गर्हितेनार्जयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम्।
तस्योत्सर्गेण शुद्ध्यन्ति जप्येन तपसैव च ॥१९३॥

जो ब्राह्मण गर्हित (निन्दित) कर्म से धन इकट्ठा करते हों वे उसका दान करने से और जप-तप करने से शुद्ध होते हैं।

जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि समाहितः ।
मासं गोष्ठे पयः पीत्वा मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात् ॥१९४॥

ब्राह्मण समाहित चित्त होकर तीन सहस्र गायत्री का जप करे अथवा एक मास तक दूध पीकर गोशाला में रहे तो दूषित दान लेने का दोष नहीं होता है।

उपवासकृशं तं तु गोव्रजात्पुनरागतम् ।
प्रणतं प्रति पृच्छेयुः साम्यं सौम्येच्छसीति किम् ॥१९५॥

उपवास से दुर्बल और गोशाला से आये हुये उस कृशित ब्राह्मण से लोग पूछें कि क्या तुम हम लोगों के साथ मिलना चाहते हो।

सत्यमुक्त्वा तु विप्रेषु विकिरेद्यवसं गवाम् ।
गोभिः प्रवर्तिते तीर्थे कुर्युस्तस्य परिग्रहम् ॥१९६॥

वह ब्राह्मणों से सत्य कहकर (मैं अब दूषित दान न लूँगा) गौ के आगे घास रख दे। यदि गौ उसके हाथ का घास खा ले तो अन्य ब्राह्मण उसको अपने समाज में ले लेवें।

व्रात्यानां याजनं कृत्वा परेषामन्त्यकर्म च ।
अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति ॥१९७॥

व्रात्यों का यज्ञ, अपने कुटुम्ब से भिन्न लोगों की दाहादि क्रिया, अभिचार और अहीन यज्ञ कराकर या करके तीन प्रजापत्य करके ब्राह्मण शुद्ध होता है।

शरणागतं परित्यज्य वेदं विप्लाव्य च द्विजः ।
संवत्सरं यवाहारस्तत्पापमपसेवति ॥१९८॥

शरणागत का त्याग करने से (अर्थात् रक्षा न करने वाला) और अनधिकारी को वेद पढ़ाने से एक वर्ष तक केवल जौ का आहार करने से उस पाप से छुटकारा मिलता है।

श्वसृगालखरैर्दष्टो ग्राम्यैः क्रव्याद्भिरेव च ।
नराश्वोष्ट्रवराहैश्च प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥१९९॥

कुत्ता, सियार, गदहा, कच्चे मांस खाने वाले, ग्राम्य जानवर, मनुष्य, घोड़ा, ऊँट और सुअर जिसको काटे हों वह प्राणायाम कर लेने से ही शुद्ध हो जाते हैं।

षष्ठान्नकालता मासं संहिताजप एव वा ।
होमाश्च सकला नित्यमपङ्क्त्यानां विशोधनम् ॥२००॥

जो अपांक्तेय पतित हैं उनके शुद्धि के लिये यह विधान है कि एक मास तक छठे शाम को भोजन करें, वेद के संहिता का जप करें, अथवा वेदोक्त मंत्रों से नित्य होम करें तब शुद्धि होती है।

उष्ट्रयानं समारुह्य खरयानं तु कामतः ।
स्नात्वा तु विप्रो दिग्वासाः प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥२०१॥

जो ब्राह्मण अपनी इच्छा से ऊँट या गधे की सवारी पर चढ़े और नंगा होकर स्नान करे वह प्राणायाम मात्र से शुद्ध होता है।

विनाद्भिरप्सु वाप्यार्तः शारीरं संनिवेश्य च ।
सचैलो बहिराप्लुत्य गामालभ्य विशुद्ध्यति ॥२०२॥

अत्यन्त वेग से पीड़ित होकर पानी के बिना या पानी में मलमूत्र का त्याग करे तो गाँव के बाहर नदी वगैरह में सचैल्य (वस्त्रादि पहने हुये ही) स्नान करके गौ का स्पर्श करके शुद्ध होता है।

वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे ।
स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम् ॥२०३॥

वेद में कहे हुए नित्य कर्मों का अतिक्रमण हो जाने पर और स्नातक व्रत के लोप हो जाने पर एक दिन भोजन न करे यहाँ इस दोष का प्रायश्चित्त है।

हुङ्कारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वंकारं च गरीयसः ।
स्नात्वाऽनश्नन्नहः शेषमभिवाद्य प्रसादयेत् ॥२०४॥

ब्राह्मण को हुङ्कार (अर्थात् चुप बैठो ऐसा कहे) और अपने से बड़े को 'तू' कह दे तो उस समय से सायंकाल तक स्नान कर उसकी सेवाकर प्रसन्न करे।

ताडयित्वा तृणेनापि कण्ठे वाऽऽबध्य वाससा ।
विवादे वा विनिर्जित्य प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥२०५॥

ब्राह्मण को तृण से भी मारने पर, अथवा उसके कण्ठ में कपड़ा डालने या विवाद में जीतने पर उसको प्रणाम कर प्रसन्न करना चाहिए।

अवगूर्य त्वब्दशतं सहस्रमभिहत्य च ।
जिघांसया ब्राह्मणस्य नरकं प्रतिपद्यते ॥२०६॥

ब्राह्मण को मारने की धमकी देने से सौ वर्ष और दण्ड प्रहार करने से हजार वर्ष तक नरक भोगना पड़ता है।

शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णाति महीतले ।
तावन्त्यब्दसहस्राणि तत्कर्ता नरके वसेत् ॥२०७॥

ब्राह्मण का रुधिर पृथ्वी पर गिरकर धूल के जितने कणों को भिगोता है उतने ही हजार वर्ष रुधिर बहाने वाला नरक में बास करता है।

अवगूर्य चरेत्कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने ।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कुर्वीत विप्रस्योत्पाद्यशोणितम् ॥२०८॥

ब्राह्मण को मारने के लिए लाठी उठाने पर कृच्छ्रव्रत करे और मार देने पर अतिकृच्छ्र व्रत करे, और खून बहाने पर दोनों कृच्छव्रत और अतिकृच्छ व्रत करे।

अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानामपनुत्तये ।
शक्तिं चावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥२०९॥

जिन पापों के प्रायश्चित नहीं कहे गये हैं उनके प्रा श्चित्त के लिये पापकर्त्ता के शक्ति को देखकर प्रायश्चित की व्यवस्था करे।

यैरभ्युपायैरेनांसि मानवो व्यपकर्षति ।
तान्वोऽभ्युपायान्वक्ष्यामि देवर्षिपितृसेवितान् ॥२१०॥

जिन उपायों से मनुष्य अपने पापों का प्रायश्चित्त करता है। देवता, पितरों और ऋषियों से अनुष्ठित उन उपायों को कहता हूँ।

त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम् ।
त्र्यहं परं च नाश्नीयात्प्राजापत्यं चरन्द्विजः ॥२११॥

प्राजापत्य व्रत का आचरण करता हुआ द्विज तीन दिन सबेरे, तीन दिन सायंकाल और तीन दिन बिना किसी से कुछ माँगे ही जो कुछ मिल जाय उसे ही खावे। इसी को प्राजापत्य व्रत कहते हैं।

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।
एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम् ॥२१२॥

गोमूत्र, गोबर, गाय का दूध, गौ की दही, गौ का घी, कुश का जल इन सबको मिलाकर भोजन करे, दूसरे दिन उपवास करे इसी को कृच्छ्रसान्तापन व्रत कहते हैं।

एकैकं ग्रासमश्नीयात्त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत् ।
त्र्यहं चोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन्द्विजः ॥२१३॥

तीन दिन सबेरे एक ग्रास और तीन दिन शाम को और तीन दिन बिना माँगे अन्न भी एक-एक ग्रास खाय इसीको अतिकृच्छ्र व्रत कहते हैं।

तप्तकृच्छ्रं चरन्विप्रो जलक्षीरघृतानिलान्।
प्रतित्र्यहं पिबेदुष्णान्सकृत्स्नायी समाहितः ॥२१४॥

ब्राह्मण नित्य एक बार स्नानकर एकाग्रचित्त होकर प्रत्येक तीन-तीन दिन क्रम से गरम जल, गरम दूध, गरम घी और गरम वायु सेवन करे (अर्थात् तीन दिन जल, तीन दिन दूध इत्यादि) इसी को तप्तकृच्छ्र व्रत कहते हैं।

यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम्।
पराको नाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापापनोदनः ॥२१५॥

संयत चित्त होकर मन और इन्द्रियों को रोक कर बारह दिन उपवास करने को पराक-व्रत कहते हैं। जो कि सभी पापों का नाश करने वाला है।

एकैकं ह्रासयेत्पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत्।
उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रयणं व्रतम् ॥२१६॥

कृष्ण पक्ष में तिथि के अनुसार एक-एक ग्रास कम करके और शुल्क पक्ष में तिथि के अनुसार एक-एक ग्रास बढ़ाकर भोजन करे, इसको चान्द्रायण व्रत कहते हैं।

एतमेव विधिं कृत्स्नमाचरेद्यवमध्यमे।
शुक्लपक्षादिनियतश्चरंश्चान्द्रायणं व्रतम् ॥२१७॥

शुक्ल पक्षादि से पूर्वोक्त प्रकार से (अर्थात् तिथि के अनुसार) व्रत को करे तो इसको यवमध्यम चान्द्रायण व्रत कहते हैं।

अष्टावष्टौ समश्नीयात्पिण्डान्मध्यंदिने स्थिते।
नियतात्मा हविश्याशी यति चान्द्रायणं चरन् ॥२१८॥

शुक्लपक्षादि वा कृष्णपक्षादि से आरम्भ कर एक मास तक जितेन्द्रिय होकर प्रत्येक दिन दोपहर को आठ ग्रास हविष्य अन्न का भोजन यति चान्द्रायण करने वाला मनुष्य करे।

चतुरः प्रातरश्नीयात्पिण्डान्विप्रः समाहितः।
चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायणं स्मृतम् ॥२१९॥

एक मास तक चार ग्रास सबेरे और चार ग्रास शाम को नियम से भोजन करे। इसको शिशु चान्द्रायण व्रत मुनियों ने कहा है।

यथाकथञ्चित्पिण्डानां तिस्रोऽशीतीः समाहितः ।
मासेनाश्नन्हविष्यस्य चन्द्रस्यैति सलोकताम् ॥२२०॥

जो नियतचित्त होकर एक मास में किसी भी प्रकार से २४० ग्रास हविष्य ही खाकर निर्वाह करता है। वह चन्द्रलोक को जाता है।

एतद्रुद्रास्तथादित्या वसवश्चाचरन्व्रतम् ।
सर्वाकुशलमोक्षाय मरुतश्च महर्षिभिः ॥२२१॥

इस व्रत को रुद्र, सूर्य, वसु, मरुत्, देवता और महर्षियों ने भी सभी पापों से मुक्त होने के लिये किया था।

महाव्याहृतिभिर्होमः कर्तव्यः स्वयमन्वहम् ।
अहिंसासत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत् ॥२२२॥

स्वयं प्रतिदिन महाव्याहृति होम घी से करे। हिंसा, क्रोध और कुटिलता और झूठ न बोले।

त्रिरह्नस्त्रिर्निशायां च सवासा जलमाविशेत् ।
स्त्रीशूद्रपतितांश्चैव नाभिभाषेत कर्हिचित् ॥२२३॥

तीन बार दिन में और तीन बार रात में कपड़े के सहित जल में प्रवेश करे। स्त्री, शूद्र, और पतित के साथ कभी सम्भाषण न करे।

स्थानासनाभ्यां विहरेदशक्तोऽधः शयीत वा ।
ब्रह्मचारी व्रती च स्याद् गुरुदेवद्विजार्चकः ॥२२४॥

अपने स्थान पर घूमे या अपने आसन पर बैठे अथवा अस्वस्थ होने पर भूमिपर सोवे। ब्रह्मचारियों के नियम से (अर्थात् मौञ्जी, मेखला, दण्डधारण करके) रहे और गुरु, देवता और ब्राह्मण की पूजा करे।

सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः ।
सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवं प्रायश्चितार्थमादृतः ॥२२५॥

नित्य सावित्री का जप करे, और अपने सामर्थ्य के अनुसार पवित्र सूक्तों का जप करे। सभी व्रतों में प्रायश्चित्त के लिये ऐसा करना उत्तम है।

एतैर्द्विजातयः शोध्या व्रतैराविष्कृतैनसः ।
अनाविष्कृतपापांस्तु मन्त्रैर्होमैश्च शोधयेत् ॥२२६॥

आविष्कृत (प्रकट) पापों के शमन के लिये द्विजों को पूर्वोक्त चान्द्रायण आदि व्रतों को करना चाहिये। और अनाविष्कृत अर्थात् गुप्त पापों के शान्त्यर्थ मन्त्रों का जप-हवन करना चाहिये।

ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च ।
पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चापदि ॥२२७॥

अपने पापों को लोगों में प्रकट करके पछताने से और तप तथा अध्ययन करने से पाप करने वाला पाप के दोष से मुक्त हो जाता है। और यदि तप आदि करने में असमर्थ हो तो दान करके भी पाप से मुक्त हो सकता है।

यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वानुभाषते ।
तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥२२८॥

जैसे-जैसे मनुष्य अपने किये हुये पापों को लोगों में ठीक-ठीक बताता है वैसे-वैसे वह उस अधर्म से केचुल से साँप की तरह मुक्त होता है।

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति ।
तथा तथा शरीरं तत्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥२२९॥

जैसे-जैसे पापी का मन पापकर्म की निन्दा करता है, वैसे-वैसे उसका शरीर उस पाप से छुटकारा पाता है।

कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते ।
नैवं कुर्यात् पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः ॥२३०॥

पाप करके अपने किये हुये पर पश्चात्ताप करे तो वह उस पाप से छूट जाता है। फिर ऐसा नहीं करूँगा। मन में ऐसा संकल्प करके निवृत हो जाय तो वह पवित्र हो जाता है।

एवं संचिन्त्य मनसा प्रेत्य कर्मफलोदयम् ।
मनोवाङ्मूर्तिभिर्नित्यं शुभं कर्म समाचरेत् ॥२३१॥

इस प्रकार मन से अच्छे और बुरे कर्मों का फल परलोक में अच्छा और बुरा मिलेगा विचारते हुये मन वाणी और शरीर से शुभकर्म को करे।

अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम् ।
तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन्द्वितीयं न समाचरेत् ॥२३२॥

अज्ञान (भूल से) से अथवा ज्ञान (जान बूझ कर) से निन्दित कर्म को करके यदि उसके पाप से छूटना चाहे तो फिर दूसरा निन्दित कर्म न करे।

यस्मिन्कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवम् ।
तस्मिंस्तावत्तपः कुर्याद्यावत्तुष्टिकरं भवेत् ॥२३३॥

जिस कार्य के करने से (प्रायश्चित्तादि) पापात्मा के चित्त को जब तक शान्ति न मिले तब तक उस कर्म को करता रहे।

तपो मूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं सुखम् ।
तपोमध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेददर्शिभिः ॥२३४॥

देवता और मनुष्य के सभी सुख तपोमूलक हैं, तप ही मध्य है और तप ही अन्त है, ऐसा वेदविज्ञों ने कहा है।

ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम् ।
वैशस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य, सेवनम् ॥२३५॥

ब्राह्मण का ज्ञान ही तप है, क्षत्रिय का रक्षण तप है। वैश्य का वार्त्ता (पशुपालानादि) और शूद्र का सेवा ही तप है।

ऋषयः संयतात्मानः फलमूलानिलाशनाः ।
तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥२३६॥

फल-मूल और वायु का सेवन करने वाले संयतात्मा महर्षिगण तपस्या से ही चराचर तीनों लोकों को देखते हैं।

औषधान्यगदो विद्या दैवी च विविधा स्थितिः ।
तपसैव प्रसिद्ध्यन्ति तपस्तेषां हि साधनम् ॥२३७॥

औषध, आरोग्य, विद्या और अनेक प्रकार की दैवी (स्वर्गादिलोकों की स्थिति) तप से ही प्राप्त होते हैं और तपस्या ही उनका साधन है।

यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम् ।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥२३८॥

जो दुस्तर (पार करना कठिन) है, जो दुराप (पाना कठिन हो) है, जो दुर्ग (जहाँ तक पहुँचना कठिन हो) है और जो दुष्कर (जिसे करना कठिन हो) है, वह सब तपस्या से साध्य होता है क्योंकि तपस्या दुर्लभ्य है।

महापातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्यकारिणः ।
तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्विषात्ततः ॥२३९॥

महापातकी तथा शेष अकार्य कर्म करने वाले सुन्दर तपाये हुये तपस्या से तप्त होकर पापमुक्त हो जाते हैं।

कीटाश्चाहिपतङ्गाश्च पशवश्च वयांसि च ।
स्थावराणि च भूतानि दिवं यान्ति तपोबलात् ॥२४०॥

कीट (कीड़े), साँप, पतंग, पशु, पक्षी और स्थावर जीव (वृक्षादि) भी तपोबल से स्वर्ग को जाते हैं।

यत्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति मनोवाङ्मूर्तिभिर्जनाः ।
तत्सर्वं निर्दहन्त्याशु तपसैव तपोधनाः ॥ २४१ ॥

मनुष्य मन या वाणी और शरीर से जो पाप करते हैं। उन सब पापों को तपोधन (तपस्वी) शीघ्र ही अपनी तपस्या से नाश कर देते हैं।

तपसैव विशुद्धस्य ब्राह्मणस्य दिवौकसः ।
इज्याश्च प्रतिगृह्णन्ति कामान्संवर्धयन्ति च ॥ २४२ ॥

देवता तप से विशुद्ध ब्राह्मण का यज्ञ में दिया हुआ हविष्य ग्रहण करते हैं और उसके अभीष्टों की सिद्धि देते हैं।

प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवासृजत्प्रभुः ।
तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥ २४३ ॥

समर्थ ब्रह्मा ने तपस्या से ही इस शास्त्र को बनाया। उसी प्रकार ऋषियों ने भी तपस्या से वेदों को प्राप्त किया।

इत्येतत्तपसो देवा महाभाग्यं प्रचक्षते ।
सर्वस्यास्य प्रपश्यन्तस्तपसः पुण्यमुत्तमम् ॥ २४४ ॥

तपस्या के इस उत्तम पुण्य को देखकर देवता संसार के संपूर्ण सौभाग्य को तपस्या से ही सिद्ध बताते हैं।

वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा ।
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि ॥ २४५ ॥

प्रतिदिन वेदाभ्यास शक्ति के अनुसार करना, पञ्चमहायज्ञ और क्षमा (शान्ति धारण करना) ये कार्य महापातकियों के पापों को भी शीघ्र ही नाश कर देते हैं।

यथैधस्तेजसा वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात् ।
तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित् ॥ २४६ ॥

जिस प्रकार से अग्नि अपने तेज से क्षणभर में ही लकड़ी को भस्म कर देती है। उसी प्रकार वेदज्ञ ब्राह्मण ज्ञानरूपी अग्नि से सभी पापों का नाश कर देता है।

इत्येतदेनसामुक्तं प्रायश्चित्तं यथाविधि ।
अत ऊर्ध्वं रहस्यानां प्रायश्चित्तं निबोधत ॥ २४७ ॥

यह सब यथाविधि प्रकट पापों के प्रायश्चितों को कहा अब अप्रकट पापों के प्रायश्चितों को कहता हूँ।

सव्याहृतिप्रणवकाः प्राणायामस्तु षोडश ।
अपि भ्रूणहणं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः ॥२४८॥

व्याहृति और प्रणव के साथ गायत्री का विधिपूर्वक प्रतिदिन सोलह प्राणायाम करने से एक मास में भ्रूणहत्या करने वाला भी पाप से छूट जाता है। (किन्तु सावित्री का अधिकारी ही इसे कर सकता है)।

कौत्सं जप्त्वाप इत्येतद्वासिष्ठं च प्रतीत्यृचम् ।
माहित्रं शुद्धवत्यश्च सुरापोऽपि विशुध्यति ॥२४९॥

कौत्स का "अपनः शोशुचदधम्" और वसिष्ठ का "प्रतिस्तो मेभिरुषसं" तथा "महित्रीणामवोस्तु" तथा "एतोन्विद्रं स्तवाम" इन ऋचाओं के जप करके सुरापान करने वाला भी एक मास में शुद्ध हो जाता है।

सकृज्जप्त्वास्यवामीयं शिवसंकल्पमेव च ।
अपहृत्य सुवर्णं तु क्षणाद्भवति निर्मलः ॥२५०॥

सुवर्ण की चोरी कर ब्राह्मण एक मास तक प्रतिदिन एक बार "अस्य-वामस्य पलितस्य" और शिव संकल्पं "यज्जाग्रतोदूरम्" इन मन्त्रों का जप करने से शीघ्र ही उस पाप से छूट जाता है।

हविष्यान्तीयमभ्यस्य नतमंह इतीति च ।
जपित्वा पौरुषं सूक्तं मुच्यते गुरुतल्पगः ॥२५१॥

(हविष्यान्तमजरं स्वर्विदि) इन ऋचाओं को अथवा "नतमहोनदुरितम्" इन ऋचाओं को अथवा "इति वा इति मे मन:" अथवा 'सहस्रशीर्षा' इत्यादि पुरुष सूक्त का एक मास तक प्रतिदिन पाठ करने वाला गुरुपत्नीगमन रूपी दोष से मुक्त हो जाता है।

एनसां स्थूलसूक्ष्माणां चिकीर्षन्नपनोदनम् ।
अवेत्यृचं जपेदब्दं यत्किञ्चेदमितीति वा ॥२५२॥

स्थूल और सूक्ष्म पापों से मुक्त होने की इच्छा वाला पुरुष "अवते हेडो वरुण नमोभि:" अथवा "यत् किंचेदं वरुण दैव्ये जने" अथवा 'इति वा इति मे मन:" इन ऋचा और सूक्तों का पाठ प्रतिदिन एक वर्ष तक करे।

प्रतिगृह्याप्रतिग्राह्यं भुक्त्वा चान्नं विगर्हितम् ।
जपंस्तरत्समन्दीयं पूयते मानवस्त्र्यहात् ॥२५३॥

न लेने योग्य दान को लेकर और निषिद्ध अन्न को खाकर 'तरत्समन्दी धावति" इत्यादि ऋचाओं का तीन दिन तक पाठ करने से शुद्ध हो जाता है।

सोमारौद्रं तु बह्वेना माससमभ्यस्य शुध्यति।
स्त्रवन्त्यामाचरन्स्नानमर्यम्णामिति च तृचम् ॥२५४॥

बहुत पाप करने वाला भी "सोमरुद्रा धारयेथामसूर्यम्" और "अर्यमणं वरुणं मित्रं" इत्यादि ऋचाओं का नदी में स्नान करके एक मास तक जप करने से बहु पाप करने वाला भी शुद्ध हो जाता है।

अब्दार्धमिन्द्रमित्येतदेनस्वी सप्तकं जपेत्।
अप्रशस्तं तु कृत्वाप्सु मासमासीत भैक्षभुक् ॥२५५॥

पापी मनुष्य पाप से मुक्त होने के लिए "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निम्" इन सात ऋचाओं का छः मास तक जप करे और जल में मल मूत्रादि करने वाला एक मास पर्यन्त भिक्षा का अन्न खाकर शुद्ध हो जाता है।

मन्त्रैः शाकलहोमीयैरब्दं हुत्वा घृतं द्विजः।
सुगुर्वप्यपहन्त्येनो जप्त्वा वा नम इत्यृचम् ॥२५६॥

शाकल होमीय मन्त्रों से एक वर्ष तक घी से हवन करने से अथवा "नम इन्द्रश्च" इस ऋचा को अथवा "इति वा इति मे मनः" इस मन्त्र का जप करने से द्विज बहुत बड़े-बड़े पाप का भी नाश करता है।

महापातकसंयुक्तोऽनुगच्छेद्गाः समाहितः।
अभ्यस्याब्दं पावमानीर्भैक्षाहारी विशुद्ध्यति ॥२५७॥

महापातकी पुरुष समाहित चित्त होकर एक वर्ष तक भिक्षा के अन्न का भोजन करे और गौओं को चरावे तथा "पावमानी रध्येति" इत्यादि ऋचाओं का जप करे तो पाप से शुद्ध होता है।

अरण्ये वा त्रिरभ्यस्य प्रयतो वेदसंहिताम्।
मुच्यते पातकैः सर्वैः पराकैः शोधितस्त्रिभिः ॥२५८॥

तीन बार पराक व्रत से शुद्ध पुरुष संयत चित्त होकर तीन बार जंगल में वेदसंहिता का पाठ करने से सभी पातकों से शुद्ध हो जाता है।

त्र्यहं तूपवसेद्युक्तस्त्रिरह्नोऽभ्युपयन्नपः।
मुच्यते पातकैः सर्वैस्त्रिर्जपित्वाऽघमर्षणम् ॥२५९॥

तीन दिन उपवास कर संयत चित होकर प्रतिदिन तीन बार (प्रातः मध्याह्न, सायंकाल) स्नान करते समय पानी में "ऋतं च सत्यं च" इस अघमर्षण सूक्त का तीन बार जप करे तो सभी पापों का नाश हो जाता है।

यथाश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापापनोदनः ।
तथाऽघमर्षणं सूक्तं सर्वपापापनोदनम् ॥२६०॥

जिस प्रकार सभी प्रकार के पापों के नाशार्थ यज्ञों का राजा अश्वमेध यज्ञ है उसी प्रकार सभी पापों को नाश करने वाला यह अघमर्षण सूक्त है।

हत्वा लोकानपीमांस्त्रीनश्नन्नपि यतस्ततः ।
ऋग्वेदं धारयन्विप्रो नैनः प्राप्नोति किञ्चन ॥२६१॥

तीनों लोकों की हत्या करके और इधर-उधर भोजन करके भी ऋग्वेद को धारण करने वाला विप्र कुछ भी पाप को नहीं पाता अर्थात् ऋग्वेद के अभ्यासी को कुछ पाप नहीं होता है।

ऋक्संहितां त्रिरभ्यस्य यजुषां वा समाहितः ।
साम्नां वा सरहस्यानां सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥२६२॥

जो समाहित चित्त होकर ऋग्वेद के संहिता को अथवा यजुर्वेद संहिता को अथवा रहस्य के साथ सामवेद को तीन बार अभ्यास करता है। वह सभी पापों से छूट जाता है।

यथा महाह्रदं प्राप्यं क्षिप्तं लोष्टं विनश्यति ।
तथा दुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृत्ति मज्जति ॥२६३॥

जिस प्रकार बड़े तालाब में फेंका हुआ मिट्टी का ढेला नाश हो जाता है उसी प्रकार तीन बार आवृत्त होने वाले वेद के करने से सभी पाप नष्ट हो जाते हैं।

ऋचो यजूंषि चान्यानि सामानि विविधानि च ।
एष ज्ञेयस्त्रिवृद्वेदो यो वेदैनं स वेदवित् ॥२६४॥

ऋग्वेद और यजुर्वेद के मन्त्र तथा सामवेद के अनेक मन्त्र इन तीनों वेदों के अलग-अलग मन्त्र ब्राह्मण ही त्रिवृत् वेद कहलाता है जो इनको जानता है वही वेदवित् होता है।

आद्यं यत्त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन्प्रतिष्ठिता ।
स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्वेदो यस्तं वेद स वेदवित् ॥२६५॥

आदि जो त्र्यक्षर ब्रह्म (ॐ) हैं जिसमें तीनों वेद स्थित हैं, वह प्रथम संज्ञक, दूसरा गुह्य त्रिवृत् है उसे जो जानता है वही वेदवित् है।

इति एकादश अध्याय समाप्तं ।

●

द्वादशोऽध्यायः (१२)

चातुर्वर्णस्य कृत्स्नोऽयमुक्तो धर्मस्त्वयानघ ।
कर्मणां फलनिर्वृत्तिं शंस नस्तत्त्वतः पराम् ॥ १ ॥

हे अनघ ! चारों वर्णों के धर्म को आपने कहा। अब जन्मान्तर में शुभाशुभ कर्मों का जो फल मिलता है उसे कहिये।

स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः ।
अस्य सर्वस्य शृणुत कर्मयोगस्य निर्णयम् ॥ २ ॥

वह धर्मात्मा मनु के पुत्र भृगु ने महर्षियों से कहा—इस सम्पूर्ण कर्मयोग का निर्णय सुनो।

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम् ।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः ॥ ३ ॥

शुभाशुभ फल देने वाले कर्म का उत्पत्ति स्थान मन, वाणी और देह है कर्म से ही मनुष्यों की उत्तम, मध्यम और अधम गति होती है।

तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः ।
दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात्प्रवर्तकम् ॥ ४ ॥

उस शरीर सम्बन्धी त्रिविध (तीनों उत्तम, मध्यम, अधम) और दश लक्षण से युक्त तीनों (मन, वाणी, शरीर) अधिष्ठानों के आश्रय में रहने वाले धर्मों का प्रवर्तक मन ही होता है ऐसा जानना चाहिये।

नोट—क्योंकि तैतरिय उपनिषद में यह लिखा है कि पुरुष मन से जो विचार करता है वही वाणी से बोलता है और जो वाणी से बोलता है वही कर्म करता है।

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम् ।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥ ५ ॥

दूसरे का धन लेने की बात, अन्याय सोचना चित्त में दूसरे के अनिष्ट का चिन्तन करना, मिथ्या अभिनिवेश (स्वर्ग नहीं है जो कुछ है वह शरीर ही है) करना ये तीनों प्रकार के अशुभ फल देने वाले मानस कर्म हैं।

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः ।
असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥ ६ ॥

कठोर और झूठ बोलना, दूसरे के दोषों को बताना और बिना अभिप्राय के वचन को बोलाना ये चार प्रकार के अशुभ फल देने वाले वाणी के कर्म हैं।

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥७॥

न दी हुई वस्तु को बलपूर्वक ले लेना, बिना विधान के हिंसा करना और परस्त्री का सेवन ये तीन प्रकार के शारीरिक दुष्कर्म हैं।

मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम् ।
वाचा वाचा कृतं कर्म कायेनैव च कायिकम् ॥८॥

मन से किये हुये कर्म का फल मन से, वाणी से किया हुआ वचन से और देह से किया हुआ कर्म का फल देह से ही भोगना पड़ता है।

शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥९॥

शरीर से उत्पन्न कर्मदोषों के फलों से मनुष्य स्थावरता, वाचिक दोषों से पक्षी और मृगत्व को और मानस दोषों से चाण्डलादि जाति को प्राप्त होता है।

वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च ।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते ॥१०॥

वाग्दण्ड, मनोदण्ड और देहदण्ड ये जिसके बुद्धि, में स्थित हैं उसको त्रिदण्डी कहते हैं (अर्थात् जो बुद्धि, मन, वचन और शरीर से दुष्कर्मों से अलग रहता है)।

त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः ।
कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं नियच्छति ॥११॥

जो मनुष्य काम-क्रोध का संयम करके सभी प्राणियों में इस त्रिदण्ड का व्यवहार करता है, वह सिद्धि को प्राप्त होता है।

योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ।
यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥१२॥

जो आत्मा से कर्म कराता है उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं। और जो कर्मों को करता है। उसको पण्डित लोग भूतात्मा कहते हैं।

जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ।
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥१३॥

जीव संज्ञक अन्तरात्मा इससे भिन्न है। जो कि सब प्राणियों में सहज है। और जिससे जन्म के सभी सुख और दुःखों को जाना जाता है।

तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान्क्षेत्रज्ञ एव च ।
उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ॥ १४ ॥

वे दोनों महान् और क्षेत्रज्ञ भूतों से (पञ्चभूतों से) मिलकर सभी छोटे-बड़े जीवों में स्थिर होकर उस परमात्मा के आश्रय से रहते हैं।

असंख्या मूर्तयस्तस्य निष्पतन्ति शरीरतः ।
उच्चावचानि भूतानि सततं चेष्टयन्ति याः ॥ १५ ॥

उस परमात्मा के शरीर से असंख्य मूर्त्तियाँ निकलती हैं और जो छोटे-बड़े सभी जीवों को सत्कर्मों में प्रवृत्ति कराती है।

पञ्चभ्य एव मात्राभ्यः प्रेत्य दुष्कृतिनां नृणाम् ।
शरीरं यातनार्थीयमन्यदुत्पद्यते ध्रुवम् ॥ १६ ॥

पापात्मा मनुष्यों के पञ्चभौतिक शरीर से ही एक सूक्ष्म शरीर निश्चय करके परलोक में दुःख भोगने के लिये उत्पन्न होता है।

तेनानुभूयता यामीः शरीरेणेह यातनाः ।
तास्वेव भूतमात्रासु प्रलीयन्ते विभागशः ॥ १७ ॥

पापात्मा मनुष्य उस शरीर से यमयातना का अनुभव करके फिर उन्हीं भूतों की मात्राओं में यथा-विभाग लीन होते हैं।

सोऽनुभूयासुखोदर्कान्दोषान्विषयसङ्गजान् ।
व्यपेतकल्मषोऽभ्येति तावेवोभौ महौजसौ ॥ १८ ॥

वह शरीरधारी जीवात्मा विषयभोग से उत्पन्न यमलोकगत यातनाओं के उपभोग करने के बाद पाप रहित होकर महातेजस्वी महत्तत्त्व और परमात्मा दोनों का आश्रित होता है।

तौ धर्मं पश्यतस्तस्य पापं चातन्द्रितौ सह ।
याभ्यां प्राप्नोति संपृक्तः प्रेत्येह च सुखासुखम् ॥ १९ ॥

वे दोनों महत् और परमात्मा अनालस्य होकर उसके धर्म और पाप को देखते हैं, जिससे (धर्म और अधर्म से) युक्त होकर जीव इस लोक और परलोक में सुख और दुःख को पाते हैं।

यद्याचरति धर्मं स प्रायशोऽधर्ममल्पशः ।
तैरेव चावृतो भूतैः स्वर्गे सुखमुपाश्नुते ॥ २० ॥

वह जीव यदि अधिक धर्म और थोड़ा पाप करता है तो उन भूतों (पञ्चभूतों) से स्थूलशरीर के रूप में जन्म लेकर स्वर्ग में सुख भोगता है।

यदि तु प्रायशोऽधर्मं सेवते धर्ममल्पशः।
तैर्भूतैः स परित्यक्तो यामीः प्राप्नोति यातनाः ॥ २१॥

यदि वह जीव अधिक पाप और धर्म थोड़ा करता है तो उन भूतों से परित्यक्त होकर यमयातना भोगता है।

यामीस्ता यातनाः प्राप्य स जीवो वीतकल्मषः।
तान्येव पञ्च भूतानि पुनरप्येति भागशः ॥ २२॥

वह जीव यमयातना को भोगकर निष्पाप होकर फिर उन्हीं पञ्चतत्त्वों का यथाभाग आश्रय पाता है।

एता दृष्ट्वास्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा।
धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात्सदा मनः ॥ २३॥

अपने चित्त से इस जीव की धर्म और अधर्म से उत्पन्न गति को देखकर सदा धर्म में मन को लगावे।

सत्त्वं रजस्तमश्चैव त्रीन्विद्यादात्मनो गुणान्।
यैर्व्याप्येमान्स्थितो भावान्महान्सर्वानशेषतः ॥ २४॥

आत्मा के सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। जिनसे (सत्त्व, रज और तम गुणों से) व्याप्त होकर यह आत्मा सभी स्थावर-जङ्गमरूप सृष्टि में होता है।

यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥ २५॥

इन गुणों में जो गुण जिसके शरीर में जब सम्पूर्ण रूप से अधिक होता है, तब वह उस शरीर को प्रायः उसी गुण का कर देता है।

सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम्।
एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥ २६॥

ज्ञान सत्व गुण का, अज्ञान तमोगुण का और राग-द्वेष रजोगुण का लक्षण है, इन गुणों के स्वरूप से व्याप्त सभी प्राणियों की शरीर होती है।

तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत्।
प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत् ॥ २७॥

जो आत्मा में कुछ भी प्रीति से युक्त हो प्रशान्त और निर्मल मालूम होता हो उसे सत्त्वगुण से युक्त जानना चाहिये।

यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।
तद्रजो प्रतिपं विद्यात्सततं हारि देहिनाम् ॥ २८ ॥

जो दुःख से युक्त हो, आत्मा को अप्रीतिकारक हो और सर्वदा विषय की इच्छा वाला हो वह सतोगुण के विरोधी रजोगुण से युक्त होता है।

यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपमधारयेत् ॥ २९ ॥

जो मोह से युक्त (विवेक रहित) हो, अप्रकट विषयी, अतर्क्य अविज्ञेय हो वह तमोगुणी होता है।

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः ।
अग्र्यो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ ३० ॥

इन तीनों गुणों का जो उत्तम मध्यम और अधम फलोदय है उसको निःशेष कहता हूँ।

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥ ३१ ॥

वेदाभ्यास, तपस्या, ज्ञान (शास्त्रों का), पवित्रता, इन्द्रियों का निग्रह, धर्म कार्य और आत्मा का चिन्तन ये सात्त्विकगुण के लक्षण हैं।

आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः ।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥ ३२ ॥

फल की इच्छा से कर्म करना, अधैर्य, निन्दनीय कर्मों का आचरण और सदा विषय भोग करना ये रजोगुण के लक्षण हैं।

लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥ ३३ ॥

लोभ, स्वप्न, (निद्रालुता) असन्तोष, क्रूरता, नास्तिकता, अनाचार, याचकवृत्ति, प्रमाद (धर्माचरण में) ये तमोगुण के लक्षण हैं।

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां त्रिषु तिष्ठताम् ।
इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशो गुणलक्षणम् ॥ ३४ ॥

तीनों काल में विद्यमान इन तीनों गुणों के लक्षण संक्षेप से जानना चाहिये।

यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति ।
तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ॥ ३५ ॥

जिस कर्म को करके, करते हुये, अथवा आगे करता है और उससे लज्जित होता है। उसे पण्डित लोग तमोगुण का लक्षण कहते हैं।

येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम् ।
न च शोचत्यसंपत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥ ३६ ॥

जिस कर्म से इस लोक में बहुत बड़ी प्रसिद्धि की इच्छा करता है और असम्पत्ति में जिस कर्म को नहीं सोचता उस कर्म को रजोगुण का लक्षण कहते हैं।

यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन् ।
येनतुष्यति चात्माऽस्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥ ३७ ॥

जिस कर्म से कर्ता की यह इच्छा हो कि यह सबको ज्ञात हो और जिसको करते हुये लज्जित न होना पड़े। और जिस कर्म से आत्मा को सन्तोष होता हो उस कर्म को सत्त्वगुण का लक्षण कहते हैं।

तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते ।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥ ३८ ॥

तमोगुण का लक्षण काम, अर्थ (धन) में निष्ठा रजोगुण का, और धर्माचरण सतोगुण का लक्षण है ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं।

येन यस्तु गुणेनैषां संसारान्प्रतिपद्यते ।
तान्समासेन वक्ष्यामि सर्वस्यास्य यथाक्रमम् ॥ ३९ ॥

इन गुणों (सत्त्वादि गुणों) में जो जिस गति को प्राप्त होता है। इस जगत् में उन गतियों को यथाक्रम कहते हैं।

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः ।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥ ४० ॥

सात्त्विक मनुष्य देवत्व को, राजसगुण वाला मनुष्यत्व को और तामस-गुण वाला तिर्यक् योनि को प्राप्त होता है। नित्य इन तीनों प्रकृतियों की यही तीन गतियाँ होती हैं।

त्रिविधा त्रिविधैषा तु विज्ञेया गौणिकी गतिः ।
अधमा मध्यमाऽग्र्या च कर्मविद्या विशेषतः ॥ ४१ ॥

गुणभेद से बनी हुई यह त्रिविधगति कही है। वह कर्म और विद्या की विशेषता से उत्तम, मध्यम, और श्रेष्ठ तीन प्रकार की हो जाती है।

स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः ।
पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः ॥४२॥

स्थावर (वृक्षादि), कृमि, कीट, मछली, सर्प, कछुआ, पशु और मृग ये सब तमोगुण की अधम गति है।

हस्तिनश्च तुरङ्गाश्च शूद्रा म्लेच्छाश्च गर्हिता ।
सिंहा व्याघ्रा वराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः ॥४३॥

हाथी, घोड़े, शूद्र, निन्दित म्लेच्छ जाति, सिंह, व्याघ्र और सूअर ये तामस वृत्ति की मध्यम गति हैं।

चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दाम्भिकाः ।
रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीषूत्तमा गतिः ॥४४॥

चारण, गरुण, दाम्भिक पुरुष, राक्षस और पिशाच ये तामसी गुण की उत्तम गतियाँ हैं।

झल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषा शस्त्रवृत्तयः ।
द्यूतपानप्रसक्ताश्च जघन्या राजसी गतिः ॥४५॥

झल्ला (लाठी चलाने वाला), मल्ल (पहलवान), नट, शस्त्र जीवी, जूआ और मदिरा पीने वाले ये रजोगुण की अधम गति है।

राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञां चैव पुरोहिताः ।
वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥४६॥

राजा, क्षत्रिय, राजाओं के पुरोहित और विवाद करने में प्रधान ये राजस गुण की मध्यम गति हैं।

गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधानुचराश्च ये ।
तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीषूत्तमा गतिः ॥४७॥

गन्धर्व, गुह्यक, यक्ष, देवताओं के अनुचर (विद्याधर) और अप्सरा ये रजोगुण की उत्तम गति है।

तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः ।
नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः ॥४८॥

तापस (वानप्रस्थ), संन्यासी, ब्राह्मण, वैज्ञानिक नक्षत्र और दैत्य ये सत्त्वगुण की अधमगति है।

यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः ।
पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः ॥४९॥

यज्ञकर्ता, ऋषि, देवता, वेदाभिमानी, ज्योति (ध्रुवादि), वत्सर (वर्ष) पितृगण, साध्यगण ये सत्वगुण की मध्यमगति है।

ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च ।
उत्तमां सात्त्विकीमेनां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥५०॥

ब्रह्मा, विश्वसृज (मरीचि आदि), धर्म महान् और अव्यक्त इनको महर्षियों ने सत्त्वगुण की उत्तम गति कहा है।

एष सर्वः समुद्दिष्टस्त्रिप्रकारस्य कर्मणः ।
त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः संसारः सार्वभौतिकः ॥५१॥

तीन प्रकार के कर्मों के ये तीन प्रकार के सब प्राणियों से सम्बन्धित गतियों को कहा।

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्यासेवनेन च ।
पापान्संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः ॥५२॥

इन्द्रियों के प्रसङ्ग से और धर्म का आचरण न करने से मूर्ख अधम मनुष्य इस संसार में पापयोनि को प्राप्त होते हैं।

यां यां योनिं तु जीवोऽयं येन येनेह कर्मणा ।
क्रमशो याति लोकेऽस्मिंस्तत्तत्सर्वं निबोधत ॥५३॥

इस संसार में जिन-जिन कर्मों द्वारा जिन-जिन योनियों को जीव प्राप्त होते हैं उन सबको क्रम से सुनो।

बहून्वर्षगणान्घोरान्नरकान्प्राप्य तत्क्षयात् ।
संसारान्प्रतिपद्यन्ते महापातकिनस्त्विमान् ॥५४॥

महापातकी मनुष्य अनेकों वर्ष पर्यन्त घोर नरक को प्राप्त कर पाप का नाश होने पर इन योनियों (आगे कही हुई) को प्राप्त होता है।

श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम् ।
चण्डालपुक्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥५५॥

ब्रह्महत्या करने वाला क्रम से कुत्ता, सूअर, गधा, ऊँट, गौ, बकरा, भेंड़, मृग, पक्षी, चाण्डाल और पुक्कस योनि को प्राप्त होता है।

कृमिकीटपतङ्गानां विड्भुजां चैव पक्षिणाम् ।
हिंस्राणां चैव सत्त्वानां सुरापो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥५६॥

मदिरा पीने वाला ब्राह्मण कृमि, कीट, पतङ्ग, विष्टा भोजन करने वाला

पक्षी और हिंसा करने वाले जन्तु के योनि में उत्पन्न होता है।

लूताहिसरटानां च तिरश्चां चाम्बुचारिणाम्।
हिंस्राणां च पिशाचानां स्तेनो विप्रः सहस्रशः ॥५७॥

सोना को चुराने वाला ब्राह्मण मच्छड़, साँप, गिरगिट, पक्षी, जल में रहने वाले (ग्राह आदि) और हिंसा करने वाले पिशाचों की योनि में उत्पन्न होते हैं।

तृणगुल्मलतानां च क्रव्यादां दंष्ट्रिणामपि।
क्रूरकर्मकृतां चैव शतशो गुरुतल्पगः ॥५८॥

गुरुपत्नी गमन करने वाला तृण, गुल्म, लता, कच्चे मांस खाने वाला पक्षी (गिद्ध आदि) और दाँत वाले (हिंसा आदि) तथा क्रूर कर्म करने वाले बधिक आदि दुष्ट योनि में सैकड़ों बार जन्म लेते हैं।

हिंस्रा भवन्ति क्रव्यादाः कृमयोऽभक्ष्यभक्षिणः।
परस्परादिनः स्तेनाः प्रेतान्त्यस्त्रीनिषेविणः ॥५९॥

हिंसा करने वाले, कच्चे मांस खाने वाले (गिद्ध आदि) होते हैं, अभक्ष्य खाने वाले कृमि होते हैं। सुवर्ण की चोरी करने वाले परस्पर मांस खाने वाले कुत्ते आदि होते हैं और चाण्डाल स्त्री के साथ गमन करने वाले प्रेत होते हैं।

संयोगं पतितैर्गत्वा परस्यैव च योषितम्।
अपहृत्य च विप्रस्वं भवति ब्रह्मराक्षसः ॥६०॥

पतित के साथ संसर्ग रखने वाला, दूसरे के स्त्री के साथ सम्बन्ध रखने वाला और ब्राह्मण का धन हरण करने वाला ब्रह्मराक्षस होता है।

मणिमुक्ताप्रवालानि हृत्वा लोभेन मानवः।
विविधानि च रत्नानि जायते हेमकर्तृषु ॥६१॥

जो मनुष्य लोभ से मणि, मोती, मूँगा और अनेक प्रकार के रत्नों का अपहरण करता है। वह सोनार होता है।

धान्यं हृत्वा भवत्याखुः कांस्यं हंसो जलं प्लवः।
मधु दंशः पयः काको रसं श्वा नकुलो घृतम् ॥६२॥

धान चुराने वाला मूसा, काँसा चुराने वाला हंस, जल चुराने वाला प्लव पक्षी, मधु चुराने वाला दंस, दूध चुराने वाला कौआ, रस चुराने वाला कुत्ता और घी चुराने वाला नेवला होता है।

मांसं गृध्रो वपां मद्गुस्तैलं तैलपकः खगः।
चीरीवाकस्तु लवणं बलाका शकुनिर्दधि ॥६३॥

मांस चुराने वाले गृध्र, चर्बी चुराने वाले मदगुपक्षी, तेल चुराने वाले तैलपक पक्षी, नमक चुराने वाले झिल्ली और दही चुराने वाले बलाका होते हैं।

कौशेयं तित्तिरिर्हत्वा क्षौमं हृत्वा तु दर्दुरः ।
कार्पासतान्तवं क्रौञ्चो गोधा गां वाग्गुदो गुडम् ॥६४॥

कौशेय (रेशमी वस्त्र) चुराने वाला तीतर पक्षी, और वस्त्र को चुराने वाला मेढ़क, ऊनी वस्त्र चुराने वाला कौआ पक्षी, गाय चुराने वाला गो और गुड़ चुराने वाला वाग्गुद पक्षी होता है।

छुच्छुन्दरिः शुभान्गन्धान्पत्रशाकं तु बर्हिणः ।
श्वावित्कृतान्नं विविधमकृतान्नं तु शल्यकः ॥६५॥

पदार्थ वाले, अच्छे गन्ध वाले (केसर-कस्तूरी आदि) चुराने वाला छुछुन्दर, पत्ता और शाक चुराने वाला मोर (मयूर), पकाया हुआ अन्न चुराने वाला श्वावित और अपक्क अन्न चुराने वाला शल्यक होता है।

वको भवति हृत्वाग्निं गृहकारी ह्युपस्करम् ।
रक्तानि हृत्वा वासांसि जायते जीवजीवकः ॥६६॥

अग्नि चुराने वाला बगुला, उपस्कर (चलनी, सूप आदि) को चुराने वाला दीमक और रंगे हुये वस्त्रों को चुराने वाला चकोर होता है।

वृको मृगेभं व्याघ्रोऽश्वं फलमूलं तु मर्कटः ।
स्त्रीमृक्षः स्तोकको वारि यानान्युष्ट्रः पशूनजः ॥६७॥

मृग और हाथी चुराने वाला भेड़िया, घोड़ा चुराने वाला बाघ, फल-मूल चुराने वाला बानर, स्त्री चुराने वाला भालू, पीने का पानी चुराने वाला पपीहा, यान (गाड़ी-रथ आदि) चुराने वाला ऊँट और साधारण पशुओं को चुराने वाला बकरा होता है।

यद्वा तद्वा परद्रव्यमपहृत्य बलान्नरः ।
अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाहुतं हविः ॥६८॥

जिस किसी प्रकार से बलात् दूसरे का द्रव्य हरण कर और हवन के लिये रखी हुई हवि (घी आदि) को खाकर मनुष्य निश्चय तिर्यक् योनि में जाता है।

स्त्रियोऽप्येतेन कल्पेन हृत्वा दोषमवाप्नुयुः ।
एतेषामेव जन्तूनां भार्यात्वमुपयान्ति ताः ॥६९॥

स्त्रियाँ भी इस प्रकार चोरी करने पर पाप की भागिनी होती हैं, अन्त में पूर्वोक्त पाप के कारण उपरोक्त जन्तुओं की स्त्रियाँ होती हैं।

स्वेभ्यः स्वेभ्यस्तु कर्मभ्यश्चयुता वर्णा ह्यनापदि ।
पापान्संसृत्य संसारान्प्रेष्यतां यान्ति शत्रुषु ॥७०॥

निरापद अवस्था में चारों वर्ण यदि अपने-अपने कर्मों से च्युत हो जाँय तो संसार में पापयोनि को प्राप्त होकर शत्रु के दास होते हैं।

वान्ताश्युल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः ।
अमेध्यकुणपाशी च क्षत्रियः कटपूतनः ॥७१॥

यदि ब्राह्मण अपने कर्म से भ्रष्ट हो जाय तो वमन खाने वाला उल्का-मुख नाम का प्रेत होता है। क्षत्रिय अपने कर्म से भ्रष्ट हो तो वह विष्टा और मुर्दा खाने वाला कटपूतन नामक प्रेत होता है।

मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतो वैश्यो भवति पूयभुक् ।
चैलाशकश्च भवति शूद्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः ॥७२॥

यदि वैश्य अपने कर्म से रहित हो तो पीव खाने वाला मैत्राक्ष ज्योतिक नामक प्रेत होता है और शूद्र अपने कर्म से च्युत हो तो वह चैलाशक नाम का प्रेत होता है।

यथा यथा निषेवन्ते विषयान्विषयात्मकाः ।
तथा तथा कुशलता तेषां तेषूपजायते ॥७३॥

विषय को चाहने वाले जैसे-जैसे विषयों को सेवन करते हैं वैसे-वैसे उनकी उनमें कुशलता बढ़ती जाती है।

तेऽभ्यासात्कर्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः ।
संप्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु ॥७४॥

अल्पबुद्धि वाले उन पापकर्मों के अभ्यास से जन्म-जन्म में उन-उन योनियों में उत्पन्न होकर दुःखों को पाते हैं।

तामिस्रादिषु चाग्रेषु नरकेषु विवर्तनम् ।
असिपत्रवनादीनि बन्धनच्छेदनानि च ॥७५॥

फिर भी तामिस्र आदि उग्र नरकों में वास करते हैं। असिपत्रवन आदि और बन्धनच्छेदन आदि नरकों को भोगते हैं।

विविधाश्चैव संपीडाः काकोलूकैश्च भक्षणम् ।
करम्भवालुकातापान्कुम्भीपाकांश्च दारुणान् ॥७६॥

और अनेक प्रकार की पीड़ायें पाते हैं। और कौआ तथा उल्लू के भोजन होते हैं। तपे हुए बालू पर चलना पड़ता है और कुम्भीपाक के कठिन यातनाओं को भोगना पड़ता है।

संभवांश्च वियोनीषु दुःखप्रायासु नित्यशः ।
शीतातपाभिघातांश्च विविधानि भयानि च ॥७७॥

दुःख प्राय वियोनियों के योनि में जन्म लेकर जाड़ा-गरमी के कष्ट और अनेक प्रकार के भय सदा पाते हैं।

असकृद् गर्भवासेषु वासं जन्म च दारुणम् ।
बन्धनानि च काष्ठानि परप्रेष्यत्वमेव च ॥७८॥

बारम्बार गर्भ में बास करते हैं, दुःखद जन्म लेते हैं। अनेक प्रकार के बन्धनों को भोगते हैं और दूसरों के दास होते हैं।

बन्धुप्रियवियोगांश्च संवासं चैव दुर्जनैः ।
द्रव्यार्जनं च नाशं च मित्रामित्रस्य चार्जनम् ॥७९॥

अपने प्रिय बन्धुओं का वियोग, दुर्जनों के साथ सहवास, द्रव्य का लाभ और हानि और मित्र तथा शत्रु के झगड़े लगे रहते हैं।

जरां चैवाप्रतीकारां व्याधिभिश्चोपपीडनम् ।
क्लेशांश्च विविधस्तांस्तान्मृत्युमेव च दुर्जयम् ॥८०॥

ऐसा बुढ़ापा जिसका प्रतीकार न हो, अनेक प्रकार के व्याधियों का कष्ट और भी अनेक प्रकार के क्लेशों को सहते हुये दुर्गम मृत्यु को पाते हैं।

यादृशेन तु भावेन यद्वत्कर्म निषेवते ।
तादृशेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते ॥८१॥

जिन-जिन भावों से जो कर्म करता है वैसे ही शरीर से वह उन-उन कर्मों के फल को भोगता है।

एष सर्वः समुद्दिष्टः कर्मणां वः फलोदयः ।
निश्श्रेयसकरं कर्म विप्रस्येदं निबोधतः ॥८२॥

यह सब कर्मों का फल तुमसे कहा। अब यह ब्राह्मण के निःश्रेयस (मुक्ति) देने वाले कर्मों को सुनो।

वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः ।
अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम् ॥८३॥

वेदाभ्यास, तपस्या, ज्ञान, इन्द्रियों का संयम, अहिंसा और गुरुसेवा यह सब मुक्ति देने वाले हैं।

सर्वेषामपि चैतेषां शुभानामिह कर्मणाम् ।
किञ्चिच्छ्रेयस्करतरं कर्मोक्तं पुरुषं प्रति ॥८४॥

इन सभी (वेदाभ्यास आदि) शुभकर्मों में कोई एक ही कर्म और कर्मों से अधिक श्रेयस्कर पुरुष के लिये है।

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् ।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥८५॥

इन सभी कर्मों में आत्मज्ञान सबसे श्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि वही सभी विद्याओं में श्रेष्ठ है। उससे अमृतत्त्व का लाभ होता है।

षण्णामेषां तु सर्वेषां कर्मणां प्रेत्य चेह च ।
श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम् ॥८६॥

इन छः कर्मों में वैदिक धर्म ही इस लोक और परलोक दोनों लोकों के लिये कल्याणकारी होता है।

वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेषतः ।
अन्तर्भवन्ति क्रमशस्तस्मिंस्तस्मिन्क्रियाविधौ ॥८७॥

वैदिक कर्मयोग में ईश्वर की उपासना में सम्पूर्ण क्रियाओं का क्रमशः विधि द्वारा अन्तर्भाव होता है।

सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च ।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥८८॥

सुख और अभ्युदय को करने वाला तथा मुक्ति को देने वाला इस तरह प्रवृत्त और निवृत्त दो प्रकार के वैदिक कर्म हैं।

इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते ।
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥८९॥

इस संसार में (सुखादि के लिये) अथवा स्वर्गादि प्राप्ति के लिये जो काम (अकाम) कर्म किये जाते हैं उसे प्रवृत्त और ज्ञानपूर्वक जो निष्काम कर्म किया जाता है उसे निवृत्त कहते हैं।

प्रवृत्तं कर्म संसेव्यं देवानामेति साम्यताम् ।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै ॥९०॥

प्रवृत्त कर्म का सेवन करके (मनुष्य) देवताओं की समानता को प्राप्त होता है। और निवृत्त कर्म को करने वाला भूतों को (पञ्चमहाभूतों को) जीत लेता है। (अर्थात् मुक्त होने पर फिर शरीर को नहीं धारण करता है।)

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥९१॥

सभी प्राणियों में अपने को और सभी प्राणियों को अपने में देखता हुआ स्वाराज्य (ब्रह्मत्व) को पाता है।

यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः ।
आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान् ॥९२॥

द्विजोत्तम यथोक्त (शास्त्रोक्त) कर्मों को छोड़कर भी आत्मज्ञान, इन्द्रिय निग्रह, और वेदाभ्यास में यत्नशील रहे।

एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः ।
प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा ॥९३॥

विशेषकर ब्राह्मण के जन्म लेने की सफलता इसी में है। इसको पाकर द्विज कृतकृत्य होता है, अन्यथा नहीं।

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥९४॥

पितरों, देवताओं और मनुष्यों का सनातन नेत्र वेद ही है। वेद शास्त्र अशक्य और अप्रमेय है।

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥९५॥

जो स्मृतियाँ वेद से बाहर हैं, जो कुतर्कयुक्त हैं–वे सब परलोक के लिये निष्फल होती हैं, क्योंकि वे तमोनिष्ठ हैं।

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥९६॥

जो कोई भी शास्त्र वेद से बहिर्भूत हैं वे उत्पन्न होते है और नष्ट हो जाते हैं और अर्वाचीन काल के होने के कारण निष्फल होते हैं।

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ॥९७॥

चारोवर्ण, तीनों लोक, चारों आश्रम और भूत, भव्य, और भविष्य ये तीनों काल वेद से ही सिद्ध होते हैं।

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिर्गुणकर्मतः ॥९८॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पाँचवाँ गन्ध ये सब प्रसूति गुण कर्मानुसार वेद से ही उत्पन्न होते हैं।

विभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥९९॥

सनातन वेदशास्त्र ही सभी प्राणियों का भरण-पोषण करता है। इसलिये यह जीवों का उत्तम पुरुषार्थ साधन है, यह हम मानते हैं।

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्त्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥१००॥

सेनापतित्व, राज्य, दण्ड-विधान और सभी लोकों का स्वामित्व यह सब वेदज्ञ ही करने लायक हैं।

यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान् ।
तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः ॥१०१॥

जैसे तीव्र अग्नि हरे पेड़ों को भी जला देती है उसी प्रकार वेदज्ञ अपने किये हुये कर्म के दोषों का भी नाश कर देता है।

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ।
इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥१०२॥

वेद शास्त्र के अर्थ के तत्त्व को जानने वाला चाहे जिस किसी आश्रम में बास करता हुआ इस लोक में ही ब्रह्मत्व को प्राप्त होता है।

अज्ञेभ्योग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः ।
धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः ॥१०३॥

मूर्खों से ग्रन्थ पढ़ने वाले श्रेष्ठ होते हैं। ग्रन्थ पढ़ने वालों से धारण करने वाले श्रेष्ठ, धारण करने वालों से ज्ञानी श्रेष्ठ और ज्ञानियों से भी निष्काम कर्म करने वाला श्रेष्ठ होता है।

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम् ।
तपसा किल्विषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥१०४॥

तप और विद्या ब्राह्मण के लिये परम कल्याण कारक है। तप सदा पाप को नाश करता है और विद्या से मुक्ति मिलती है।

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् ।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥१०५॥

धर्म शुद्धि की इच्छा रखने वाले को प्रत्यक्ष, अनुमान और अनेक प्रकार के आगम शास्त्र इन तीनों का अच्छी तरह ज्ञान कर लेना चाहिये।

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥१०६॥

वेद शास्त्र से अविरुद्ध ऋषियों से कहा हुआ जो धर्मोपदेश है उसे जो तर्क द्वारा अनुसन्धान करता है वही वेद जानता है। दूसरा नहीं।

नैःश्रेयसमिदं कर्म यथोदितमशेषतः ।
मानवस्यास्य शास्त्रस्य रहस्यमुपदिश्यते ॥१०७॥

यह सम्पूर्ण मुक्ति साधन का कर्म कहा। अब मानव शास्त्र के रहस्य को कहता हूँ।

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥१०८॥

धर्मों में जिनका नाम करण नहीं किया गया है प्रसंग उपस्थित होने पर कैसे करना चाहिये। ऐसे प्रसंग में जो धर्मष्ट ब्राह्मण बतलावें। उसे ही करना चाहिये।

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥१०९॥

धर्म के नियम से जिन ब्राह्मणों ने वेदाङ्ग के साथ वेद को प्राप्त किया है। वे ही शिष्ट ब्राह्मण हैं। और वे ही श्रुति को प्रत्यक्ष करने में हेतु हैं।

दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥११०॥

दश शिष्ट ब्राह्मणों की एक दशावरा धर्म परिषद् की कल्पना करे। अथवा दश के अभाव में सदाचार से युक्त तीन ही ब्राह्मणों की त्र्यवरा धर्म परिषद् की कल्पना करे। यह परिषद् जिस धर्म की व्यवस्था करे वह धर्म ही है उसमें शंका न करे।

त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा ॥१११॥

तीन वेदज्ञ, एक न्याय शास्त्र का ज्ञाता, एक मीमांसक, एक निरुक्त जानने वाला, एक धर्म शास्त्र का जानने वाला, तीन पूर्व आश्रम वाले (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ को भोगने वाला) इन दशों से दशावरा परिषद् होती है।

ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥११२॥

एक ऋग्वेद को जानने वाला, एक यजुर्वेद को जानने वाला और एक सामवेद को जानने वाला इन तीनों से धर्म के संशय का निर्णय करने के लिए एक त्र्यम्बरा धर्म परिषद् होती है।

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥११३॥

एक भी वेद का जानने वाला उत्तम ब्राह्मण जिस धर्म की व्यवस्था करे वह परमधर्म जानना चाहिये। एक सहस्र मूर्खों (वेद के न जानने वालों का) का निर्णय धर्म नहीं होता है।

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥११४॥

ब्रह्मचर्यादि व्रतों से हीन, वेदमन्त्रों से शून्य, केवल जाति मात्र से जीने वाले (अर्थात् जो केवल ब्राह्मण है ऐसा कहलाने वाले) हजारों व्यक्ति के एकत्र होने से वह धर्म परिषद् नहीं हो सकती है।

यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः ।
तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तृननुगच्छति ॥११५॥

धर्म को न जानने वाले तमोगुण से भरे हुए मूर्ख जिस किसी को प्रायश्चित्तादि धर्मोपदेश करते हैं वह पाप सौ गुना होकर उन बताने वाले के ऊपर सवार होता है।

एतद्वोऽभिहितं सर्वं निःश्रेयसकरं परम् ।
अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥११६॥

यह सब निःश्रेयस (मोक्ष) साधक धर्म तुमसे कहा। इससे च्युत न होने वाला ब्राह्मण परमगति को पाता है।

एवं स भगवान्देवो लोकानां हितकाम्यया ।
धर्मस्य परमं गुह्यं ममेदं सर्वमुक्तवान् ॥११७॥

इस प्रकार वह भगवान् देव लोकों के हित की दृष्टि से मुझसे धर्म का यह गोप्य विषय कहे।

सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः ।
सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ॥११८॥

समाहित (एकाग्र) चित्त होकर सत् (शुभ कर्म) असत् (अशुभ कर्म) सभी अपने में देखे। उपरोक्त सभी पदार्थों को अपने में देखने वाला पुरुष अधर्म में मन नहीं लगाता है।

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥११९॥

सभी देवता आत्मा ही हैं, सम्पूर्ण जगत् आत्मा में अवस्थित है, इन शरीर-धारियों के कर्मयोग का निर्माण आत्मा ही करता है।

खं संनिवेशयेत्खेषु चेष्टनस्पर्शनेऽनिलम् ।
पंक्तिदृष्ट्योः परं तेजः स्नेहेऽपो गां च मूर्तिषु ॥१२०॥
मनसीन्दुं दिशः श्रोत्रे क्रान्ते विष्णुं बले हरम् ।
वाच्यग्निं मित्रमुत्सर्गे प्रजने च प्रजापतिम् ॥१२१॥

आकाश को आकाश (अपने शरीर के भीतर वाले आकाश में) में निवेशित करे। चेष्टा और स्पर्श में वायु को, पेट और नेत्र की अग्नि में परम तेज को, जल में जल को, (बाहर के जल को) पार्थिव भाग में पृथ्वी को, मन में चन्द्रमा को, कान में दिशाओं को, चरण में विष्णु को, बल में शंकर को, वाणी में अग्नि को, मित्र को मलद्वार में और जननेन्द्रिय में प्रजापति को लीन करे।

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥१२२॥

शासन करने वाला, सभी के अणुओं से अतिसूक्ष्म, सुवर्ण के समान कान्तिवाला, स्वप्नावस्था के बुद्धि से जानने योग्य है उस परम पुरुष को जाने।

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥१२३॥

इसी परम पुरुष को कोई अग्नि, कोई प्रजापति, मनु, कोई इन्द्र, कोई प्राण और कोई शास्वत (सनातन) ब्रह्म कहते हैं।

एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः ।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥१२४॥

वह (परमात्मा) सभी प्राणियों के भूतात्मक शरीर में व्याप्त होकर जन्म वृद्धि और विनाश के द्वारा नित्य चन्द्र की तरह घूमता है।

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ॥१२५॥

इस प्रकार जो मनुष्य सभी प्राणियों में आत्मरूप से अपने आपको देखता है । वह सब में समता को प्राप्त कर परम पद ब्रह्मत्व को पाता है।

इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन्द्विजः ।
भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद् गतिम् ॥१२६॥

भृगु के कहे हुये ऐसे मानव शास्त्र को पढकर द्विज नित्य आचारवान् होकर अपने अभीष्ट गति को पाता है।

इति द्वादश अध्याय समाप्त ।

हमारे यहाँ की प्रकाशित पुस्तकें एक बार मँगाकर अवश्य पढ़ें।

पुस्तक	मूल्य
श्रीसूक्त-पुरुषसूक्त भा०टी०	१५)
शिवपुराण भाषा ग्लेज	२००)
चाणक्यनीतिदर्पण भा०टी०	२०)
रामायण मध्यम भा०टी०	२५०)
रामायण मध्यम मूल दोहा चौपाई	७५)
वाल्मीकीय रामायण भाषा	२५०)
अध्यात्म रामायण भा०टी०	२००)
आनन्द रामायण भाषा	२००)
राधेश्याम रामायण	८०)
भृगुसंहिता भाषा	१५०)
प्रेमसागर	७५)
श्रीमद्भागवत महापुराण भा०टी० साँची	५००)
श्रीमद्देवीभागवत भा.टी. साँची	६००)
भागवत रहस्य श्रीडोगरे जी	२५०)
सुखसागर भाषा मध्यम	२००)
दुर्गार्चन-पद्धति भा०टी०	१००)
दुर्गासप्तशती भा०टी० सजिल्द (मोटे अक्षरों में)	६०)
दुर्गा सप्तशती भा०टी०	२५)
दुर्गा सप्तशती भाषा ग्लेज	२०)
दुर्गा सप्तशती ३२ पेजी मूल	२५)
दुर्गा सप्तशती ६४ पेजी मूल	२०)
दुर्गाकवच भा०टी०	८)
दुर्गाकवच ३२ पेजी मूल	५)
दुर्गा रामायण	१५)
मन्त्र-सागर भाषा टीका	७५)
बगलोपासनपद्धति-बगलामुखी-रहस्य भाषा टीका	४०)
दत्तात्रेय तन्त्र-भाषा टीका	२०)
उड्डीश तन्त्र भाषा टीका	२०)
रसराजमहोदधि पाँचों भाग	२००)
मानसागरी भा०टी०	१००)
जातकाभरण भाषा टीका	८०)
बृहज्ज्यौतिषसार भाषा टीका	७५)
ताजिक नीलकण्ठी भाषा टीका	७५)
कर्मविपाक संहिता भाषा टीका	७५)
चमत्कार चिन्तामणि भाषा टीका	८)
भावकुतूहल भाषा टीका	७५)
मुहूर्तचिन्तामणि भाषा टीका	६०)
लग्नचन्द्रिका भाषा टीका	४०)
घाघ-भड्डुरी की कहावतें भा०टी०	२५)
विश्वकर्मा प्रकाश भाषा टीका	७५)
स्त्री जातक भाषा टीका	३०)
शीघ्रबोध भाषा टीका	२०)
शिव स्वरोदय भाषा टीका	२०)
प्रभुविद्या प्रतिष्ठार्णव (सर्वदेव प्रतिष्ठा मयूख)	२५०)
कुण्ड निर्माण स्वाहाकार पद्धति	६०)
विष्णुयाग पद्धति भाषा टीका	२००)
विवाह पद्धति भाषा टीका	२५)
उपनयन पद्धति भाषा टीका	२५)
वाशिष्ठी हवन पद्धति भाषा टीका	२५)
गणपति प्रतिष्ठा पद्धति भाषा टीका	२५)
धनिष्ठादि पञ्चक शान्ति भा०टी०	२०)
संकष्टी गणेश चतुर्थी व्रत कथा भा.टी.	६०)
एकादशी माहात्म्य भाषा	१५)
कार्तिक माहात्म्य भाषा	१५)
कार्तिक माहात्म्य भाषा टीका	६०)
हनुमद्-रहस्य भाषा टीका	६०)
गायत्री-रहस्य भाषा टीका	६०)
बृहत्-स्तोत्र रत्नाकर बड़ा	१००)
रघुवंश महाकाव्य प्रथम सर्ग	१५)
हितोपदेश मित्रलाभ भाषा टीका	२०)
किरातार्जुनीयम् १-२ सर्ग भा०टी०	१५)
सोरठी बृजाभार ९६ भाग	७५)

प्रकाशक-श्री ठाकुर प्रसाद पुस्तक भण्डार

कचौड़ीगली, वाराणसी-२२१००१